हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ 'मङ्गलाप्रसाद पुरस्कार' से पुरस्कृत

गुप्त-साम्राज्य

का

इतिहास

[गुप्त साम्राज्य के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक इतिहास का प्रामाणिक साङ्गोपाङ्ग वर्णन]

प्रथम खण्ड

राजनैतिक इतिहास

लेखक

डा० वासुदेव उपाध्याय, एम० ए०, पी० एच० डी०

(मङ्गला प्रसाद पारितोषिक विजेता)

प्रोफेसर

प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति

पटना, विश्वविद्यालय

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, (पब्लिकेशंस) प्राइवेट लिमिटेड,

इलाहाबाद

द्वितीय संस्करण]   १९५७   [मूल्य ४)

प्रकाशक
वी० एन० माथुर
इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस), प्राइवेट लिमिटेड,
प्रयाग।

मुद्रक
अमलकुमार वसु,
इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, बनारस-ब्रांच

जिन्होंने मेरे जीवन की धारा बदल कर भारतीय
इतिहास तथा संस्कृति के प्रति मेरे हृदय में
नैसर्गिक प्रेम पैदा किया

और

जिनकी अनुकम्पा तथा शुभकामना से यह ग्रन्थ
समाप्त हो पाया

उन्हीं ज्येष्ठ भ्राता, हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर,
श्रद्धाभाजन साहित्याचार्य

पण्डित बलदेव उपाध्याय जी एम० ए०

के

करकमलों में यह कृति

सादर

समर्पित

है

—वासुदेव

प्रमाण—पत्र

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन

संवत् १९९६ का

मङ्गला प्रसाद पारितोषिक

[रु० १२००]

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के २८ वें
वार्षिक अधिवेशन पर

श्री वासुदेव उपाध्याय

को

उनकी रचना 'गुप्त साम्राज्य का इतिहास' के लिए

सादर दिया गया

पूना
२० पौष १९९७

सम्पूर्णानन्द
सभापति
२८ वाँ हिन्दी साहित्य
सम्मेलन
पूना

लेखक की अन्य प्रकाशित ग्रंथ

१—विजयनगर साम्राज्य का इतिहास
२— पूर्व मध्यकालीन भारत
३—भारतीय सिक्के
४—भारतीय गौरव
५—प्राचीन ग्राम व्यवस्था

(प्रेस में)

६—भारत की प्राचीन ऐतिहासिक प्रशस्तियाँ
७—भारतीय स्मृतियाँ
८—उपरला हिन्द

प्रकाशक का वक्तव्य

गुप्त साम्राज्य के इतिहास का द्वितीय संस्करण पाठकों के सामने उपस्थित है। यद्यपि यह ग्रंथ अनेक विश्वविद्यालयों की एम० ए० परीक्षा में पाठ्य पुस्तक के रूप में पढ़ा जाता है किन्तु इसके अतिरिक्त जनता ने भी इसका स्वागत किया है। शायद इतने विस्तृत रूप से इस वंश का इतिहास हिन्दी क्या अंग्रेजी में भी नहीं है। देश की स्वतंत्रता प्राप्ति तथा हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान मिलने के कारण इसकी उपयोगिता अधिकाधिक बढ़ती जायेगी।

इसमें आज तक के अनुसंधान तथा नए विचारों का समावेश यत्र तत्र किया गया है। आशा है हिन्दी जनता पहले की भाँति इसे अपनाएगी। भारतीय इतिहास को नए दृष्टिकोण से लिखने की ध्वनि चारों तरफ से सुनाई पड़ रही है। लेखक ने उन सभी पहलुओं पर विचार कर इसे प्रस्तुत किया है। पहला (राजनैतिक) भाग सांस्कृतिक इतिहास के समझने में पृष्ठभूमि का काम करेगा।

——

दो शब्द

प्राचीन भारत के इतिहास का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन अभी आरम्भ हुआ है। इस इतिहास के अध्ययन की सामग्री अभी तक मिलती ही जा रही है। कभी भूगर्भ के भीतर से निकले हुए प्रस्तरखण्ड किसी अज्ञातपूर्व तथ्य की सूचना देते हैं, तो कभी मुद्रा तथा ताम्र-पत्रों की उपलब्धि प्राचीन सिद्धान्तों में परिवर्तन करने के लिए हमें बाध्य करती हैं। इसके लिए अनेक विद्वज्जनों का साहाय्य अपेक्षित है, जो प्राचीन भारत के किसी एक काल का सर्वाङ्गीण इतिहास प्रस्तुत करें। इसी भावना से प्रेरित होकर लेखक ने गुप्त-साम्राज्य का यह इतिहास प्रस्तुत किया है। जहाँ तक हो सका है, उपलब्ध समग्र सामग्रियों का उपयोग यहाँ किया गया है। प्रतिष्ठित इतिहासकारों तथा विद्वानों के मत का उल्लेख तत्तत् स्थान पर किया गया है, किन्तु विना युक्तियुक्त हुए किसी भी मत का ग्रहण नहीं किया गया है। गुप्त-काल के प्रधान-प्रधान विषयों पर लेखक का अपना स्वतन्त्र मत है, जिसे उसने उन स्थानों पर उल्लिखित किया है।

भारतीय इतिहास में गुप्त-सम्राटों का काल सुवर्ण-युग के नाम से पुकारा जाता है। उस समय भारतीय-संस्कृति उच्च शिखर पर पहुँची थी। गुप्त-युग में भारतीय संस्कृति का पूर्ण विकास हो गया था। इसका बोलबाला न केवल भारत में था; बल्कि बृहत्तर भारत में भी इसका प्रचुर प्रचार था। इस काल में न केवल शिक्षा तथा न केवल साहित्य का विशद विस्तार हुआ प्रत्युत ललित-कला का भी विकास अभिराम रूप से हुआ। गुप्तों की शासन-प्रणाली आदर्श ढङ्ग की थी। ऐसे युग की कहानी हम भारतीयों के लिए नितान्त गौरव की कहानी है। पर अभी तक इस युग का इतिहास हिन्दी में पूर्णरूपेण लिपिबद्ध नहीं हुआ है। इस अभाव को दूर करने के विचार से प्रेरित होकर यह प्रयत्न किया गया है। यह अनेक वर्षों के सतत अध्ययन तथा अध्यवसाय का फल है। इसे सर्वाङ्गीण तथा प्रामाणिक बनाने में मैंने यथासाध्य परिश्रम किया है, पर इस कार्य में मुझे कितनी सफलता मिली है, उसे विज्ञ पाठक ही बतला सकेंगे। महाकवि कालिदास के शब्दों में मैं भी इस कार्य को तब तक सफल न समझूँगा जब तक विद्वानों का इस मेरी लघु कृति से परितोष न होगा—

आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥

× × × ×

अपना कथन समाप्त करने से पूर्व मैं उन सज्जनों को धन्यवाद देना पवित्र कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने मुझे इस कार्य में सहायता पहुँचाई है। सर्वप्रथम मैं अपने ज्येष्ठ भ्राता प्रोफ़ेसर बलदेव उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य का अत्यन्त आभार मानता हूँ जिन्होंने मेरे हृदय में भारतीत इतिहास तथा संस्कृति के प्रति नैसर्गिक प्रेम पैदा कर मेरे जीवन की धारा को बदल दिया है। डा० ए० एस० अलटेकर एम० ए० डि० लिट् तथा डा० रमाशंकर त्रिपाठी का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिन्होंने समय-समय पर अपनी अमूल्य सम्मतियों से मेरे उत्साह को बढ़ाया है। पुरातत्त्व विभाग के डाइरेक्टर जेनेरल, प्रान्तीय संग्रहालय तथा मथुरा संग्रहालय के अध्यक्ष मेरे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने आवश्यक फोटो छापने की अनुमति देकर मेरे कार्य को सुगम बना दिया। कलाविद् राय कृष्णादासजी तथा डाक्टर मोतीचन्द एम० ए०, पी०-एच० डी० डाइरेक्टर प्रिन्स आफ़ वेल्स म्यूज़ियम बम्बई का आभार मानता हूँ जो मुझे सम्मति तथा उत्साह देकर इस कार्य को सफल बनाने में सदैव प्रयत्नशील रहे। इस ग्रन्थ की विस्तृत विषय-सूची तथा अनुक्रमणिका मेरे अनुज, डाक्टर श्रीकृष्णदेव उपाध्याय ने तैयार की है। इसके लिए वे मेरे आशीर्वाद के भाजन हैं। इण्डियन प्रेस के मालिक को भी मैं धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिनकी कृपा से यह ग्रन्थ इतनी जल्दी छपकर तैयार हो सका। अन्त में, मैं अपने परम हितैषी श्रद्धेय पण्डित श्रीनारायणजी चतुर्वेदी एम० ए० (लण्डन), को कैसे भूल सकता हूँ जिनकी शुभ-कामना से ही मैं इस कार्य को समाप्त कर सका हूँ। इसके लिए मैं उनका आजीवन ऋणी रहूँगा।

श्रावणी
पूर्णिमा १९९६ } **वासुदेव उपध्याय**

———

विषय-सूची

सहायक-ग्रन्थों की सूची

१ ब्राह्मण ग्रंथः—पुराण-विष्णु, अग्नि, भविष्य, वायु
धर्मशास्त्र-गौतम, वशिष्ठ
स्मृति—मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति स्मृतिनां समुच्चय

२ संस्कृत ग्रंथ—कालिदास, रघुवंश, मालविकाग्निमित्र,
बाण—हर्षचरित तथा कादम्बरी
वराहमिहिर—बृहत्संहिता
विशाखदत्त—देवी चन्द्रगुप्तम्

३ मुसलिम—किताबुल हिन्द—अलबेरूनी (साचु सम्पादित)
किताव फुतुह—अलबिलादुरी (अंग्रेजी अनुवाद-हिंदी)
इलियट—हिस्ट्री आफ इंडिया एज होल्ड बाईहिस्टोरियन

४ चीनी—बील—सियुकी—बुधिस्टरेकर्ड आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड
गिल—ट्रेवेल आफ फाहियान
वाटर—आन युवाग च्वांग

५ लेख तथा सिक्के—ऐयर—साइथ इंडियन इन्सक्रुपशन
भण्डारकर—लिस्ट आफ इन्सक्रुपशन आफ नार्थ इंडिया
फ्लीट—कारपस इन्सक्रु० इंडिकेरम भा० ३
सेवेल तथा कृष्णस्वामी—हिस्टारिकल इन्सक्रुपशानस आफ साउथ इंडिया
सरकार—सेलेक्ट इन्सक्रुपशन भा० १
अलन—कैटलाग आफ क्वायन्स आफ गुप्त डाइनेस्टी
अलतेकर—गुप्तकालीन मुद्राएँ
ब्राउन—कैटलाग आफ क्वायन्स गुप्त मौखरि इन लखनऊ म्यूजियम
उपाध्याय वासुदेव—भारतीय सिक्के इप्रिग्राफिका इंडिका—भा० १-२८ तक

६ आधुनिक ऐतिहासिक ग्रंथ—कृष्णस्वामी—ऐंसेंट इंडिया भा० २
वसाक—हिस्ट्री आफ नार्थ इस्टर्न इंडिया
भण्डारकर—ए पीय इन टु दि अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया
जायसवाल—हिस्ट्री आफ इंडिया १५०-३५० ई०
अलतेकर तथा मजुमदार—ए न्यू हिस्ट्री आफ इंडियन पिपुल
रे० एच-सी—डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दन इंडिया
वैद्य—हिस्ट्री आफ मिडियल इंडिया ३ भाग
बैनर्जी आर० डी०—दि एज आफ इम्पीरियल गुप्त
सिन्हा वी० पी०—डिक्लाइन आफ मगध

त्रिपाठी आर० एस०—हिस्ट्री आफ एँसेंट इंडिया
त्रिपाठी—हिस्ट्री आफ कन्नौज
मेहता—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य
मुकुर्जी—दि गुप्त इम्पायर
सैलेतोर—लाइफ इन गुप्त एज
राय चौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री
जरनलस एपिग्राफिका इंडिका
इंडियन कलचर
जरनल आफ विहार रिसर्च सोसाइटी
इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली
जरनल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी इंडिया
जरनल आफ बाम्बे ब्रांच आफ रायल एसियाटिक सोसाइटी
जरनल आफ रायल एसियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल
जरनल आफ यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी

गुप्त-इतिहास की सामग्री

आधुनिक काल में भारत का प्राचीन इतिहास क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध नहीं होता। इससे पाश्चात्य विद्वान् यह अनुमान निकालते हैं कि प्राचीन समय में भारतीय लोग इतिहास की ओर अभिरुचि नहीं रखते थे ; उनका यह अनुमान नितांत सारहीन है। प्राचीन भारतीय मुख्यतः पारलौकिक विषयों के चिंतन में संलग्न रहते थे फिर भी इतिहास के ज्ञान से वंचित नहीं थे। प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से यह विदित होता है कि भारत के लोग अपने देश की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को क्रमबद्ध लिखने की महत्ता को समझते थे। भारतीय साहित्य में इतिहास को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। हमारे ऋषियों ने प्राचीन विद्याओं में इतिहास की भी गणना की है। अथर्व वेद (१५।६।१०) में इतिहास, पुराण तथा नाराशंसि गाथा का उल्लेख मिलता है जिससे प्रकट होता है कि वैदिककालीन आर्य लोग भी भारतीय ऐतिहासिक वृत्तांतों से अनभिज्ञ तथा उदासीन नहीं थे। छान्दोग्य उपनिषद् में इतिहास को पंचम वेद माना गया है*। महाभारत में इतिहास के पठन-पाठन की विशेषता पर विचार किया गया है, क्योंकि इतिहास के अर्थ को समझे बिना वेदार्थ गम्य नहीं हो सकता†। अर्थशास्त्र में आचार्य चाणक्य ने राजाओं की दैनिक दिनचर्य्या में इतिहास के श्रवण को उपयोगी बतलाया है‡। इन उल्लेखों से यह प्रकट है कि भारतीय आर्य इतिहास की उपयोगिता से सर्वथा परिचित थे।

यद्यपि प्राचीन भारतीय इतिहास लेखबद्ध नहीं मिलता है तथापि तत्कालीन बिखरी हुई सामग्रियों को एकत्र कर सुंदर इतिहास का रूप दिया गया है। इनकी सहायता तथा पुरातत्त्व-विषयक सामग्रियों की अमूल्य उपयोगिता के कारण प्राचीन इतिहास को सुगम रूप से लेखबद्ध करने का प्रयत्न हो रहा है। गुप्त-इतिहास से सम्बन्धित बहुत सी प्राचीन सामग्री उपलब्ध है जो पाँच भागों में विभाजित की जा सकती है:—

(१) उत्कीर्ण-लेख। (२) मुद्रा। (३) शिल्प-शास्त्र। (४) साहित्य। (५) यात्रा-विवरण। इनका वर्णन क्रमशः संक्षेप में नीचे किया जा रहा है।

---

*इतिहासः पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते। छा० उ० ७।१।२

†इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। महाभारत १।१।३

‡पश्चिममितिं श्रवणे। १।५।१३।

१—उत्कीर्ण-लेख

भारतीय इतिहास की मूल्यवान् तथा महत्त्वपूर्ण सामग्रियों में उत्कीर्ण-लेखों का स्थान सर्वोपरि है। गुप्त-इतिहास का सबसे अधिक ज्ञान इन्हीं लेखों से होता है तथा इस काल का ज्ञान विशेषतया लेखों के अनुशीलन पर ही निर्भर है। प्रायः प्रत्येक राजा के राज्य-काल का कई एक लेख प्राप्त हैं जिनसे गुप्त-इतिहास के निर्माण में सहायता मिलती है। गुप्त-लेख शिला, स्तम्भ तथा ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण मिलते हैं। हरएक लेख में प्रशस्ति-लेखक शासक तथा उसकी पूर्व वंशावली का उल्लेख करता है। शासक के विशिष्ट तथा कीर्ति-वर्द्धक कार्य्यों की प्रशंसा ललित तथा सुंदर शब्दों में किया गया है। कवि हरिषेण ने प्रयाग के लेख में समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वर्णन करते हुए उसकी दानशीलता, पाण्डित्य आदि गुणों के साथ साथ उसके वंश का भी वर्णत्र किया है। भितरी के लेख में प्रशस्तिकार ने स्कन्दगुप्त द्वारा आततायी हूणों के पराजय का सुंदर वर्णन किया है। इसके सिवाय गुप्त-लेखों से शासन-प्रणाली का भी सविस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है। दामोदरपुर (उत्तरी बंगाल) के ताम्रपत्र और वैशाली से मिली हुई मुहरों (Seals) के आधार पर गुप्त-कालीन शासन-पद्धति का पर्याप्त परिचय मिलता है। उत्कीर्ण लेखों के मंगलाचरण-श्लोकों, खुदे हुए चिह्नों तथा कतिपय उल्लिखित उद्धरणों से तत्कालीन धार्मिक विचारधारा का अनुमान किया जाता है। लेखों के प्राप्तिस्थान से गुप्त-साम्राज्य के विस्तार का पता लगता है। गुप्तों के उत्कर्ष-काल या अवनति-काल में लेखों के आधार पर ही राज्य-सीमा निश्चित की जाती है। यदि लेखों का आश्रय न लिया जाय तो राज्य-विस्तार का अनुमान असम्भव हो जाय। लेखों में उल्लिखित तिथियों के सहारे गुप्त सम्राटों का तिथि-क्रम निर्धारित करने में बहुत सरलता होती है। गुप्त-लेखों के अनुशीलन से तत्कालीन सामाजिक अवस्था का दिग्दर्शन किया गया है। इन लेखों से गुप्तकालीन संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखने में कम सहायता नहीं मिलती। प्रयाग प्रशस्ति के लेखक हरिषेण और मंदसोर के प्रशस्तिकार वत्सभट्टि का नाम संस्कृत-साहित्य में नहीं मिलता; परन्तु इन्हीं लेखों के कारण इनकी गणना कवियों में होती है। इन कारणों से गुप्त-इतिहास के निर्माण में लेखों को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है।

२—मुद्रा

ऐतिहासिक सामग्रियों में उत्कीर्ण लेखों के पश्चात् मुद्रा का स्थान आता है। मुद्रा तथा इसकी कला ने गुप्त-इतिहास के निर्माण में महती सहायता पहुँचायी है। भारतीय इतिहास के कितने ही काल-विभाग ऐसे हैं जिनके अस्तित्व का ज्ञान हमें तत्कालीन मुद्राओं से प्राप्त हुआ है। यदि इसकी सहायता की उपेक्षा की जाय तो भारतीय यूनानी राजाओं का सम्पूर्ण इतिहास ही लुप्त हो जाय। मुद्रा की उत्पत्ति व्यापार के लिए हुई; अतएव काल-विशेष में मुद्रा कला के विकास से तत्कालीन व्यापारिक उन्नति का ज्ञान हमें मिलता है। गुप्त-काल में सिक्कों की अधिकता के कारण यह विदित होता है कि उस समय में व्यापार की बड़ी वृद्धि थी। सोने के सिक्कों की बहुलता तथा चाँदी के सिक्कों की अल्पसंख्यता से यह प्रकट होता है कि गुप्तों के समय में सोना सरलता से प्राप्य था। गुप्तकालीन मुद्राओं पर कुषाणों के सिक्कों की छाप दिखलाई पड़ती है। अतएव गुप्तों

तथा कुषाणों के समीपवर्ती होने की सूचना इनके सिक्कों की समता से मिलती है। उत्कीर्ण लेखों की तरह मुद्रा के प्राप्तिस्थान भी कई अंशों में गुप्त साम्राज्य की सीमा निर्धारित करते हैं। इन सिक्कों की परीक्षा से गुप्त-काल के विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाओं की सूचना भी हमें निश्चित रूप से मिलती है। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त तथा प्रथम कुमारगुप्त के 'अश्वमेध सिक्के' इनके द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ के स्मारक हैं। गुप्तों के चाँदी के सिक्के शक क्षत्रपों की शैली के मिलते हैं जिनसे यह अनुमान किया जाता है कि गुप्तों ने मालवा तथा गुजरात से इन शासकों को मार भगाया तथा इन देशों पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराई। इन्हीं कारणों से गुप्त-साम्राज्य के इतिहास-निर्माण में मुद्राओं की उपयोगिता का अनुमान किया जा सकता है।

३—शिल्प-शास्त्र

किसी जाति की सांस्कृतिक उन्नति का ज्ञान उसकी कला के अध्ययन से सहज में किया जा सकता है। गुप्त-काल में शिल्प का विकास अधिक परिमाण में पाया जाता है जिससे उस काल को 'स्वर्ण-युग' का नाम दिया गया है। गुप्तकालीन प्रस्तर-कला उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गई थी। इतनी सुंदर और भव्य मूर्तियाँ इस समय में बनीं कि उनकी समता अन्यत्र नहीं पाई जाती। शिल्प के द्वारा गुप्त-कालीन धार्मिक अवस्था का अच्छा ज्ञान होता है। गुप्त राजा वैष्णवधर्मावलम्बी थे अतएव स्वभावतः उन्होंने हिन्दू मूर्तियों के बनाने में प्रोत्साहन दिया; परन्तु बौद्ध तथा जैन प्रतिमाओं का सर्वथा अभाव न था। इसी समय में निर्मित बुद्ध की भव्य मूर्ति मिली है। अन्य बौद्ध तथा जैन मूर्तियाँ लेखसहित मिली हैं जिनसे बौद्ध और जैन धर्म के प्रचार की पुष्टि होती है। मूर्तियों के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि गुप्त-काल से पूर्व ब्राह्मण धर्म का इतना प्रचार नहीं था परन्तु गुप्त राजाओं के कारण ही ब्राह्मण धर्म की उन्नति और वृद्धि हुई। मूर्तियों के सहारे गुप्तकालीन प्रस्तर कला के विभिन्न केन्द्रों की विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। शिखर शैली के मंदिरों का प्रचुर प्रचार इसी काल में हुआ। इस प्रकार शिल्प-शास्त्र की सहायता से गुप्तों की संस्कृति, समकालीन धार्मिक अवस्था तथा कला-कौशल के विशद विकास का पर्याप्त परिचय मिलता है।

४—साहित्य

(१) संस्कृत-साहित्य से गुप्त-इतिहास के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिलती है। ऐतिहासिक सामग्रियों में इसका स्थान कम महत्त्व का नहीं है। एक समय था जब पुराणों के ऊपर ऐतिहासिकों को आस्था नहीं थी। वे इन्हें अस्त व्यस्त गल्पों से अधिक महत्त्व नहीं देते थे परन्तु अब इनका अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से प्रारम्भ हो गया है। पुराणों में पुरानी वंशावली अविकल रूप में दी गई है।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च, वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव, पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

पुराण के इस लक्षण के अनुसार प्राचीन वंशों का वर्णन उनका प्रधान तथा परम

आवश्यक भाग है। प्रायः सभी पुराणों में वंशावलियाँ उपलब्ध होती हैं। परन्तु गुप्त-इतिहास पर ब्रह्माण्ड, वायु तथा विष्णु पुराण से विशेष प्रकाश पड़ता है। इन पुराणों से गुप्तों के पूर्ववर्ती नाग तथा वाकाटक राजाओं एवं गुप्तों की प्रारम्भिक राजनैतिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण में गुप्त-राज्य की सीमा तथा गुप्त-वंशज सम्राटों के राज्य-विस्तार का उल्लेख पाया जाता है। पुराणों में अन्य आवश्यक सामग्रियों की भी प्रचुर उपलब्धि होती है। ऐसी अवस्था में गुप्त-साम्राज्य के इतिहास-निर्माण में पुराणों की सहायता निर्विवाद सिद्ध है।

(२) गुप्तकालीन महाकवि कालिदास के ग्रन्थों से भी अनेक ऐतिहासिक साधन उपलब्ध होते हैं। इनके 'रघुवंश' तथा 'शाकुन्तल' से विशेष रूप से गुप्त इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। साहित्यिक भाण्डार के अमूल्य रत्न होने के अतिरिक्त ये ग्रन्थ तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त करने में अत्यधिक सहायता करते हैं।

(क) 'रघुवंश' में महाकवि कालिदास ने सुन्दर तथा ललित शब्दों में रघु के दिग्विजय का वर्णन किया है। महाराज रघु ने समस्त भारत पर विजय प्राप्त कर ताम्रपर्णी तक अपना प्रभाव फैलाया था। इतना ही नहीं, भारत के बाहर भी आक्सस (वंक्षु) नदी तक रघु का प्रताप फैला था। ऐतिहासिक पण्डितों का अनुमान है कि 'रघुवंश' में वर्णित रघु का दिग्विजय प्रयाग की प्रशस्ति में वर्णित महाराज गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के दिग्विजय को लक्षित कर रहा है। इस ग्रन्थ के अन्य भाग से भी तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति का हमें प्रचुर ज्ञान प्राप्त होता है।

(ख) महाकवि कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुन्तल' केवल सहृदय साहित्य-रसिकों के गले का हार ही नहीं है बल्कि इसके अतिरिक्त इसमें गुप्तकालीन व्यवहार की प्रचुर सामग्री भी उपलब्ध होती है। इससे एक आदर्श हिन्दू राजा के कर्तव्य तथा दायभाग का परिचय प्राप्त होता है। 'शाकुन्तल' में वर्णित राजा ने जहाज के डूबने से मर जानेवाले संतान-हीन सामुद्रिक व्यापारी के धन के विभाग की जो व्यवस्था की है वह तत्कालीन सामाजिक स्थिति को समझने में पर्याप्त सहायता दे रही है। तत्कालीन अन्य सामाजिक स्थिति के परिज्ञान कराने में कालिदास के ये दोनों अमूल्य ग्रन्थ हमारी विशेष सहायता करते हैं।

(३) गुप्तकालीन सामाजिक अवस्था को समझने के लिए शूद्रक कृत मृच्छ-कटिक नाटक से भी अधिक सहायता मिलती है। वसंतसेना के विशाल प्रासाद के वर्णन से उज्जयिनी के वैभव तथा तत्कालीन आर्थिक स्थिति का अनुभव किया जा सकता है। ग्रन्थ की अंतरंग परीक्षा से राज्य-शासन का परिज्ञान होता है। पुलिस का कितना अच्छा प्रबन्ध था; न्यायालयों में समुचित रूप से दण्ड-विधान होता था तथा दण्ड-विधान के निमित्त मनुस्मृति का विशेष आदर था आदि बातों से गुप्तों के सामाजिक इतिहास का ज्ञान सरलता से उपलब्ध होता है।

(४) कौमुदी-महोत्सव—इस नाम का एक नाटक अभी हाल ही में दक्षिण भारत से मिला है। इस नाटक के द्वारा गुप्तों के प्रारम्भिक इतिहास पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। इस नाटक की लेखिका एक विदुषी थी। इस नाटक का अभिनय राजद्रोही चण्डसेन पर विजय के उपलक्ष्य में किया गया था। इस नाटक के चतुर्थाङ्क में मगध के क्षत्रिय शासक सुन्दरवर्मन् के नाम का उल्लेख मिलता है जिसने संतानहीन होने के कारण चण्डसेन नामक व्यक्ति को गोद

लिया था। कुछ काल पश्चात् सुन्दरवर्मन् को कीर्तिवर्मन् नामक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। इस पुत्र के उत्पन्न होने के कारण चण्डसेन का राज्याधिकार जाता रहा और इस कारण उसने राजद्रोह करने का निश्चय किया। सुन्दरवर्मन् के विरोधी होने के कारण चण्डसेन ने मगध-कुल के शत्रु लिच्छवियों से मित्रता स्थापित की और सुन्दरवर्मन् को मार डाला। राजा की हत्या के फलस्वरूप चण्डसेन राजा बन बैठा। सुन्दरवर्मन् का मन्त्री मन्त्रगुप्त राजकुमार को लेकर विन्ध्य के पर्वतों में जा छिपा तथा वहीं से चण्डसेन पर विजयी होने का प्रयत्न करने लगा। कालान्तर में मन्त्रगुप्त ने चण्डसेन को परास्त कर कीर्तिवर्मन् को राजसिंहासन पर बैठाया। इस चण्डसेन की समता श्री जायसवाल महोदय प्रथम चन्द्रगुप्त से करते हैं। इस नाटक से प्रथम चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक जीवन का पता चलता है।

(५) वात्स्यायन का कामसूत्र—संस्कृत साहित्य में कामसूत्र एक विशेष स्थान रखता है। इसकी रचना गुप्तकालीन होने के कारण तत्कालीन सामाजिक इतिहास का अमूल्य भाण्डार इस ग्रन्थरत्न में भरा पड़ा है। महर्षि वात्स्यायन ने मनुष्यों के समस्त सामाजिक जीवनवृत्त का समावेश कामसूत्र में किया है। जनता के आचार-विचार, भोजन-वस्त्र, आभूषण तथा अन्य सुख की सामग्रियों का वर्णन प्रचुर परिमाण में इस ग्रंथ में मिलता है। आहार-विहार का वर्णन करते हुए महर्षि वात्स्यायन ने मनुष्य-जीवन-संबंधी अन्य बातों पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रकार गुप्तकालीन सामाजिक अवस्था का परिज्ञान हमें कामसूत्र से प्राप्त होता है।

(६) आर्य मञ्जुश्रीमूलकल्प—यह एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है जो विद्वानों के सामने आधुनिक काल में प्रकाश में आया है। यह एक बौद्ध ग्रन्थ है, इस ग्रन्थ-रत्न के विद्वान् कर्त्ता ने भविष्य में होनेवाले मञ्जुश्री बुद्ध का विशद वर्णन करते हुए समस्त भारत के प्राचीन इतिहास का भी सुन्दर रीति से परिचय दिया है। ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी के शासक बिम्बसार से लेकर मौर्य्य, गुप्त आदि राजाओं का वर्णन करते हुए दसवीं शताब्दी के शासक पाल राजाओं का भी इसमें उल्लेख मिलता है। यदि अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में भी इस प्रकार का विशद ऐतिहासिक वर्णन मिले तो भारतीय इतिहास का निर्माण अत्यन्त सुलभ हो जाय।

(७) वसुबन्धु की जीवनी—ऐतिहासिक ग्रन्थों की श्रेणी में परमार्थ कृत 'वसुबन्धु का जीवनवृत्त' भी रक्खा जा सकता है। वसुबन्धु एक बौद्ध विद्वान् था जिसके द्वारा अयोध्या के शासक गुप्त राजा विक्रमादित्य के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने का वर्णन मिलता है। इस अयोध्या के राजा ने अपने गुरु के समीप अपने पुत्र को विद्योपार्जन के लिए भेजा था। विद्वानों में अयोध्या के राजा विक्रमादित्य तथा उसके पुत्र बालादित्य का गुप्त राजाओं के साथ एकीकरण में मतभेद है परन्तु यह निर्विवाद सिद्ध है कि अयोध्या के राजा गुप्त शासक थे।

५—यात्रा-विवरण

भारतीय इतिहास के निर्माण में विदेशियों के यात्रा-विवरण का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुप्त-काल के इतिहास-निर्माण में विदेशियों के इन यात्रा-विवरणों से भी हम अनेक अंशों में सहायता प्राप्त करते हैं। इन विदेशी यात्रियों में से एक ही यात्री ऐसा था जो

गुप्तों के उत्कर्ष-काल में आया था। दो यात्री मागध गुप्तों (अवनति काल में) के समय में आये तथा चौथा यात्री यवन काल के प्रारम्भ में आया था। इन सब यात्रियों के यात्रा-विवरणों से अनेक नई-नई बातों का पता चलता है तथा शिलालेख और मुद्राशास्त्र के द्वारा निर्मित ऐतिहासिक तथ्यों की पर्याप्त मात्रा में पुष्टि होती है।

(१) गुप्तों के उत्कर्ष-काल में सुप्रसिद्ध बौद्ध चीनी यात्री फाहियान ने समस्त भारत की यात्रा की थी जिसका महत्त्वपूर्ण विवरण हम लोगों को उसके लिखे ग्रन्थ से प्राप्त होता है। यद्यपि इस चीनी यात्री ने उस समय के गुप्त शासक का नामोल्लेख नहीं किया है परन्तु इसने अन्य समस्त भारतीय विषयों पर प्रकाश डाला है। इसकी निर्विघ्न यात्रा की पूर्ति से गुप्त-कालीन शान्ति-पथ, आदर्श न्याय तथा सुव्यवस्थित शासन का परिचय मिलता है। तत्कालीन मनुष्यों के रहन-सहन, भोजन-वस्त्र तथा धार्मिक भावों का वर्णन सुन्दर रीति से फाहियान ने किया है। मनुष्यों के आचार तथा परोपकार के कार्य भी अच्छी तरह से उल्लिखित हैं।

(२) फाहियान के बाद सातवीं शताब्दी में ह्वेन्साङ्ग नामक दूसरा बौद्ध चीनी यात्री आया था। उस समय कन्नौज में हर्ष राज्य करता था जिसके समय में इस यात्री ने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। यद्यपि ह्वेन्साङ्ग ने तत्कालीन परिस्थिति का ही वर्णन किया है परन्तु उसके विवरण से हर्ष के पूर्व के गुप्त राजाओं के विषय में भी हमें कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। महाराज हर्षवर्धन के समकालीन पिछले गुप्त नरेश यत्र तत्र राज्य कर रहे थे। इन लोगों के शासन का विवरण हमें इसी चीनी यात्री के यात्रा-विवरण से मिलता है। उस समय नालन्दा विश्वविद्यालय की प्रसिद्धि थी। उस संसार-प्रसिद्ध विश्वविद्यालय के निर्माण में किस गुप्त नरेश ने सहायता पहुचाई थी, उसकी सूचना कुछ यात्रा विवरण से मिल जाती है। अतः गुप्त-साम्राज्य के इतिहास निर्माण में चीनी यात्री के यात्रा विवरण का कम महत्त्व नहीं है।

(३) उसी शताब्दी में इत्सिङ्ग नामक चीनी यात्री भी भारत-भ्रमण के लिए आया था। वह उस समय में यात्रा करते हुए तत्कालीन परिस्थिति से अवश्य परिचित होगा। अतः उसके विवरण से जो कुछ आवश्यक ऐतिहासिक सामग्री हमको उपलब्ध होती है वह विश्वसनीय है। उसने गुप्त वंश के राजा चेलिकेतो के मृग-शिखावन में निर्मित मन्दिर का उल्लेख किया है। चेलिकेतो की समता गुप्तवंश के आदि पुरुष 'गुप्त' से की जाती है।

(४) दशवीं शताब्दी में एलबेरुनी नामक मुसलमान यात्री भारत-भ्रमण के लिए आया। वह संस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित था तथा ज्योतिष और गणित शास्त्र का अद्वितीय विद्वान् था। भारत में भ्रमण कर उसने भी अपनी यात्रा का सविस्तर विवरण लिखा है।

यद्यपि इस यात्रा-विवरण में गुप्तकालीन राजाओं के शासन आदि का वर्णन नहीं है परन्तु अन्य भारतीय वस्तुओं का वर्णन करते हुए इसने गुप्तकालीन यत्किञ्चित् विवरणों का उल्लेख कर ही दिया है। इसने अपने विवरण में गुप्तसंवत् का उल्लेख किया है। अतः गुप्त सम्वत् की प्राचीनता तथा यह संवत् किस वर्ष से चला, इस विषय पर इसके वर्णन से

प्रचुर प्रकाश पड़ता है। अतएव एलबेरुनी का विवरण भी हमारे लिए कुछ कम महत्त्व का नहीं है।

गुप्त-साम्राज्य के निर्माण में जिन जिन ऐतिहासिक सामग्रियों की उपलब्धि हुई है वे आपस में एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। जो बात हमें शिलालेखों से मालूम होती है उसकी सम्यक् पुष्टि सिक्के तथा यात्रा-विवरण से होती है। एक सिक्के की उपलब्धि से हम जिस नतीजे पर पहुँचते, ठीक उसी परिणाम को हम तत्कालीन शिलालेख के अध्ययन से प्राप्त करते हैं। शिलालेखों के वर्णन तथा चीनी यात्रियों के विवरण में विचित्र समानता पाई जाती है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। कहीं भी किसी वर्णन में असम्बद्धता का नाम भी नहीं है। अतः ऊपर जिन ऐतिहासिक सामग्रियों का वर्णन किया है वे अत्यन्त ही उपयोगी हैं। इन्हीं ऐतिहासिक सामग्रियों के आधार पर अगले पृष्ठों में गुप्त-साम्राज्य का इतिहास उपस्थित करने का प्रयत्न किया जायेगा।

———

गुप्त-पूर्व भारत

गुप्त साम्राज्य का उदय मगध के समीपवर्ती प्रदेशों में हुआ था और क्रमशः उसका विकास होता गया। अतएव इनसे पूर्व मगध के इतिहास पर संक्षेप में विचार करना युक्तिसंगत होगा। भारत के प्राचीन भौगोलिक अवस्था पर ध्यान देने से यह ज्ञात होता है कि दक्षिण विहार प्रदेश के पटना तथा गया जिलों को मगध कहा जाता था। बुद्ध के समय में भी मगध का यही विस्तार था जिसके उत्तर में गंगा तथा पश्चिम में सोन नदी बहती थी। पूरब में अंग का भाग स्थित था और दक्षिण में छोटानागपुर के जंगल वर्तमान थे। ई० पू० सातवीं सदी में उत्तरी भारत में अनेक स्वतंत्र राज्य थे पर कोई शक्तिशाली सम्राट् नहीं था। साहित्यिक आधार पर षोड़श जानपदों की स्थिति का परिज्ञान किया जाता है जिसमें कुछ राजतंत्र तथा प्रजातंत्र प्रणाली के शासन थे। उस सदी में चार प्रधान राज्यों (कोशल, वत्स, अवन्ति तथा मगध) में मगध मुख्य समझा जाता था। महाभारत में वर्णित पांचाल, काशी, मत्स्य आदि राज्य भी वर्तमान थे। प्रजातंत्र शासन में वृज्जिसंघ प्रधान था जिसमें लिच्छवि जाति महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। इस युग में पारस्परिक युद्ध के फलस्वरूप एक राज्य दूसरे को हड़पना चाहता था। मगध के शासक साम्राज्य की भावना से प्रेरित होकर अन्य राज्यों को जीतने लगे। बुद्ध के समकालीन मगध राजा बिम्बिसार ने अंग को जीत लिया और उसके पुत्र अजातशत्रु ने वैशाली के लिच्छवि को पराजित कर संघ के प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार मगध* का राज्य क्रमशः विस्तृत होने लगा और उत्तरी भारत में सबसे प्रमुख राज्य हो गया। बौद्ध साहित्य के आधार पर यह कहा जाता है कि अजातशत्रु के उत्तराधिकारियों से जनता तंग आ

---

*मगध की सीमा सदा एक-सी नहीं रही। डा० हरप्रसाद शास्त्री चुनार तक इसकी सीमा निर्धारित करते हैं और ब्राह्मण साहित्य के कीकट को मगध ही मानते हैं। अधिकतर विद्वान सोन नदी को ही मगध की पश्चिमी सीमा मानते हैं। रीजडेविस उत्तर में गंगा, पूरब में चम्पा, पश्चिम में सोन नदी तथा दक्षिण में विन्ध्या तक मगध को विस्तृत मानते हैं। पिछले गुप्त नरेश जीवित गुप्त के देव वरनाक लेख से ज्ञात होता है कि वह स्थान (आरा से २५ मील दूर) नगर (पाटलिपुत्र) भुक्ति में सम्मिलित था। अतः मगध में पटना, गया, शाहाबाद तथा मूंगेर के जिले सम्मिलित माने जाते हैं।

गयी थी इसलिये शिशुनाग को अपना राजा चुना। पुराणों में शिशुनाग उस वंश का आदि पुरुष था जिस वंश में बिम्बिसार पैदा हुआ था। शिशुनाग के अंतिम राजा कालाशोक को महापद्मनंद (नीच जाति का व्यक्ति) ने मार डाला। वह एक प्रतापी राजा हुआ जिसने कौशाम्बी, कोशल तथा अवन्ति को जीत कर अपना प्रभाव विस्तृत किया था। पुराणों में वह एक राट् कहा गया है जिसके कोष में असंख्य तथा असीम धन वर्तमान था। उस कोप से उसका राज्य समृद्धशाली तथा सुव्यवस्थित हो गया। व्यवसाय तथा व्यापार के चमकने का खूब अवसर मिला। संस्कृत व्याकरण काशिका में नंदोक्रमाणि मानानि (२।४।२१) का उल्लेख मिलता है जिससे प्रकट होता है कि माप-तौल का समुचित क्रम नंदों के समय से चलाया गया था। नंद-वंश के समय से ही एक राट् की विचारधारा भारत में आई और पुराने राज्यों को मिलाने का प्रयत्न भी होने लगा था।

नंद राजाओं के समय में यूनानी राजा (मक्दूनिया नरेश) सिकन्दर ने ई० पू० ३२७ में भारत पर आक्रमण किया था। व्यास नदी तक का प्रदेश जीतकर जब वह गंगाकोटे में पहुँचा तो नन्द की सैनिक शक्ति का हाल सुनकर उसकी सेना घबरा गयी, इस कारण उसे उलटे पाँव लौटना पड़ा। यह पहला विदेशी आक्रमण नहीं था किन्तु इससे भी पूर्व (ई० पू० ५२२-४८६) दारा ने भारतीय प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था। दारा के दो लेखों में हिन्दू उसके राज्य के अंग वर्णित किये गये हैं। सिकन्दर को तक्षशिला के राजा से सहायता मिली थी परन्तु अनेक पंजाब के राज्य तथा संघों ने घोर विरोध किया था। उन विरोधी शासकों में पौरव [यूनानी लेखकों ने पोरस लिखा है] का नाम सभी जानते हैं। यूनानियों के लिए सिकन्दर का विजय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी किन्तु हमारे लिये उसकी विशेषता दूसरे पक्ष से ज्ञात होती है। इस यूनानी आक्रमण से भारत तथा पश्चिमी एशिया व योरप में आवागमन आरम्भ हो गया, जो भारत के लिये एक नयी घटना थी।

विदेशी-आक्रमण

सिकन्दर की मृत्यु पश्चात् विद्रोही युवक चन्द्रगुप्त ने पूर्वी पंजाब में ही सेना एकत्रित कर मगध पर आक्रमण किया और भयानक युद्ध के बाद ई० पू० ३२२ में नंदवंश को समूल नष्ट कर डाला। इसी युग से मगध का साम्राज्य वास्तविक रूप में स्थापित हुआ और चन्द्रगुप्त साम्राज्य-स्थापना के विचारों का पोषक भी था। यूनानी सेनापति सिल्यूकस के परास्त हो जाने पर चन्द्रगुप्त का प्रभाव और भी फैल गया। उसके ही शासन-काल में मौर्य सेना ने सुदूर दक्षिण के प्रदेशों पर विजय पायी थी। इस प्रकार उत्तर-पश्चिम में हिरात (अफगानिस्तान) से लेकर दक्षिण के मदूरा तक मौर्य साम्राज्य विस्तृत हो गया। चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार पचास वर्षों तक शासन करते रहे और ई० पू० २७३ में मगध का शासन अशोक के हाथों में आया। कहा जाता है कि कई कारणों से चार वर्षों तक अशोक का राज्याभिषेक न हो पाया, परन्तु गद्दी पर बैठते ही मगध साम्राज्य की वृद्धि की लालसा ने अशोक को प्रोत्साहित किया। भीषण युद्ध के बाद कलिङ्ग को इसने जीत तो लिया लेकिन उस घटना से अशोक का जीवन परिवर्तित हो गया। लाखों व्यक्तियों के मारे जाने के कारण इसका हृदय पिघल गया और इसने 'भेरी-घोष' को 'धम्मघोष' में

मौर्य-साम्राज्य

परिवर्तित कर दिया। राजनीतिक साम्राज्य के स्थान पर धार्मिक साम्राज्य स्थापित करने का उसने इरादा किया। अहिंसा का व्रत लेकर सम्राट् अशोक ने राज्य की सीमा पर बौद्ध-धर्म के आशायें तथा उपदेशों को प्रस्तर पर खुदवाया था, ताकि सभी उसके विचारों से अवगत हो जायें। यह तो कहना अनुचित होगा कि सभी लेखों में बौद्ध-धर्म के उपदेश हैं। उसने सभी धर्मों में मान्य धार्मिक विचारों को प्रचारित किया था। बड़ों की आज्ञा पालन, सभी धर्मों का आदर, दया, सत्य आदि बातें सनातन थी। इतना तो सही है कि उसके धर्म प्रचारकों ने बुद्ध-धर्म का प्रसार भली-भाँति किया। एशिया के पश्चिमी प्रदेश तथा मिस्र आदि देशों तक उसके प्रचारक पहुँच गये थे। राजा स्वयं भी बौद्ध तीर्थों की यात्रा पर गया था और उसके पुत्र तथा पुत्री लंका में बुद्ध-धर्म प्रचार के लिये भेजे गये थे।

अशोक के लेख, यूनानी दूत मेगैस्थनीज का विवरण तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र के आधार पर मौर्य कालीन संस्कृति का परिज्ञान होता है। ऐसा विशाल साम्राज्य तो भारत ने देखा ही नहीं। शासन व्यवस्था के लिये केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के अतिरिक्त साम्राज्य प्रान्तों में बँटा था। वहाँ पर प्रांतपति शासन प्रबन्ध का जिम्मेदार था। ग्राम भी स्वतन्त्र इकाई के रूप में शासित होता रहा। मेगैस्थनीज ने पाटलिपुत्र नगर के शासन के लिये छः समितियों का उल्लेख किया है जिसमें तीस सदस्य थे। देश की समृद्धि का कोई ठिकाना नहीं था। कृषि तथा सिंचाई पर राजा का ध्यान था। व्यापार सम्बन्धी बातों पर अर्थशास्त्र से प्रकाश पड़ता है। अशोक के समय में जिस प्रकार की कला का प्रादुर्भाव हुआ वह मौर्यकाल की अपनी कलाकृति थी। अशोक के लेख-स्तम्भ तथा पाटलिपुत्र के प्रासाद के स्तम्भों से उसके गम्भीर तथा उत्तम शैली का अनुमान किया जा सकता है। वह उस साम्राज्य के अनुरूप थी। उन पर का लेप आज भी वैज्ञानिकों के लिये समस्या का विषय है। अशोक अपने विचारों को प्रश्रय देने के लिये जन वाणी का अनादर करता रहा। जनता के विचारों में या उनकी भावनाओं में क्या रहस्य था, यह जानने की उसे फुरसत नहीं थी। हिंसा को रोक कर उसने समाज (लोगों के जुलूस या जलसा में एकत्रित होने के कार्य) का विरोध किया। जनता उस सीमा तक तैयार न थी अतएव अशोक के मरते ही समाज का प्रचलन हो गया। भारहुत की वेष्टनी पर एक प्रस्तर स्तम्भ पर संगीत नृत्य आदि सामाजिक प्रदर्शन का चित्र मिलता है। जहाँ तक अहिंसा का प्रश्न है अशोक के मृत्यु के पश्चात् जनता ने उसके विचारों को त्याग कर और पुष्यमित्र द्वारा अंतिम मौर्य राजा के मार डालने पर नये ब्राह्मणधर्म का अनुसरण किया। पुष्यमित्र ने स्वंय दो अश्वमेध यज्ञ किये तथा उसके समकालीन सातकर्णी ने अनेक यज्ञों को सम्पन्न किया था। कलिङ्ग के राजा खारवेल ने जैन होते हुये भी राजसूय यज्ञ आरम्भ किया था जो प्रजा के विचारों का द्योतक था। इस प्रकार हम देखते हैं कि अशोक के बाद सर्वत्र यज्ञ होने लगे। ब्राह्मण लेखकों ने स्मृति तथा गीता में भी युद्ध करने के विचारों का प्रतिपादन किया। इस प्रकार अशोक के विचारों का शीघ्र विरोध अन्त में उसके अप्रिय होने की सूचना देता है।

मौर्य साम्राज्य के नष्ट होने पर सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने ब्राह्मण-धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की। अयोध्या के लेख में अश्वमेध-यज्ञ का वर्णन पाया जाता है। उसका पुत्र अग्निमित्र विदिसा का शासक था, जो शुंग राज्य की दक्षिणी सीमा थी। दक्षिण में उसके समकालीन

सातवाहन वंश का राज्य था जिसके लेख तथा सिक्के आंध्र वंश के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। नासिक का लेख तथा नानाघाट के लेख यह बतलाते हैं कि सातवाहन अपने को उत्तम ब्राह्मण मानते थे। सातकर्णी के यज्ञों का विवरण भी मिलता है। आश्चर्य तो यह है कि ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी सातवाहन राजाओं ने प्राकृत का प्रयोग प्रशस्तियों तथा मुद्रा-लेखों में किया है। उनका राज्य मालवा, महाराष्ट्र तथा आंध्र प्रदेश तक विस्तृत था। गोतमी-पुत्र शातकर्णी ने शकों को परास्त कर राज्य की सीमा बढ़ाई थी किन्तु उसके उत्तराधिकारी पुलयायी को महाक्षत्रप रुद्रदामन ने दो बार हराया। शक तथा सातवाहन राजाओं में राज्य के लिये युद्ध होते रहते थे। यज्ञ श्री शातकर्णी ने क्षत्रपों को हराकर सातवाहन राज्य की सीमा बम्बई प्रदेश तक फैलाई थी। परन्तु अंतिम विजय शकों के हाथ आई जो पश्चिम भारत में कई सदियों तक राज्य करते रहे।

शुंग तथा सातवाहन

जब भारत में मौर्य साम्राज्य कई टुकड़ों में बँट रहा था, उत्तर-पश्चिम भारत में यूनानी राजा शासन करते रहे। पुष्यमित्र के समय में मिलिन्द ने पाटलिपुत्र तक आक्रमण कर भारत की शांति को भंग किया था और इस आक्रमण का वर्णन गार्गी संहिता में मिलता है। यूनानी राजा मिलिन्द सियालकोट में राज्य करता था और बौद्ध साहित्य से (मिलिन्द प्रश्न) उसके बौद्ध होने का पता चलता है। भारत के उत्तर-पश्चिम तथा काबुल के भू-भाग पर शासन करने वाले यूनानियों को ई० पू० पहली सदी में (युइची जाति की शाखा) कुशान राजा कदफिस ने हराया जिसका प्रमाण हरमेयस के सिक्कों से मिलता है। उसका उत्तराधिकारी द्वितीय कदफिस शैव हो गया था। उसने महेश्वर की पदवी धारण की थी। उसके स्वर्ण मुद्रा पर शिव की आकृति मिलती है। विद्वानों का मत है कि कदफिस का राज्य मध्य एशिया तक फैला था, इसलिये व्यापार की सरलता के लिये स्वर्ण मुद्रा का निकालना आवश्यक समझा गया था। इसी राजा ने सर्वप्रथम सोने की मुद्रा तैयार करयी थी। प्रसिद्ध कुषाण नरेश कनिष्क उसका उत्तराधिकारी हुआ किन्तु दोनों परिवार में सीधा सम्बन्ध ज्ञात नहीं है। यह मतभेद का विषय है कि कनिष्क-परिवार अथवा कदफिस-परिवार पूर्व में शासन करता रहा। कनिष्क ने ही सन् ७८ में शक-सम्वत् चलाया जो आज भी भारत में मान्य है। इसका राज्य काशी से मध्य एशिया तक फैला था जिसके सबल प्रमाण मिलते हैं। कनिष्क के राज्य में विभिन्न धर्मों के लोग रहते थे, इसलिये राजा ने ईरानी, यूनानी, बौद्ध तथा हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों को सिक्कों पर स्थान दिया था। यह कहा जाता है कि कुछ समय तक कनिष्क का प्रभाव पाटलिपुत्र तक विस्तृत हो गया था। इसी के समय में बौद्ध-धर्म की चौथी संगीति हुई थी।

कुषाण राज्य

शुंग से लेकर कुषाण काल तक का युग भारतीय कला के लिये महत्त्वपूर्ण काल था। शुंगों के समय में साँची की कला फूली और फली। हीनयान से सम्बन्धित होने के कारण साँची में बुद्ध की प्रतिमा का अभाव है। जातकों, ऐतिहासिक घटनाओं तथा प्रतीकों के प्रदर्शन से भारहुत तथा अमरावती की वेष्टनियाँ और साँची के तोरण भरे हैं। यूनानी लोगों के समय में गान्धार में जिस कला का जन्म हुआ, उस पर यूनानियों का कुछ छाप अवश्य दिखलाई पड़ता है। कनिष्क के समय में महायान मत के प्रचार से बुद्ध प्रतिमायें बनने लगीं। गान्धार शैली के

समकालीन मथुरा में भी स्वतन्त्र रूप से कला का विकास हुआ जो मथुरा शैली के नाम से विख्यात हुई। शायद उस युग में मथुरा इतना बड़ा केन्द्र हो गया था कि पश्चिम से पूरब (सारनाथ) तक सभी जगहों पर यहीं से प्रतिमा लाई जाती थी। इस तरह हम देखते हैं कि कुषाण जाति ने भारतीय कला को प्रोत्साहन ही नहीं दिया किन्तु यहाँ के धर्म को भी ग्रहण किया। भारतीय संस्कृति देश से बाहर फैलने लगी।

इस वंश का अन्तिम राजा प्रथम वासुदेव था जिसकी तिथि ई० सं० १५२—७६ तक मानी गयी है। सिक्कों से पता चलता है कि वह शैव था। नन्दी के साथ शिव की चतुर्भुजी प्रतिमा उसके सिक्कों पर मिलती हैं। इन सब विवरणों से ज्ञात होता है कि कुषाण वंशी नरेशों ने करीब सौ वर्षों तक राज्य किया। इस वंश के ह्रास हो जाने पर उत्तर पश्चिम भारत में छोटे छोटे राज्य कायम हो गये जिनको किदार कुषाण कहते हैं। समुद्रगुप्त की प्रयाग वाली प्रशस्ति में इन्हीं का उल्लेख मिलता है। सिक्कों के आधार पर यह प्रकट होता है कि कुषाणों के स्थान पर विभिन्न शासक स्वतन्त्र रूप से शासन करते थे। उनमें कौशाम्बी के मग, पद्मावती के नाग तथा पंजाब के यौधेय प्रमुख थे। इन्हीं लोगों ने कुषाण वंश का नाश किया।

भारतीय इतिहास पर अपना विशेष प्रभाव डालने वाले शक राजाओं का यहाँ पर कुछ विशिष्टवर्णन किया जायगा। यह पहले कहा जा चुका है कि मगध साम्राज्य के ह्रास होने के समय से भारत के पश्चिमोत्तर प्रांतों में विदेशी लोगों के आक्रमण होने लगे थे। ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी तक भारत के उत्तर पश्चिम में यूनानी राजाओं का शासन समाप्त हो चुका था तथा उस प्रान्त में शकों ने उनका स्थान ग्रहण किया। शकवंशी मोग प्रथम राजा था जिसने ई० पू० पहली सदी में गांधार पर शासन किया। मुद्रा-शास्त्र के आधार पर यह ज्ञात होता है कि अयस (Azes) नामक राजा मोग का उत्तराधिकारी था। इसने अपने राज्य का विस्तार पंजाब तक किया जो उसके विस्तृत सिक्कों से प्रकट होता है। इसके पश्चात् शक वंश में अन्य दो राजा अजिलाइजिस तथा द्वितीय अयस हुए। इनके नाम चाँदी के सिक्कों से ज्ञात होते हैं। शकों (सिथियन) ने पश्चिमोत्तर प्रांत में प्रतिनिधि तथा सैनिक गवर्नरों के द्वारा शासन-प्रणाली का नियम चलाया*। इन्हीं शक राजाओं के अधीनस्थ होकर तक्षशिला और मथुरा में शक क्षत्रप (गवर्नर) शासन करते थे। इनमें तक्षशिला के पटिक और मथुरा के रंजुबुल तथा सोडास क्षत्रपों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके नाम मथुरा के सिंह प्रतिमा के खरोष्ठी लेख में उल्लिखित हैं†। ये क्षपत्र प्रथम शताब्दी के मध्यभाग तक शकों के अधीन थे। पर शकों के अन्तिम समय में पार्थियन नामक दूसरी जाति ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया जिनका अधिकार सर्वप्रथम पश्चिमी गांधार पर हुआ था। पार्थियन वंश में गोंडाफरनेस नामक सबसे प्रतापी राजा हुआ, जिसने अपने बल से पूर्वी गांधार (तक्षशिला) को पार्थियन राज्य में सम्मिलित कर लिया था।

(हाशिया: शक; पार्थियन)

*राय चौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्सेन्ट इंडिया पृ० ३०१।
†का० इ० इ० भा० ७।

ऊपर कहा गया है कि अनेक क्षत्रप शकों के अधीन थे। अपने शासक राजा (शकों) के अधिकार में होते हुए क्षत्रपों ने अपना प्रभुत्व दक्षिण भारत में भी फैलाया। शक-स्थानसे होकर मालवा, गुजरात तथा काठियावाड़ में जाकर इन्होंने अपना प्रभाव स्थापित किया और कुषाण नरेशों के प्रतिनिधि के रूप में शासन करने लगे। इसी कारण इन्होंने अपने को क्षत्रप (जो ईरानी पदवी का विकृत रूप है) गवर्नर कहा है। बाद में यद्यपि ये शासक स्वतंत्र रूप से राज्य करने लगे थे तो भी इन्होंने अपने को महाक्षत्रप ही लिखा। महाक्षत्रप पदवी से स्वतंत्र होने की बात प्रकट हो जाती है। इनका इतिहास प्रशस्तियों तथा सिक्कों से ही ज्ञात होता है। शक राजा धीरे-धीरे भारतीय सभ्यता को अपनाने लगे। लेखों से प्रकट होता है कि ये भारतीय संस्कृति के पोषक हो गये थे। भारतीय ढंग का नाम भी धारण किया था। काठियावाड़ के क्षत्रप शासक नहपान का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इसका प्रभाव दूर तक फैला हुआ था और इसके लेख पांडुलेना, नासिक जूनार, काले (पूना के समीप) में उत्कीर्ण मिलते हैं। नहपान का राज्य महाराष्ट्र, कोकण, मंदसौर तथा पुष्कर (अजमेर) तक विस्तृत था और इसी पुष्कर तीर्थ में उसके जामाता उषवदत्त ने बहुत सा दान दिया था। दूसरी सदी के आरम्भ में दक्षिण में प्रभुत्व स्थापित करने के लिये सातवाहन और शकों में कई बार युद्ध हुये। गौतमी-पुत्र शातकर्णी ने नहपान को परास्त किया था और उसके प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लिया था। उसके सिक्कों पर अपनी मुहर लगवाई थी। नासिक के समीप जोगलथम्बी स्थान से सिक्कों का एक ढेर (१४ हजार) मिला है जिसमें नहपान के सिक्कों पर गोतमीपुत्र का नाम मिलता है। वहां सातवाहन का अधिकार बहुत दिनों तक न रह सका क्योंकि उज्जैनी का शक्तिशाली महाक्षत्रप रूद्रदामन ने पुनः क्षत्रपों की प्रतिष्ठा स्थापित कर ली। उसने सातवाहन राजा पुलमावी को दो बार हराया जिसका वर्णन उसके गिरनार वाले लेख से मिलता है। इस तरह अपने प्रभुत्व से सातवाहनों का राज्य (महाराष्ट्र देश पर अधिकार) रुद्रदामन ने वापस ले लिया। उसके बाद दो सौ वर्षों तक मालवा, गुजरात आदि प्रदेशों पर क्षत्रप राजा शासन करते रहे। इनके सिक्कों पर शक-सम्वत् में तिथि खुदी है जिससे इस वंश का काल स्थिर किया जाता है। पांचवीं सदी के आरम्भ में गुप्त राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने इस वंश का अंत कर मालवा से काठियावाड़ तक के भाग को गुप्त साम्राज्य में मिला लिया।

भारत में विदेशी आक्रमण तथा कुषाण राज्य की स्थापना की दशा में उत्तरी भारत में छोटी छोटी रियासतें वर्तमान थीं। कुछ तो कुषाण के अधीन होकर रहीं पर थोड़े से स्वतंत्र भी थे। इनका शासनकाल ई० पू० १००—ई० स० ३०० निश्चित उत्तरी भारत की रियासतें किया गया है। विदेशी शासन के ह्रास हो जाने पर उन्हें वृद्धि का अवसर मिला था परन्तु चौथी सदी के बाद गुप्त राज्य में सम्मिलित कर ली गयीं।

अहिछत्तर (बरेली, उत्तरप्रदेश) में मित्र नामधारी राजाओं के सिक्के मिले हैं जिनके नाम शुङ्ग राजाओं के से मिलते हैं। सम्भव है उन शुङ्गों के ये सिक्के हों किन्तु कन्व लोगों के पश्चात् इस भाग पर अन्य राजाओं का भी आधिपत्य रहा। जिनका समय ई० पू० ५० से ई० स० २५० तक माना जाता है।

उन अहिच्छत्तर शासकों ने कौशाम्बी के राजाओं से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था जिसका ज्ञान लेखों तथा सिक्कों से होता है। सम्भवतः पहले के कौशाम्बी नरेश कुषाणों के द्वारा पराजित किये गये होंगे। बाद में नये वंश का अधिकार कौशाम्बी पर हो गया। सिक्कों के अध्ययन से उस वंश का नाम 'मग' प्रकट होता है जिसका उल्लेख पुराणों में भी मिलता है। कौशाम्बी तथा रींवा से कई लेख उपलब्ध हुये हैं। कुछ शक सम्वत् में तिथि युक्त मिले हैं। भद्रमग नामक राजा ने प्रथम बासुदेव के बाद कुषाणों के बुरे दिन से लाभ उठाया। कौशाम्बी को उनसे छीन लिया। कौशाम्बी में इसके सिक्के तथा लेख (शक ८१) मिले हैं। इस वंश के अधिक सिक्के कौशाम्बी में मिले हैं। उस आधार पर मग राज्य का शासन ई० स० दूसरी से चौथी सदियों तक स्थिर किया गया है। अन्त में समुद्र ने इन्हें परास्त किया।

अयोध्या के समीप ऐसे सिक्के मिले हैं जिस आधार पर यह कहा जाता है कि ई० स० तीसरी शताब्दी में किसी नये वंश का शासन था।

इसी तरह नागवंश के बारे में भी लेखों तथा पुराणों से पता चलता है। पुराणों में विदिसा, कान्तिपुर, मथुरा तथा पद्मावती का वर्णन आता है जो नागवंशी राजाओं का केन्द्र था।

नागवंश

नागवंश अनार्य माना जाता है जिसके परिवार में नाग की पूजा की जाती थी। बहुत सम्भव है कि मथुरा से प्राप्त मित्र या दत्त नामधारी सिक्के नाग राजाओं के हों। पद्मावती का नाग राजा भवनाग का नाम उल्लेखनीय है। वह भारशिव वंशी महाराजा भवनाग माना जा सकता है।

इतिहास के साधन

नाग वंश के इतिहास के अध्ययन के लिए कोई सम्बद्ध साधन उपलब्ध नहीं हैं परन्तु (१) पुराणों, (२) सिक्कों तथा (३) नाग, वाकाटक और गुप्त लेखों में उल्लिखित बातों को एकत्र करके नाग वंश का इतिहास तैयार किया जाता है।

नाग = भारशिव

ऐतिहासिक साधनों में इस वंश के लिए दो नाम—नाग और भारशिव—का प्रयोग मिलता है। अतः इस वंश के इतिहास से पूर्व यह समझ लेना परमावश्यक है कि नागवंश के लिए भारशिव शब्द का प्रयोग क्यों किया गया। पुराणों में राजाओं के नाम के साथ नाग शब्द का प्रयोग मिलता है। इसलिए उस वंश को नागवंशी कहकर पुकारते हैं। कुछ नागवंशी शासकों के सिक्के भी मिले हैं जिनका समीकरण पुराणों में उल्लिखित नामों से किया जाता है। इन नागवंशी राजाओं को वाकाटक लेखों में 'भारशिवानां महाराजा' कहा गया है। नागवंशी राजा शैव थे। वाकाटक लेखों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि इस वंश के किसी राजा ने यज्ञ के समय अपने मस्तक पर 'शिवलिङ्ग' रक्खा था*। उसी समय से इस वंश का नाम 'भारशिव' पड़ा। इस प्रकार की एक

---

*शिवलिङ्गोद्वहनशिवसुपरितुष्टसमुद्‌पादित् राजवंशानां पराक्रमाधिगतभागीरथ्या-मलजलमूर्द्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधावभृथस्नातकानां भारशिवानां महाराजा (बालाघाट तथा चमक प्रशस्ति)। [ए० इ० भा० ९ पृ० २६६ व फ्लीट–गु० ले० नं० ९५]।

मूर्ति भारत-कला-भवन (काशी) में सुरक्षित है जिसमें मनुष्य के सिर पर शिवलिङ्ग है। यह मूर्ति नागवंशी राजाओं के लिए उल्लिखित 'शिवलिङ्गोद्वहन' की पुष्टि करती है। इन सब बातों से स्पष्ट प्रकट होता है कि नागवंश के लिए भारशिव का प्रयोग उपयुक्त है। अतएव नाग तथा भारशिव एक ही थे, इसमें किसी को संदेह नहीं हो सकता।

पुराणों में नागवंश का पर्याप्त वर्णन मिलता है। इसमें दो भिन्न भिन्न राजाओं के वंशजों का वर्णन है जो अलग अलग शुंग तथा कुषाणों से पूर्व शासन करते थे। शेष नामक नाग राजा के वंशज विदिशा पर शासन करते थे*। इन राजाओं ने शुंग काल से पूर्व राज्य किया परन्तु शुंगों के उत्थान के कारण शेष के वंश का ह्रास हो गया।

ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में शुंगों का एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित हो गया था। इनके अभ्युदय के सामने विदिशा पर शासन करनेवाले नागों को परास्त होना पड़ा। विदिशा से हटकर नागवंशी नरेश ने पद्मावती में अपना राज्य स्थापित किया। इस स्थान पर शिशु नन्दी के वंशज कुषाण-काल से पूर्व शासन करते थे जिनका नाश कुषाणों के हाथ हुआ। इन राजाओं का भी वर्णन पुराणों में मिलता है†। इस प्रकार विदिशा तथा 'पद्मावती' पर शासन करनेवाले नरेशों ने ई० पू० ११०—ई० स० ७८ तक यानी दो सौ वर्षों तक राज्य किया‡।

इन नाग राजाओं के इतिहास पर सिक्कों से भी प्रकाश पड़ता है। मथुरा से दत्त नामधारी अनेक सिक्के मिले हैं। जायसवाल का मत था कि ये दत्त-नामांत नरेश नागवंशी थे। इन्हीं सिक्कों में शिवदत्त नामक राजा की एक मुद्रा मिली है, जिसका नाम पद्मावती से प्राप्त एक लेख में उल्लिखित है। यह लेख राजा के चौथे वर्ष में यक्ष मणिभद्र की मूर्ति पर उत्कीर्ण है। यह शिवदत्त नामक राजा पुराणों में उल्लिखित पद्मावती का अन्तिम शासक शिवनन्दी है, जो कुषाण राजा कनिष्क के द्वारा परास्त किया गया§।

नाग-वंशी राजाओं का मुख्य शासन-काल कुषाण राजाओं के ह्रास होने पर प्रारम्भ होता है। कुषाणों से पूर्व नाग शासकों का नाश कनिष्क के द्वारा होने पर, नागों ने पद्मावती

---

* वृषान्वै दिशकांश्चापि भविष्यांश्च निबोधत।
शेषस्य नागराजस्य पुत्रः स्वरपुरंजरः ॥
भोगी भविष्यते राजा नृपो नागकुलोद्वहः।
सदा चन्द्रस्तु चन्द्रांशो द्वितीयो नखवांस्तथा ॥
धनधर्मा ततश्चापि चतुर्थो विंशजः स्मृतः।
वायु पुराण ९९।३६६-६७।

† भूतिनन्दः ततश्चापि वैदशे तु भविष्यति।
अङ्गानां नन्दनस्यान्ते मधुनन्दिर्भविष्यति ॥
तस्य भ्राता यवीयांस्तु नाम्ना नन्दियशाः किल। वायु पुराण ९९।३६८-६९

‡ हिस्ट्री आफ इण्डिया १५०-३५० ई० पृ० १४।

§ वही पृ० ११।

को त्याग दिया तथा मध्यप्रदेश में शरण ली। वहाँ से बुन्देलखण्ड होते हुए मिर्जापुर (उत्तर-प्रदेश) के समीप कांतिपुर में नाग लोगों ने अपना निवास-स्थान बनाया। इसी स्थान पर स्थिर होकर नाग राजाओं ने पद्मावती तथा मथुरा को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया था। इसकी पुष्टि विष्णु पुराण के वर्णन—नवनागा* पद्मावत्यां, कांतिपुर्यां मथुरायां—से होती है। यह सब कार्य कुषाण राज्य के पतन होने पर सम्भव था। कुषाणों का अंतिम राजा वासुदेव प्रथम ई० स० १७६ तक राज्य करता था। अतएव दूसरी शताब्दी के मध्यभाग के पश्चात् ही नाग राजा राज्य स्थापित करने में सफल हुए होंगे। इसके प्रतापी शासक वीरसेन तथा भवनाग के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वीरसेन नाग-वंश का प्रथम सम्राट् था जिसने कुषाणों को हटाकर नाग-राज्य स्थापित किया। वीरसेन के सिक्के उत्तर-प्रदेश व पंजाब में पाये जाते हैं†। सिक्कों तथा लेखों में ताली वृक्ष का चिह्न पाया जाता है जो राजकीय लक्षण है। वीरसेन के विस्तृत स्थानों में प्राप्त सिक्कों तथा लेख से उसके बल का अनुमान किया जा सकता है। सबसे अन्तिम नरेश भवनाग था। पुराण तथा वाकाटक लेख के आधार पर ज्ञात होता है कि भवनाग के पश्चात् नाग शाखा वाकाटक वंश में विलीन हो गई‡। यही कारण है कि वाकाटक राजा रुद्रसेन प्रथम वाकाटक शासक होते हुए भी भारशिव वंश का महाराजा कहा गया है॥। उपरियुक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि कुषाण राज्य के पतन (ई० स० १७६) से लेकर तीसरी शताब्दी तक नाग सम्राट् सुचारु रूप से शासन करते रहे।

राज्य-काल

इस स्थान पर नागों की शासन-प्रणाली का संक्षेप में वर्णन करना उचित प्रतीत होता है। नाग-साम्राज्य का कोई केन्द्रीभूत स्थान नहीं था जिस स्थान से सब राजकीय कार्यों का सम्पादन हो। नाग-साम्राज्य में भिन्न-भिन्न शाखाएँ भिन्न-भिन्न स्थानों पर शासन करती थीं परन्तु समस्त राजा अपने को नाग-साम्राज्य के अंतर्गत शासक समझते थे। नागवंश की शाखाएँ कांतिपुर, मथुरा पद्मावती, अहिच्छतर, चम्पावती आदि स्थानों को केन्द्र बनाकर शासन करती थीं। यह शासन-प्रणाली कुषाणों के पतन के तथा गुप्तों के उत्थान के मध्य में कार्यान्वित थी।

नागों की शासन-प्रणाली

इन राज्यों के अतिरिक्त उत्तर-भारत में कई प्रजातन्त्र शासक वर्तमान थे। उनमें मालव, आर्जुनायन तथा यौधेय का नाम लिया जा सकता है। वास्तव में यौधेयगण ने ही कुषाणों को सर्वप्रथम पराजित करने का प्रयत्न किया था। कुषाण पूर्व-काल में यह गण

---

* नव संख्यावाचक शब्द नहीं है परन्तु साम्राज्य काल के प्रथम राजा का नाम नव नाग था, सिक्कों से दस नाम ज्ञात हुए हैं। भीमनाग, विभुनाग, प्रभाकरनाग, स्कन्द-नाग, बृहस्पतिनाग, व्याघ्रनाग, वसुनाग, देवनाग, भवनाग व गणपति नाग।

† जे० आर ए. एस. १८९७ पृ० ८७६।

‡ नव नागास्तु भोक्षन्ती पुरीं चम्पावतीं नृपाः (वा पु. ९९।३८२)।

॥ नागा भोक्षन्ति सप्त वै। वायु. पु. ९९।३८२।

उत्तरी राजपूताना तथा दक्षिण पूर्वी पंजाब पर शासन करता था। यद्यपि कुषाण तथा यौधेयों के युद्ध के विषय में सबल प्रमाण नहीं मिलता किन्तु तृतीय कनिष्क तथा द्वितीय वासुदेव के सिक्के सतलज से पूर्व नहीं मिले हैं। इस कारण यह अनुमान किया जाता है कि वह भाग कुषाण नरेशों के हाथ से निकल गया था। यह भाग यौधेयों के हाथ में आ गया जिनकी मुद्रा तथा सिक्कों पर 'यौधेयानां त्रायमंत्रधराणाम्' लिखा मिला है। उनके समीप ही आगरा-जयपुर क्षेत्र में आर्जुनायनगण का शासन था। इन लोगों ने भी कुषाणों से विद्रोह खड़ा कर स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। तीसरे मालवगण का राज्य अजमेर तथा मेवाड़ के भू-भाग में स्थित था। पहली सदी में क्षत्रप लोगों और मालवगण से युद्ध हुआ। क्षत्रप-शासक जीवदामन तथा प्रथम रुद्रसिंह के बीच झगड़ा हो जाने के कारण मालव लोगों को अवसर मिला और २२५ ई० के समीप स्वतन्त्र बन बैठे। तीसरी सदी में ही उन्हें समुद्रगुप्त ने ही पराजित किया था।

मालवगण के समीपवर्ती पूर्वी भू-भाग (मध्यप्रदेश) में वाकाटक वंश का शासन था जिन्होंने तीसरी सदी के मध्य में ही राज्य आरम्भ किया था। विन्ध्यशक्ति (२५५-२७५ ई०) के बाद प्रथम प्रवरसेन प्रभावशाली नरेश हुआ जिसने विस्तृत राज्य पर शासन किया और इसी के वंशज द्वितीय रुद्रसेन से गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती गुप्ता ब्याही थी। इस विवरण से प्रकट होता है कि किस विषम राजनीतिक परिस्थिति में गुप्त-शासन मगध में आरम्भ हुआ था।

———

गुप्तों का परिचय

ईसा की तीसरी शताब्दी के अन्तिम काल में हम मगध के सिंहासन पर एक दूसरे राजवंश को आरूढ़ पाते हैं। यह राजवंश गुप्तों का है। जब कि ब्राह्मण वाकाटक नरेश बुन्देल-खण्ड तथा मध्यप्रांत में राज्य कर रहे थे, जब उत्तरी भारत में कोई ऐसी प्रभावशालिनी राजकीय शक्ति न थी जो मगध के सिंहासन को सुशोभित करे, जब उत्तरीय भारत में एक महत्त्वशाली तथा प्रबल पराक्रमी राजा का नितांत अभाव था ऐसे ही समय में गुप्तों की राज्यलक्ष्मी ने मगध के सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। पहले इन नरेशों का राज्य पाटलिपुत्र के आस-पास सीमित था; परन्तु कालांतर में राज्यलक्ष्मी ने अपनी चंचलता छोड़कर इन्हीं नरेशों को अपना पति निश्चय किया। इन नरेशों की शक्ति दिन-दूनी तथा रात-चौगुनी बढ़ने लगी। समुद्रगुप्त के समय में इनका उत्कर्ष पराकाष्ठा तक पहुँच गया तथा इस प्रतापी सम्राट् ने अपनी फड़कती हुई भुजाओं के द्वारा उत्तरीय भारत के नरेश को कौन कहे, दक्षिणापथ के राजाओं को भी 'करदीकृत' बना दिया। विजय-वैजयंती के समस्त भारत में फहराने पर इसकी यशोराशि मानों इन्हीं पताकाओं के मार्ग से देवलोक में भी जाने की कामना करने लगी। इसने अश्वमेध यज्ञ का सम्यक् अनुष्ठान कर पुनः एकराट् साम्राज्य स्थापित किया। संस्कृत भाषा तथा भारतीय ललित कलाओं का पुनरुद्धार कर इन नरेशों ने पुनः भारतीय संस्कृति को पुनरुज्जीवित किया। इन्होंने अनेक घनघोर लड़ाइयों में अपने कठोर शत्रुओं को पराजित किया। इस प्रकार से इन्होंने शस्त्र के द्वारा रक्षित राष्ट्र में शास्त्र की चिन्ता प्रवर्तित की। मानों इन सम्राटों के इन्हीं अलौकिक गुणों पर मुग्ध होकर धान की रक्षिकाएँ ईख की छाया में बैठकर इनकी गुणगरिमा का गान किया करती थीं*। 'स्वर्ण युग' का निर्माण इन्हीं समाटों ने किया। इनके शासन-काल में सरस साहित्य तथा ललित कला के पुनरुद्धार की वह प्रबल धारा बह निकली जिसका स्रोत अनेक शताब्दियों के बाद तक नहीं सूख सका।

परिचय

गुप्त सम्राटों के तिथिक्रम से क्रमबद्ध इतिहास देने के पूर्व यह समुचित प्रतीत होता है कि

---

* इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥ रघुवंश ४।२०

इनका वर्ण-निर्णय कर लिया जाय। गुप्तों के वर्ण-निर्णय के सम्बन्ध में विद्वानों में गहरा मतभेद है।

सर्वप्रथम श्री जायसवाल ने 'कौमुदी-महोत्सव*' नामक नाटक के आधार पर गुप्तों को शूद्र सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस ऐतिहासिक नाटक की विद्वान् लेखिका ने एक पात्र (आर्य) के मुख से चन्द्रसेन (चण्डसेन) को कारस्कर कहलाया है तथा ऐसे नीच जाति के पुरुष को राजा होने के अयोग्य बतलाया है†। श्री जायसवाल चन्द्रसेन का चन्द्रगुप्त से एकीकरण करते हैं। बौधायन‡ ने 'कारस्कर' को नीच जाति बतलाया है। इस आधार पर श्री जायसवाल के मत से चंद्रसेन = प्रथम चंद्रगुप्त शूद्र जाति का ठहरता है। अतएव गुप्तों का शूद्र जाति का होना सिद्ध है।

'कौमुदी-महोत्सव' में चन्द्रसेन का वैवाहिक संबंध मगध राज्य के शत्रु लिच्छवियों से वर्णित है। इस नाटक में लिच्छवियों को म्लेच्छ§ कहा गया।

चूँकि चण्डसेन स्वयं शूद्रजाति का था अतः म्लेच्छ (नीच जाति वाले) लिच्छवियों से उसका वैवाहिक संबंध हुआ। अतः इस प्रमाण से भी गुप्त शूद्र ही सिद्ध होते हैं। जायसवाल के कथनानुसार गुप्त सम्राट् जाट (नीच जाति) थे जिनके आधुनिक प्रतिनिधि (कक्कर जाट) आज भी पंजाब में पाये जाते हैं‖।

वाकाटक महारानी प्रभावती गुप्ता के एक लेख में 'धारण' गोत्र का उल्लेख मिलता है()। जायसवाल इस 'धारण' गोत्र की आधुनिक समय में अमृतसर (पंजाब) के निवासी

---

*यह नाटक दक्षिण-भारत में मिला है तथा यह दक्षिण भारतीय ग्रन्थमाला सं० ४ मद्रास से प्रकाशित हुआ है। इसका संक्षिप्त कथानक निम्न प्रकार का है,—नाटक के चतुर्थांक में मगध के क्षत्रिय राजा सुन्दरवर्मन् है। इस राजा को कोई पुत्र नहीं था अतः इसने चण्डसेन नामक व्यक्ति को गोद लिया। परन्तु गोद लेने के पश्चात् राजा को कल्याणवर्मन् नामक पुत्र पैदा हुआ। चण्डसेन ने राज्यलोभ के कारण लिच्छवियों से वैवाहिक संबंध स्थापित कर उनकी सहायता से सुन्दरवर्मन् पर चढ़ाई कर दी, उसे मार डाला तथा स्वयं राजा बन बैठा। राजा का मन्त्री मन्त्रगुप्त राजकुमार को लेकर भाग निकला तथा उसने विन्ध्यपर्वत की शरण ली। उसने कालांतर में दुष्ट चन्द्रसेन को मार कर कल्याणवर्मन् को राजा बनाया। चण्डसेन के प्रजापीड़क होने के कारण जनता ने इस राजा का साथ दिया। इसी कल्याणवर्मन् के सिंहासनारूढ़ होने के समय यह नाटक अभिनीत हुआ था। इसकी लेखिका एक विदुषी स्त्री है।

†कहिं एरिस वर्णस्स से राअसिरि। कौ. म. पृ. ३०।

‡बौ० ध० सू० १।१।३२।

§आर्यः ततः स्वयं मगधकुलं व्यपदिशन्नपि मगधकुलवैरिभिः म्लेच्छैः लिच्छविभिः सह संबंधं कृत्वा लब्धासारः कुसुमपुरं उपरुद्धवान्। कौ० महो० पृ० ३०।

‖जायसवाल—हिस्ट्री आफ इण्डिया (१५०-३५० ई० तक)।

()प्रभावती गुप्ता के उस लेख में गुप्तों की वंशावली दी गई है। ए० इ० भा० १५ पृ० ४१

जाट लोगों के 'धरणी'* गोत्र से समता बतलाते हैं†। इनके कथनानुसार गुप्त लोग पंजाब छोड़कर भारशिवों की अधीनता में कौशाम्बी के समीप चले आये†। इन्हीं सब प्रमाणों के आधार पर जायसवाल ने गुप्तों को शूद्र सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

खण्डन

यदि उपरियुक्त तर्कों पर विचार किया जाय तो जायसवाल की धारणा समुचित तथा युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती है। यह स्पष्टतया विदित ही है कि चंद्रसेन ने मगध के राजा के प्रति खुला विद्रोह कर उसे मार डाला था। इस दुरात्मा ने अपने धर्म-पिता का नाश किया तथा राज्य-लोभ के कारण वस्तुतः राज्याधिकारी कल्याणवर्मन् को उससे वञ्चित कर दिया। इस नाटक का अभिनय उस समय हुआ था जब कि राजकुमार कल्याणवर्मन् ने अपनी खोई हुई गद्दी पाई थी तथा अपने पूजनीय पिता के हत्यारे को यमलोक का टिकट दिलाया था। इस समय में चारों तरफ नवीन महाराज की यशो-दुंदुभि बज रही थी तथा समस्त जनता महाराज के परम शत्रु, देशद्रोही चंडसेन को कोसते नहीं अघाती थी। ऐसी अवस्था में, ऐसे महोत्सवपूर्ण समय में अभिनीत नाटक में महाराज की गुणगरिमा का गान तथा उनके परमद्रोही चण्डसेन को दुष्ट, नीच जाति का तथा अत्यन्त निम्न बताना वस्तुतः स्वाभाविक ही है। ऐसा न होना ही आश्चर्य की बात होती। अतः ऐसी अवस्था में 'कारस्कर' शब्द को विशेष महत्त्व देना अनुचित जान पड़ता है। वास्तव में यह शब्द चण्डसेन की जाति का सूचक नहीं परन्तु उसके किये हुए पाप-कर्मों के (स्वामि तथा देशद्रोह के) लिए प्राप्त 'उपाधि' ही समझनी चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि केवल इसी शब्द के सहारे गुप्तों को शूद्र बतलाना उचित नहीं प्रतीत होता।

पूना में मिले, प्रभावती गुप्ता के लेख में उल्लिखित 'धारण' गोत्र से भी गुप्तों को जाट मानना समुचित तथा युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ता। प्राचीन तथा अर्वाचीन समय में भी ब्राह्मणेतर (क्षत्रिय आदि) जातियाँ अपने पुरोहित के गोत्र को ही अपना लेती थीं तथा अपने गोत्र का नामकरण भी अपने पुरोहित के गोत्र के नाम पर ही कर लेती थीं‖। इसके उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं। यह सम्भव है कि गुप्तों ने भी यह 'धारण' गोत्र अपने पुरोहित के गोत्र से लिया हो। अतः जाटों के 'धरणी' गोत्र तथा गुप्तों के 'धारण' गोत्र में शब्द-साम्य देखकर झटपट किसी महत्त्वपूर्ण परिणाम पर पहुँच जाना समुचित नहीं है। गुप्तों तथा जाटों की गोत्र-समता में कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

क्षत्रिय होने के प्रमाण

(१) ऊपर लिखा जा चुका है कि सुन्दरवर्मन् क्षत्रिय था। उसने कोई पुत्र न होने के कारण चण्डसेन को अपना 'कृतक' पुत्र बनाया तथा उसे गोद लिया। हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार 'दत्तक' पुत्र उसी जाति का होना चाहिए जिस जाति का गोद लेनेवाला व्यक्ति हो। मनु ने भी इस बात का समर्थन किया है

*ग्लासरी आव ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स इन पंजाब (एण्ड एन डब्लू एफ० पी०) भाग २ पृ० सं० २३५।

†जायसवाल—हिस्ट्री आफ इण्डिया (१५०-३५० ई० तक)। पृ० ११६।

‡वही-पृ० ११७।

‖ऐतरेय ब्रा० ३४७।२५।

तथा इस विषय पर प्रचुर प्रकाश डाला है*। राजपूताना के इतिहास में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं। अतएव जब सुन्दरवर्मन् क्षत्रिय था तब उसका 'कृतक' पुत्र चण्डसेन भी अवश्य क्षत्रिय होगा। चूँकि चण्डसेन की समानता चन्द्रगुप्त प्रथम से की जा चुकी है, अतः यह स्पष्ट है कि गुप्त नरेश क्षत्रिय जाति के थे।

(२) गुप्तवंशी सम्राटों ने अपनी जाति का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। न तो गुप्त-लेखों से ही इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है और न साहित्य ग्रन्थों से ही। परन्तु सौभाग्य से पिछले गुप्त नरेशों (Later Gupta Kings) की जाति के संबंध में कुछ ज्ञातव्य बातें मिली हैं। मध्यप्रदेश में शासन करनेवाले गुप्त वंशज महाशिवगुप्त की सिरपुर (रायपुर, मध्यप्रांत) की प्रशस्ति में गुप्तों को चंद्रवंशी क्षत्रिय कहा गया है†।

(आसीच्छशी) व भुवनात् भुत भूतभूति-
रुद्भूतभूतपति (भक्तिसम) प्रभावः।
चंद्रान्वयैकतिलकः खलु चंद्रगुप्तः,
राजाख्यया पृथुगुणः प्रथितः पृथिव्याम् ॥

इस उल्लेख से यह स्पष्ट प्रकट होता है नि गुप्तवंशी नरेश चंद्रवंशी क्षत्रिय थे।

(३) बम्बई प्रान्त में स्थित धारवाड़ के शासनकर्त्ता गुत्तल नरेश अपने को उज्जैन के शासक चंद्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) का वंशज मानते थे। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य को सोमवंशी क्षत्रिय कहा गया है‡। इस बात की पुष्टि पुनः 'मञ्जु श्रीमूलकल्प' नामक ग्रंथ से भी होती है§। अतः यह सब प्रमाण गुप्तों को क्षत्रिय सिद्ध कर रहे हैं।

(४) यदि गुप्तवंशी सम्राटों के अन्य नरेशों से वैवाहिक संबंध पर विचार किया जाय तो स्पष्ट ही ज्ञात हो जायगा कि गुप्त नरेश अवश्य ही क्षत्रिय थे। गुप्त राजा प्रथम चन्द्रगुप्त का विवाह लिच्छवियों की एक सुप्रसिद्ध राजकुमारी श्रीकुमारदेवी से हुआ था। इसी कारण गुप्त शिलालेखों में समुद्रगुप्त के लिए 'लिच्छवी-दौहित्र' का प्रयोग पाया जाता है‖! अब हमें यह देखना है कि ये प्रबल पराक्रमी लिच्छवि किस जाति के थे। ये क्षत्रिय थे या किसी अन्य जाति के? लिच्छवियों को क्षत्रिय प्रमाणित करने के लिए हमारे पास अनेक महत्त्वपूर्ण प्रमाण हैं। इन प्रमाणों को यहाँ क्रमशः दिया जाता है।—

(क) भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनके शेष फूल को प्राप्त करने के

---

* औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायदा बान्धवाश्च षट् ॥

मनुस्मृति ९।१५

† ए० इ० भा० ११ पृ० १९० ।

‡ बम्बई गजेटियर, १ भाग, २ पृ० ५७८—नोट ३।

§ जायसवाल, इम्पीरियल हिस्ट्री (देखिए परिशिष्ट)

‖ प्रयाग की प्रशस्ति (गु० ले० नं० १)।

लिए आठ क्षत्रिय जातियों ने दावा पेश किया था। इनमें लिच्छवियों का स्थान प्रधान था। उन्होंने उच्च स्वर से इस बात की घोषणा की—भगवान् भी क्षत्रिय थे तथा हम लोग भी क्षत्रिय हैं। अतः भगवान् के शरीर का शेषांश हमें भी मिलना चाहिए()। अपने को क्षत्रिय जाति का तथा भगवान् के फूल का उचित अधिकारी लिच्छवियों ने अपने मुख से कहा है। ऐसी दशा में उनके क्षत्रियत्व में भला अब किसको संदेह हो सकता है?

(ख) भगवान् महावीर के पिता ने त्रिशला नाम की एक सुप्रसिद्ध लिच्छवी राजकुमारी से विवाह किया था। भगवान् महावीर के पिता का क्षत्रिय होना सिद्ध है अतः समान जाति में विवाह होने के कारण लिच्छवियों का क्षत्रिय होना सहज ही में सिद्ध हो जाता है□।

(ग) क्षत्रिय महाराज बिम्बसार का विवाह चेलाना नाम की लिच्छवी राजकन्या से हुआ। इस विवाह से लिच्छवियों का क्षत्रिय होना अनुमान-सिद्ध है*।

(घ) सिगाल जातक से हमें पता चलता है कि उसमें एक लिच्छवी कन्या क्षत्रिय की पुत्री कही गई है†।

(च) कल्पसूत्र से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर के मामा, जो लिच्छवी जाति के थे, क्षत्रिय थे ‡।

(छ) भगवान् महावीर की माता, जो लिच्छवी राजकुमारी थीं, सदा क्षत्राणी कही गई हैं§।

(ज) भगवान् बुद्ध लिच्छवियों को सदा वशिष्ठगोत्रीय क्षत्रिय कहते थे। मौद्गल्यायन भी उन्हें इसी गोत्र से संबोधित करते थे‖।

(झ) नैपाल की वंशावली में लिच्छवियों को सूर्यवंशी क्षत्रिय कहा गया है ×।

(त) रामायण से हमें पता चलता है कि वैशाली की स्थापना इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियों ने की। अतः लिच्छवि क्षत्रिय हुए +।

() भगवा पि खत्तियो मयं पि खत्तियो मयं पि अरहा भगवतो शरीरानं भागम्।
दीघनिकाय। २ पृ० १८४।

□ केम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया—भा० १ पृ० १५७ तथा कल्पसूत्र—प्राच्यधर्मग्रंथ-माला (से० बु० इ०) २२ पृ० २२६।

* जैकोबी—जैनसूत्र १ पृ० १२।

† लिच्छवी कुमारिका खत्तियफीता जातिसम्पन्ना। भाग २ पृ० ५।

‡ जैकोबी कल्पसूत्र—से बु० इ २२ पृ० २२६।

§ बी० सी ला—क्षत्रिय ट्राइब्स आव इन्सेन्ट इण्डिया अ० ५ पृ० १२।

‖ राकहिल—लाइफ आव बुद्ध पृ० ९७।

× इ० ए० भा० ३७ पृ० ७९।

+ रामायण बालकाण्ड ४७।७।

(थ) सूत्रकृताङ्ग में लिखा है कि वैशाली का कोई क्षत्रिय भी संघ में प्रवेश करे तो उसे उच्च जाति होने के कारण अधिक आदर नहीं मिल सकता÷।

(द) सातवीं शताब्दी में भारत में भ्रमण करनेवाले बौद्ध चीनी यात्री ह्वेनसाङ्ग ने नेपाल के शासक लिच्छवियों को क्षत्रिय लिखा है✽।

(ध) तिब्बती भाषा के प्राचीन ग्रन्थ 'दुल्व' में लिच्छवियों को वशिष्ठगोत्री क्षत्रिय कहा गया है†।

(न) मनु ने भी लिच्छवियों को क्षत्रिय माना है परन्तु बौद्धधर्म स्वीकार कर लेने से इन्हें 'व्रात्य क्षत्रिय' कहा है‡।

इन ऊपर लिखे प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि लिच्छवि लोग क्षत्रिय थे। उनके क्षत्रियत्व पर अब किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता। अतः लिच्छवि अपने समय के प्रबल पराक्रमी क्षत्रिय शासक सिद्ध होते हैं। इन्हीं प्रतापी लिच्छवियों की एक राजकुमारी से चंद्रगुप्त प्रथम का विवाह हुआ था। यदि हम गुप्तों को शूद्र तथा जाट (जैसा कि जायसवाल मानते हैं) मानें तो क्या यह संभव है कि इन वीर, क्षत्रिय जाति के अभिमानी तथा भगवान् बुद्ध के सामने क्षत्रियत्व का दम भरनेवाले लिच्छवियों ने अपनी राजकुमारी का विवाह किसी नीच जाति के जाट से किया होगा? यह बात कल्पना के परे है। उस प्राचीनकाल में जब जाति का अभिमान प्रत्येक क्षत्रिय की नस-नस में भरा रहता था, जिस समय अपनी पुत्री का विवाह अपने से उच्च वंश में करने की प्रथा थी, उसी काल में क्षत्रियधर्माभिमानी लिच्छवि अपने से नीच कुल में राजकुमारी कुमारदेवी का ब्याह कैसे कर सकते थे? धर्म-शास्त्रों में प्रतिलोम विवाह सर्वदा हीन दृष्टि से देखा जाता है। प्रतिलोम प्रथा से उत्पन्न बालक वर्णसङ्कर माना जाता है। क्षत्रिय ही क्यों ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र भी अनुलोम प्रथा के अनुसार अपने से उच्च वंश में ही वैवाहिक सम्बन्ध करते हैं। प्रतिलोम की प्रथा निन्दनीय होने पर यह सम्भव नहीं है कि प्राचीन क्षत्रिय लिच्छवी अपने से नीच वंश में विवाह करते। इस विवाह से उत्पन्न वर्णसंकरों की ख्याति तथा यश का विस्तार होना असम्भव है, जैसा कि गुप्तकाल में राजा प्रजा की उन्नति तथा कीर्त्ति वर्तमान थी। अतएव क्षत्रिय लिच्छवियों के वंश में विवाह के कारण यह अनुमान सर्वथा सत्य ज्ञात होता है कि गुप्त नरेश भी क्षत्रिय थे।

द्वितीय चन्द्रगुप्त ने अपना विवाह एक क्षत्रिय नागराज की कन्या कुबेरनागा से किया और इसी ने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह ब्राह्मण राजा वाकाटक द्वितीय रुद्रसेन से किया था‖। यह विवाह अनुलोम प्रथा के अनुसार शास्त्र-सम्मत था अतएव वैदिक धर्मानुयायी

÷ जैकोबी-जैनसूत्र-२. से० बु० इ० भा० ४५ पृ० ३२।

✽ वाटर—ह्वेनसाङ्ग की यात्रा भाग २, पृ० ८४।

† राकहिल—लाइफ आव बुद्ध—पृ० ९०।

‡ झल्लो मल्लश्च राजन्याद्व्रात्यान्निच्छवि (लिच्छिवि) रेव च। मनु० १०।२२।

‖ चम्बक ताम्रपत्र (गु० ले० भा० ३)।

वाकाटकों को इस प्रकार का सम्बन्ध उचित ज्ञात हुआ। ब्राह्मण वाकाटक नीच वंश में विवाह नहीं कर सकते थे।

इन समस्त प्रमाणों के आधार पर यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि गुप्त सम्राट् अवश्य ही क्षत्रिय थे। किसी को इन राजाओं के नाम के आगे 'गुप्त' शब्द देखकर घबराना नहीं चाहिए तथा इन्हें वैश्य नहीं समझना चाहिए। गुप्त सम्राटों के आदि पुरुषों का नाम 'गुप्त' था। अतः उनके वंशज होने के कारण इन नरेशों ने अपने नाम के आगे 'गुप्त' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ किया। गुप्त-नामान्त† होने से इनके वैश्य होने की धारणा निराधार तथा भ्रम-मूलक है। अतएव गुप्त नरेश न तो जाट थे, न शूद्र और न वैश्य। इनका क्षत्रिय होना निर्विवाद सिद्ध होता है।

गुप्त राजाओं के आदि स्थान के विषय में अभी तक विद्वानों में एक मत रहा है कि वे मगध में निवास करते थे‡। अलन का विश्वास है कि गुप्त द्वारा निर्मित चीनी मंदिर तथा दान की भूमि (२४ ग्राम) मगध में स्थित रही जहाँ श्री गुप्त शासन करता था। अब उस विषय पर विचार करते समय पुराने मत से भिन्न स्थिति पैदा हो गई है। सातवीं सदी में कोरियन यात्री, ह्यू ल्यून भारत आया था जिसके यात्रा विवरण का चीनी यात्री इत्सिंग ने उल्लेख किया है। वह उत्तरी मार्ग से आया था और उत्तरी भारत में मार्ग का वर्णन करते महाबोधि का नाम लिया है तथा आगे लिखा है कि गंगा के किनारे मृग शिखावन मंदिर था जिसके समीप ही चीनी मंदिर के अवशेष थे। जनश्रुति के आधार पर यह कहा जाता है कि इस मंदिर को श्री गुप्त ने तैयार कराया था§। मृग शिखावन तथा चीनी मंदिर की दूरी इत्सिंग के अनुसार ४० स्टेज था। इस आधार पर डा० गांगूली ने यह मत प्रकट किया है कि मृग शिखावन मंदिर बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले में स्थित था‖। इसको वरेन्द्र के उसी नाम के स्तूप से समता करते हैं जो भागीरथी तथा पद्मा नदी के किनारे स्थित रहा होगा। इसी दूरी तथा नाम को लेकर गुप्तों के स्थान सम्बन्ध में विवाद खड़ा हो गया है()। सबसे प्रमुख विषय यही है कि मृग शिखावन की

गुप्तों का स्थान

---

† पुराणों में निम्नलिखित पद्य पाया जाता है —

शर्मान्तं ब्राह्मणस्येदं वर्मान्तं क्षत्रियस्तु वै।
गुप्तदासात्मकं नाम, प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः॥ —विष्णु पुराण।

कुल्लूक ने मनु २.३२ पर उद्धृत किया है।

‡ रायचौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री पृ० ४४३; स्मिथ अर्ली हिस्ट्री पृ० २९५; अलन—सूचीपत्र पृ० १५ (कै० क० गु० डा०); बनेर्जी–दि एज आफ इम्पीरिल गुप्त पृ० ४

§ जीवनी पृ० ३६

‖ इ० हि० क्वा० भा० १४ पृ० ५३२

() जा० वि० रि० सो० भा० ३७ (पार्ट ३-४) पृ० वही पृ० ४१०-४२८ १३८-१४४

स्थिति कहाँ मानी जाय। नालंदा को अधिकतर विद्वान मानते रहे हैं। दूसरा मत मुर्शिदाबाद (बंगाल) के पक्ष में है किन्तु तीसरा मत इसे कहीं उत्तर-प्रदेश में मानता है। मृग शिखावन मंदिर मृगदाव (सारनाथ) में स्थित माना जा सकता है। पुराणों में गुप्तराज्य का वर्णन करते समय प्रयाग का नाम पहले मिलता है और सबसे बाद में मगध का नाम उल्लिखित है। इस कारण यह अनुमान किया जा सकता है कि गुप्त लोग उत्तर-प्रदेश में कहीं रहते थे। श्री गुप्त ने चीनी मंदिर सारनाथ के समीप बनवाया था न कि नालंदा के समीप। गुप्त लोग उत्तर-प्रदेश से मगध में जाकर राज्य करने लगे। पहले स्यात् सामंत रहे होंगे। बाद में लिच्छवि लोगों के कारण शक्ति बढ़ी और प्रथम चन्द्रगुप्त ने स्वतंत्र होकर महाराजाधिराज की पदवी धारण की। इस परिस्थिति में गुप्तों के स्थान के विषय में निश्चित मत नहीं व्यक्त किया जा सकता।

आदि-काल

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(१) गुप्त

गुप्त-वंशीय शिलालेखों में आदिपुरुष का नाम महाराजा श्रीगुप्त मिलता है*। ऐतिहासिक पण्डितों में इस बात का मतभेद है कि गुप्तवंश के आदि-पुरुष का नाम 'श्रीगुप्त' या केवल 'गुप्त' था। अधिकतर विद्वानों (अलन तथा जायसवाल) की यही धारणा है कि गुप्तों के आदि-पुरुष का नाम केवल 'गुप्त' था†। शिलालेखों में 'गुप्त' नाम के साथ 'श्री' शब्द सम्मानसूचक है। जिस स्थान पर श्री शब्द व्यक्तिगत नाम से सम्बन्ध रखता है उस स्थान पर दो श्री शब्दों का उल्लेख मिलता है। देववर्णाक के लेख में 'श्रीमती' के साथ श्री शब्द भी सम्मान के लिए उल्लिखित है‡। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि आदि गुप्त-नरेश का नाम केवल 'गुप्त' था।

नाम-निर्णय

कई विद्वान् अनुमान करते हैं कि गुप्तवंश के आदि-पुरुष का जो नाम था; गुप्त शब्द उसी का अंतिम भाग था। प्रायः जो नाम दो शब्दों के संयोग से बने रहते हैं उनमें कभी पहले अंश या कभी दूसरे अंश से ही उस व्यक्ति का बोध हो जाता है तथा पूरे नाम का तात्पर्य भी निकल आता है। ऐसी अवस्था में यह सम्भव है कि उसके नाम के प्रथम अंश को छोड़कर केवल दूसरे अंश (गुप्त) का ही प्रयोग होने लगा और वह उसी नाम से प्रसिद्ध हो गया।

यदि गुप्त वंश के आदि-पुरुष 'गुप्त' के नाम की प्रामाणिकता पर विचार किया जाय तो उपरियुक्त अनुमानों पर सिद्धान्त स्थिर करना न्याय-संगत नहीं होगा। शिलालेखों के अतिरिक्त पुराण से भी 'गुप्त' नाम की पुष्टि होती है। वायुपुराण में गुप्त-वंश की राज्यसीमा बतलाते हुए 'भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः' (गुप्त के वंशज इस पर शासन करेंगे) का उल्लेख मिलता है§। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि गुप्त वंश के आदि-राजा का नाम 'गुप्त' था। इसके वंशजों ने अपने राजवंश का नाम इसी के नाम पर 'गुप्त वंश' ही निर्धारित किया।

महाराजा गुप्त के विषय में लेखों के अतिरिक्त इत्सिंग के कथन द्वारा प्रकाश पड़ता है। इत्सिंग नामक बौद्ध चीनी सातवीं शताब्दी में भारतवर्ष में भ्रमण करने आया था। उसने वर्णन किया है‖ कि पाँच सौ वर्ष पहले चेलिकेतो नामक एक महाराजा ने मृगशिखावन के समीप एक मंदिर का निर्माण किया था। वह मंदिर विशेषतया चीनी यात्रियों के निवास करने के निमित्त था तथा

चेलिकेतो = श्रीगुप्त

---

*महाराजा श्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराजश्रीघटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त-पुत्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य (गु० ले० न० १)।

†जायसवाल—हिस्ट्री आफ इण्डिया (१५०-३५०) पृ० ११३। अलन-कै० आफ इ० क्वा० गु० डा० भूमिका पृ० १६।

‡परमभट्टारिकायां राज्ञ्यां महादेव्यां श्री श्रीमती देव्यामुत्पन्ना, का० इ० इ० भा० ३ न० ४६।

§वा० पु० ९९।३८३।

‖इ० ए० भा० १० पृ० ११०।

उसके प्रबंध के लिए महाराजा ने चौबीस ग्राम दान में दिये थे। इतिहासज्ञ इत्सिंग के महाराजा चेलिकेतो को श्रीगुप्त का चीनी अनुवाद मानते हैं। अलन इत्सिंग-कथित महाराजा श्रीगुप्त की समता गुप्तों के प्रथम राजा गुप्त से बतलाते हैं‡। यदि यह समीकरण सत्य है तो गुप्त का समय ई० स० की दूसरी शताब्दी मानना पड़ेगा (७००—५००)। ऐतिहासिक विद्वानों ने गुप्त वंश का उत्थान तीसरी शताब्दी में निश्चित किया है। ऐसी अवस्था में इत्सिंग-वर्णित राजा श्रीगुप्त तथा गुप्तों के प्रथम राजा गुप्त में एक शताब्दी का अंतर दिखलाई पड़ता है। इस उपरियुक्त—नाम तथा समय के—अंतर के कारण फ्लीट इन दोनों राजाओं को भिन्न व्यक्ति मानते हैं। फ्लीट के इस वाद-विवाद में कुछ सार नहीं ज्ञात होता। प्रथम तो इत्सिंग के वर्णित श्रीगुप्त नाम पर कोई विशेष विचार नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह एक चीनी यात्री था, उसके हृदय में भारत के प्रति प्रेम तथा आदर था। उस राजा के प्रति उसके कितने उज्ज्वल भाव होंगे जिसने चीनी यात्रियों के लिए धर्मशाला बनवाई थी। ऐसी दशा में उसने राजा गुप्त को श्रीगुप्त लिख दिया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। दूसरा विचार इत्सिंग कथित समय पर है। समय-निरूपण करते हुए इत्सिंग-वर्णित 'पाँच सौ वर्ष' पर अक्षरशः विचार नहीं किया जा सकता। इसका प्रयोग यहाँ निश्चित काल-निरूपण के लिए नहीं किया गया है; बल्कि केवल अनिश्चित भूत काल के प्रकट करने के लिए किया गया प्रतीत होता है। इन सब कारणों से इत्सिंग वर्णित 'श्री गुप्त' तथा गुप्तवंशी आदि-राजा 'गुप्त' में कोई भी भेद नहीं है। यदि दोनों व्यक्ति भिन्न-भिन्न थे और गुप्त वंश का आदिपुरुष इत्सिंग-कथित श्रीगुप्त नहीं था तो इत्सिंग के श्रीगुप्त का स्थान गुप्त-वंशावली में ढूँढ़ना होगा। परंतु श्रीगुप्त नामधारी दूसरा कोई भी गुप्त नरेश गुप्त वंश में विद्यमान नहीं था। यदि दोनों व्यक्ति समकालीन थे तो एक ही नाम के और एक ही समय तथा स्थान में इनका राज्य करना असंभव है। इन सब कारणों से गुप्तों के आदिपुरुष तथा इत्सिंग-कथित श्रीगुप्त एक ही व्यक्ति थे, यह निर्विवाद है।

अलन आदि विद्वानों का कथन है कि महाराजा गुप्त पाटलिपुत्र तथा उसके समीपस्थ प्रदेशों पर शासन करता था। संभवतः इसका शासन ई० स० २६०—८० के लगभग तक विस्तृत था जो कुषाणों के नाश होने पर स्वतंत्र हो गया‖। जायसवाल का अनुमान है कि गुप्त एक सामंत राजा था जो भारशिव राजाओं के अधीन होकर प्रयाग के समीप राज्य करता था()। श्री राखालदास बनर्जी का मत है कि प्रथम दोनों नरेशों की पदवी महाराज की थी। अतएव वे सामंत थे और कुषाणों के अधीन होकर राज्य करते थे[]। किन्तु अधिक सबल प्रमाण के अभाव में कोई मत निश्चित नहीं किया जा सकता। इस बात को पुष्ट किया गया है कि पंजाब में यौधेय,

‡ गुप्त क्वायन इन ब्रिटिश म्यूजियम, भूमिका पृ० १५।

‖ वह भूमिका पृ० १६।

() हिस्ट्री आफ इण्डिया (१५०-३५० ई०) पृ० ११३ व ११५।

[] एज आफ इम्पीरियल गुप्त पृ० २।

पद्मावती के पास नाग राजा तथा कौशाम्बी के मग नरेशों ने तीसरी सदी में कुषाणों को परास्त किया था। इसलिये यह मानना अनुचित होगा कि गुप्त तथा घटोत्कच (महाराज पदवी के कारण) कुषाण के अधीन थे।

इस गुप्त राजा की एक मिट्टी की मुहर मिली है जिसपर 'श्रीगुप्तस्य' लिखा है। डा० हार्नले का अनुमान है कि यह मुहर गुप्तों के आदिपुरुष 'गुप्त' की है*।

(२) घटोत्कच

महाराज घटोत्कच गुप्तवंश के द्वितीय राजा थे। ये महाराज 'गुप्त' के पुत्र थे।

परिचय

गुप्त शिलालेखों में इनके नाम के आगे गुप्त शब्द नहीं मिलता है।

बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर जिले में वैशाली से बहुत सी प्राचीन मुहरें मिली हैं जिनमें से एक मुहर पर 'श्रीघटोत्कचगुप्तस्य' ऐसा खुदा हुआ है। डा० ब्लाख का अनुमान है कि ये मुहरें इसी घटोत्कच की हैं तथा इस गुप्तवंश के द्वितीय महाराजा श्री घटोत्कच तथा वैशाली मुहर के श्री घटोत्कच गुप्त को वे एक ही व्यक्ति मानते हैं†।

परन्तु डा० ब्लाख के विचार, इन दोनों मुहरों पर के नाम तथा समय आदि का विशेष रीति से अनुसन्धान करने पर, कसौटी पर ठीक ठीक नहीं उतरते हैं। सबसे प्रथम द्वितीय

महाराज घटोत्कच तथा घटोत्कच गुप्त—दोनों की भिन्नता

चन्द्रगुप्त के समय में वैशाली में गुप्तों के प्रतिनिधि नियुक्त किये गये। वहाँ बहुत सी मुहरें प्राप्त हुई हैं जिनपर महादेवी ध्रुवदेवी का नाम खुदा हुआ है‡। ध्रुवस्वामिनी द्वितीय चन्द्रगुप्त की धर्मपत्नी थीं। अतः उन मुहरों पर उसका नाम (ध्रुवस्वामिनी) उनके पति ने खुदवाया होगा या उनके पुत्र गोविन्द गुप्त के द्वारा उत्कीर्ण किया गया होगा। द्वितीय चन्द्रगुप्त का समय पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में माना जाता है। अतएव वैशाली की वे मुहरें भी इसी समय में खुदवाई गई होंगी। घटोत्कच गुप्त की मुहर तथा ध्रुवस्वामिनी की मुहरें समकालीन हैं। अतएव गुप्तवंश के द्वितीय राजा घटोत्कच तथा वैशाली के मुहर वाले श्री घटोत्कच गुप्त के काल में बहुत अन्तर पड़ता है। अतः इन दोनों का एकीकरण सम्भव नहीं है।

गुप्तवंश के द्वितीय राजा ने 'महाराज' की पदवी धारण की थी। परन्तु वैशाली की मुहरों पर 'श्रीघटोत्कचगुप्तस्य' के साथ 'महाराज' शब्द नहीं मिलता। नाम के पूर्व विद्यमान 'श्री' शब्द केवल सम्मानसूचक है। इससे प्रकट होता है कि मुहरवाला 'घटोत्कचगुप्त' चन्द्रगुप्त का समकालीन, वैशाली का कोई प्रांतपति था जिसका सम्बन्ध सम्भवतः गुप्त-परिवार से था।

* जे० आर० ए० एस० १९०५, पृ० ८१४।

† आ० स० रि० १९०३-४ पृ० १०२, जे० आर० ए० एस० १९०५, पृ० १५३।

‡ महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तपत्नी महाराजाश्रीगोविन्दगुप्तमाता महादेवी श्री ध्रुवस्वामिनी।

यह भी सम्भव है कि वह कोई गुप्तवंशीय राजकुमार हो; क्योंकि उस समय में राजकुमार भी यदा-कदा प्रदेशों के नायक रहा करते थे। इस विषय की पुष्टि ग्वालियर राज्य में स्थित तुमैन में प्राप्त एक गुप्त-शिलालेख से होती है*। इस लेख की तिथि गुप्त संवत् ११६ है और इसमें द्वितीय चन्द्रगुप्त, कुमारगुप्त तथा घटोत्कचगुप्त का उल्लेख पाया जाता है। अतः इस घटोत्कच-गुप्त का निर्दिष्ट समय गु० सं० ११६ (सन् ४३६ ई०) होगा। इस कारण लेख में उल्लिखित घटोत्कचगुप्त गुप्तवंशीय द्वितीय महाराज घटोत्कच से सर्वथा भिन्न है। यह घटोत्कचगुप्त कुमार-गुप्त का छोटा भाई था तथा इसके राज्यकाल में वह मालवा का शासक था।

गुप्तवंशीय शिलालेखों में महाराज घटोत्कच के नाम के साथ 'गुप्त' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। यदि ये दोनों नाम (महाराज घटोत्कच तथा घटोत्कचगुप्त) एक ही व्यक्ति के होते तथा एक ही व्यक्ति के लिए इनका प्रयोग किया जाता तो मुहर तथा शिलालेखों में इतनी विभिन्नता न मिलती। दोनों स्थानों में एक प्रकार का ही नाम मिलना चाहिए था तथा इस नाम की विषमता का अवश्य ही कोई विशेष कारण होगा। अतः इन सब प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि गुप्तवंशीय द्वितीय महाराजा घटोत्कच तथा वैशाली की मुहर वाले घटोत्कचगुप्त में कोई समता नहीं है। ये दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति थे तथा इनकी सत्ता भिन्न भिन्न शताब्दियों में विद्यमान थी।

महाराज घटोत्कच की मुद्रा

रूस की राजधानी लेनिनग्रेड (सेंटपीटर्सवर्ग) में एक मुद्रा की उपलब्धि हुई है जिस पर गुप्त-अक्षरों में कुछ खुदा हुआ है। उस पर एक राजा की मूर्ति भी अंकित है तथा उसकी भुजा के नीचे 'घटो' शब्द खुदा हुआ है। किन्तु यह प्रमाणित किया जा चुका है कि यह मुद्रा घटोत्कच की नहीं है।

इस राजा के विषय में हमारी जानकारी कुछ विशेष नहीं है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि गुप्तवंशीय सर्वप्रथम राजा 'गुप्त' के अनन्तर यह गुप्त-राज्य का शासक बना। वह कोई नगण्य व्यक्ति न था। बुंदेलखण्ड से प्राप्त एक प्रशस्ति में गुप्तवंश की उत्पत्ति घटोत्कच से उल्लिखित है। उसमें गुप्त का नाम नहीं मिलता†। सम्भवतः घटोत्कच ने अपने राज्य की प्रतिष्ठा बढ़ाई और राजनीतिक प्रभाव के कारण ही अपने पुत्र प्रथम चन्द्र-गुप्त का विवाह लिच्छवी राजकुमारी कुमारदेवी से सम्पन्न किया था। सम्भवतः यह गुप्त राजा २८०-३०० ई० तक शासन करता रहा।

(३) प्रथम चन्द्रगुप्त

गुप्त वंश का प्रभावशाली तथा वास्तविक संस्थापक घटोत्कच का पुत्र व उत्तराधिकारी प्रथम चन्द्रगुप्त ही था। लिच्छवि वंश की राजकुमारी इसकी पट्टमहिषी थी। सम्भवतः उस प्रजातंत्र शासन की सहायता से वह सम्राट् के पद तक पहुँच सका। इस तरह का प्रभाव तथा

---

* इ० ए० १९२०, पृ० ११४।

† १२वां आल इंडिया ओरियंटल कान्फरेंस बनारस प्रोसिडिंग पृ० ५८८

शक्ति की वृद्धि से प्रथम चन्द्रगुप्त विशाल राज्य कायम कर सका तथा 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की।
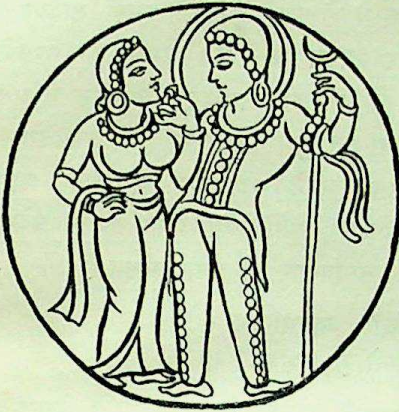
प्रथम चन्द्रगुप्त तथा कुमार देवी की मुद्रा

लिच्छवियों से वैवाहिक संबंध

वैशाली में लिच्छवियों का एक अति प्राचीन प्रजातन्त्र राज्य था। प्रथम चंद्रगुप्त ने इन्हीं सुप्रसिद्ध लिच्छवियों की वंशजा कुमारदेवी नामक राजकुमारी का पाणिग्रहण किया। यह घटना गुप्त-साम्राज्य के इतिहास में एक विशेष महत्त्व रखती है क्योंकि यहीं से गुप्तों का उत्कर्ष प्रारंभ होता है। इसी घटना के अनन्तर गुप्तवंश के भाग्य का सितारा चमका तथा राज्यलक्ष्मी स्थायी रूप से इनके यहाँ सहचरी बनकर निवास करने लगी। समुद्रगुप्त (जो प्रथम चंद्रगुप्त का पुत्र था) की प्रयागवाली प्रशस्ति में उनकी माता का नाम कुमारदेवी मिलता है तथा उन्हें 'लिच्छवी-दौहित्र' कहा गया है*। प्रथम चंद्रगुप्त का एक सोने का सिक्का भी मिला है जिस पर चंद्रगुप्त तथा कुमारदेवी का चित्र अंकित है। (देखिए ऊपर का चित्र) सिक्के पर 'चंद्रगुप्त तथा श्रीकुमारदेवी लिखा है तथा उसी सिक्के की पीठ पर 'लिच्छवयः' शब्द उत्कीर्ण है। इन कारणों से ऐतिहासिकों ने प्रथम चंद्रगुप्त का विवाह संबंध लिच्छवी-राजकुमारी कुमारदेवी से माना है। इस विवाह का क्या कारण था, यह विवादास्पद है। क्या लिच्छवी लोगों ने महाराजाधिराज प्रथम चंद्रगुप्त को योग्य तथा यशस्वी राजा समझकर अपनी वंशजा से इसकी शादी की थी अथवा किसी युद्ध में सन्धि के फलस्वरूप। कीलहार्न का मत है कि लिच्छवी लोगों का संबंध पाटलिपुत्र से भी था†। कुमारदेवी के विवाह पश्चात् प्रथम चंद्रगुप्त ने अपने संबंधी लिच्छवियों से मगध का राज्य पाया। जान अलन इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनका कथन यह है कि पाटलिपुत्र तो पहले ही से गुप्तों के शासन में था। जहाँ पर सर्वप्रथम गुप्त राजा 'गुप्त' शासन करता रहा। प्रथम चंद्रगुप्त ने सम्भवतः वैशाली पर आक्रमण करके लिच्छवियों को पराजित किया। जिसके फलस्वरूप कुमारदेवी का विवाह

*लिच्छवीदौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तस्य।

†ना० इ० इ० न० ५४१।

चंद्रगुप्त से हो गया‡। 'कौमुदी महोत्सव' नामक नाटक के आधार पर जायसवाल ने मगध-कुल के वैरी लिच्छवियों से प्रथम चंद्रगुप्त का विवाह सुन्दरवर्मन् के विरोध-स्वरूप माना है※।

चंद्रगुप्त के पिता तथा पितामह साधारण राजा थे जो पाटलिपुत्र तथा इसके समीपवर्ती प्रदेशों (दक्षिणी विहार तथा पश्चिमी बंगाल) पर शासन करते थे। प्रथम चन्द्रगुप्त ने अपने पराक्रम से शत्रुओं को जीतकर पाटलिपुत्र में फिर से एक साम्राज्य की नींव डाली तथा उस शुभ अवसर पर 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की। उसने अपने राज्य-सीमा का विस्तार गङ्गा तथा यमुना के संगम तक किया। तिरहुत, दक्षिण विहार, अवध तथा प्रयाग तक के प्रदेश इसके राज्य के अन्तर्गत थे†। पुराणों में इसके राज्य का विस्तार इस प्रकार वर्णित है।—

राज्य-विस्तार

अनुगङ्गा प्रयागं च, साकेतं मागधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान्, भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः‡‡॥

श्री कृष्णस्वामी ऐयङ्गर का कथन है कि लिच्छवी राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह के पश्चात् वैशाली भी गुप्तों के राज्य के अन्तर्गत हो गया[] परन्तु पौराणिक वर्णनों से प्रतीत होता है कि वैशाली प्रथम चन्द्रगुप्त के राज्य के अन्तर्गत नहीं था। प्रथम चन्द्रगुप्त से पूर्व गुप्त नरेशों ने पाटलिपुत्र तथा इसके समीप के प्रदेशों पर ही राज्य किया था तथा प्रथम चन्द्रगुप्त ने भी इन्हीं प्रदेशों पर शासन किया। क्योंकि प्रथम चन्द्रगुप्त के मृत्यु पश्चात् लिखी गई सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयागवाली प्रशस्ति में भी वैशाली नाम नहीं मिलता। अतः वैशाली को प्रथम चन्द्रगुप्त के राज्य के अन्तर्गत मानना न्यायसंगत नहीं है। सबसे पहले गुप्तवंशीय राजा द्वितीय चंद्रगुप्त (विक्रमादित्य) के शासन-काल में वैशाली गुप्त राज्य के अन्तर्गत आया। जहाँ पर इस राजा ने अपना प्रांतपति नियुक्त किया था()।

सम्भवतः प्रथम चन्द्रगुप्त ने राज्याभिषेक के अवसर पर 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की। इससे पहले गुप्त राजाओं की पदवी केवल महाराज थी। शिलालेखों में पूर्व के दोनों राजाओं की यही उपाधि उपलब्ध होती है|। प्रथम चन्द्रगुप्त के राजा होने के समय से ही गुप्त-काल-गणना प्रारम्भ होती है तथा यही गुप्त-संवत् के नाम से पुकारा जाता है जो ३१९-२० ई० से प्रारम्भ हुआ होगा। गुप्त-संवत् की स्थापना चन्द्रगुप्त के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

गुप्त-संवत्

---

‡ अलन—गुप्त क्वायन्स इन ब्रिटिश म्यूजियम।

※ जायसवाल—हिस्ट्री आफ इंडिया (१५० ३५० ई०) पृ० ११४।

† स्मिथ—अरली हिस्ट्री आफ इंडिया पृ० २८०।

‡‡ वायुपुराण—अ० ९९ श्लोक ३८३। ब्रह्मांड पुराण—३।७४।१९५।

[] कृष्णस्वामी ऐयङ्गर—स्टडीज़ इन गुप्त हिस्ट्री पृ० ४८।

() वैशाली की मुहरें—आ० स० रि० १९०४-५।

| फ्लीट—का० इ० इ० भा० ३. (नं० १, ४, १० तथा १३) ; महाराजश्रीगुप्त प्रपौत्रस्य महाराजश्रीघटोत्कच पौत्रस्य महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य।

गुप्तवंशीय जितने शिलालेख मिले हैं उनमें जो काल-गणना दी गई है वह सब गुप्त-संवत् से सम्बन्धित है।

दक्षिण-भारत से प्राप्त 'कौमुदी-महोत्सव' नामक नाटक में चण्डसेन नामक एक व्यक्ति का उल्लेख मिलता है जिसने मगध के राजा सुन्दरवर्मन् से विद्रोह कर, उसे युद्ध में मारकर, स्वयं राजसिंहासन पर आसन जमा लिया था। कुछ समय के पश्चात् सुन्दरवर्मन् के पुत्र कल्याणवर्मन् को लोगों ने सिंहासन पर बैठाया* तथा चण्डसेन के विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी। इस युद्ध के फलस्वरूप चण्डसेन को मगध छोड़कर भाग जाना पड़ा तथा उसने अयोध्या में शरण ली†। जायसवाल इसी चण्डसेन को प्रथम चन्द्रगुप्त से समता करते हैं। कौमुदी-महोत्सव के इस साहित्यिक प्रमाण के अतिरिक्त ऐसा कोई भी अन्य प्रमाण नहीं मिला है जिससे इस बात की पुष्टि होती हो। ऐसी अवस्था में जायसवाल के सिद्धान्त में कितना ऐतिहासिक सत्य है इसे वस्तुतः कहना कठिन कार्य है।

चन्द्रगुप्त-चण्डसेन

प्रथम चन्द्रगुप्त कुमार देवी से उत्पन्न समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी घोषित करके ई० स० ३३० के समीप परलोक सिधारा। प्रयाग की प्रशस्ति में निम्नलिखित श्लोक के आधार पर यह मत प्रकट किया गया है कि समुद्रगुप्त के निमित्त प्रथम चन्द्रगुप्त ने स्वतः गद्दी त्याग दी‡।

स्नेह व्याकुलितेन वाष्प गुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा।
यः पित्राभिहितो निरिक्ष्यनिखिलां पाह्येव मुर्वीमिति[] ॥

अन्य किसी प्रमाण से इसकी पुष्टि करना सम्भव नहीं है।

---

*प्रकटितवर्णाश्रमपथमुन्मूलितचण्डसेनराजकुलम्। कौ० म० अं० ५।

†जायसवाल—हिस्ट्री आफ इंडिया पृ० ११९।

‡इ० क० भा० १४ पृ० १४१—५०

[]प्रयाग प्रशस्ति श्लोक ४

———

उत्कर्ष-काल

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

गुप्तों का उत्कर्ष-काल सन् ३५० ई० से लेकर ४६७ ई० तक माना जाता है। इस महत्त्वपूर्ण काल में पाँच राजाओं ने (१) समुद्रगुप्त, (२) रामगुप्त, (३) द्वितीय चंद्रगुप्त (विक्रमादित्य), (४) प्रथम कुमार गुप्त तथा (५) स्कंदगुप्त क्रमशः

उपक्रम

राज्य किया। आदि-काल में गुप्त नरेश केवल पाटलिपुत्र के आस-पास ही राज्य करते थे। परन्तु इस उत्कर्ष काल में इनका राज्य-विस्तार फैला तथा क्रमशः गुप्त नरेशों ने एकराट् साम्राज्य स्थापित कर लिया। आदि-काल में साम्राज्य स्थापना की भावना केवल स्वप्न मात्र थी परंतु वह इस काल में एक निश्चित सत्य हो गई। इस काल में प्रादुर्भूत समुद्रगुप्त आदि प्रबल प्रतापी राजाओं ने अपनी विजयपताका सुदूर दक्षिण में भी फहराई तथा प्रायः समस्त भारत को प्रभावित किया। इन्हीं नरेशों ने समस्त राजाओं को परास्त कर भारत में पुनः एकछत्र राज्य की स्थापना की। इतना ही नहीं, शस्त्र से रक्षित राष्ट्र में इन्होंने शास्त्र की चिन्ता भी प्रवर्तित की। इसी काल में कालिदास आदि महाकवि भी उत्पन्न हुए जिनकी कीर्त्तिलता आज भी हजारों वर्षों के बाद लहलहा रही है। इन राजाओं ने सर्वप्रथम संस्कृत में ही शिला तथा ताम्रलेख उत्कीर्ण करने की प्रथा प्रवर्तित की। लेखों की कौन कहे, सिक्कों पर भी इन्होंने संस्कृत में मुद्रा-लेख उत्कीर्ण कराया। भारतीय इतिहास में ऐसा उदाहरण अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

साहित्य के सिवा इन नरेशों ने ललित कला को प्रोत्साहन दिया। गुप्तकालीन कला के नमूने आज भी उपलब्ध हैं तथा तत्कालीन कुशल कलाकारों के हाथ की सफाई बतला रहे हैं। गुप्त-कालीन चित्रकारों की तूलिका किस कुशल कलाविद को आश्चर्य के चक्कर में नहीं डाल देती? इस युग में भारतीय संस्कृति का पूर्ण विस्तार हुआ।

प्रथम चन्द्रगुप्त की मृत्यु पश्चात् उसका सुयोग्य पुत्र समुद्रगुप्त राज्यसिंहासन पर बैठा। जैसा कहा गया है कि प्रयाग की प्रशस्ति* के आधार पर यह मत निश्चित किया जाता है कि समुद्र को प्रथम चन्द्रगुप्त ने राज्य का उत्तराधिकारी चुना था। सम्भवतः काच उसका ज्येष्ठ भ्राता था जो राज्य के लिए उत्सुक था किन्तु योग्यता तथा राज्य प्रबन्ध की क्षमता रखने के कारण समुद्रगुप्त सिंहासन का स्वामी घोषित किया गया। सम्भव है उसके बाद राज्याधिकार का गृहयुद्ध हुआ हो जिसमें काच थोड़े समय के लिये राजा बन बैठा†। इस कारण से उसने स्वर्ण मुद्रा भी तैयार करायी। यदि यह सही है तो यह मानना युक्तिसंगत होगा कि काच को हराकर समुद्र ने शासन को अपने हाथों ले लिया। जायसवाल के कथन में कोई सार नहीं दिखलायी पड़ता कि वाकाटक शासक ने काच को ई० स० ३३० में परास्त किया था और समुद्र उसका अधिनायक हो गया। वाकाटक राजा प्रवरसेन द्वारा गुप्त राज्य पर आक्रमण करने का कोई प्रमाण नहीं मिला है, अतः डा० जायसवाल का मत अमान्य हो‡ जाता है। संसार के दिग्विजयी राजाओं की नामावली में समुद्र का नाम एक विशेष स्थान रखता है। यह बड़ा

---

* प्रयाग की प्रशस्ति श्लोक ४

† ज० भ० ओ० रि० इ० स० भा० ९ पृ० ८३

‡ वही भा० ४ पृ० ३०–४०

ही पराक्रमी, शूर तथा रणकुशल राजा था। अपने प्रबल पराक्रम तथा विजयिनी बाहुओं के द्वारा इसने न केवल उत्तर भारत के बल्कि दक्षिणापथ के राजाओं को भी परास्त कर मगध का यशःस्तम्भ सुदूर दक्षिण में गाड़ दिया। जिस प्रकार इसकी रण-चातुरी शत्रुओं के हृदय में भय का संचार कर देती थी उसी प्रकार इसकी काव्य-मर्मज्ञता सहृदय रसिकों को आनन्द में मग्न कर देती थी। यह स्वयं एक महान् कवि तथा कवियों का गुणग्राही था। संगीत-शास्त्र से इसे विशेष अनुराग

समुद्रगुप्त का चरित्र

समुद्रगुप्त ध्वजधारी की मुद्रा

था तथा वीणा बजाने में यह कुशल समझा जाता था। इस प्रकार समुद्रगुप्त केवल एक विजयी वीर ही नहीं था प्रत्युत वह प्रतिभा, सम्पन्न कवि, वीणावादन कुशल तथा दानी भी था।

विद्या प्रेम

समुद्रगुप्त बहुत योग्य पुरुष था। इसकी योग्यता का पता इसी से चल सकता है कि पिता प्रथम चन्द्रगुप्त ने इसकी अलौकिक योग्यता पर मुग्ध होकर, दरबारियों के बीच में स्नेह से व्याकुलित और आनन्दाश्रु से भरे चक्षुओं से इसे देखकर तथा पुलकित-गात्र होकर 'पुत्र! उर्व्वीमिवं पाहि' ऐसा कहा था*। समुद्रगुप्त को विद्या से बड़ा अनुराग था। यह एक साधारण पढ़ा-लिखा पुरुष ही नहीं था परन्तु प्रगाढ़ विद्वान् था। यह काव्यकला में अत्यन्त प्रवीण तथा अन्य शास्त्रों में भी पारंगत पण्डित था। कवि हरिषेण ने इसकी प्रयागवाली प्रशस्ति में इसके लिए 'कविराज' शब्द का प्रयोग किया है†। महाकवि राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में लिखा कि अनेक प्रकार के कवि होते हैं, इनमें 'कविराज' का स्थान सबसे श्रेष्ठ है‡। 'कविराज' की उपाधि प्राचीन काल

* आर्यो हीत्युपगुह्य भाव पेशुनैरुत्कर्णितै रोमभिः,
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षितः।
स्नेहव्यालुलितेन वाष्पगुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा,
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति ॥-समुद्रगुप्त की, प्रयाग की प्रशस्ति।

† विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य।—वही।

‡ नेदिष्टा कविराजता ॥—राजशेखर, काव्यमीमांसा।

में बड़े-बड़े कवियों को दी जाती थी। राजशेखर ने साधारण कोटि के कवि के लिए 'जगति कतिपये' लिखा है। अतः समुद्रगुप्त के महान् कवि होने में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता। अनेक काव्यों के निर्माण अथवा कविता करने से यह विद्वान् पुरुषों का उपजीव्य भी बन गया था*। इसी लिए हरिषेण ने सत्य ही लिखा है कि 'अध्येयः सूक्तिमार्गः कविमतिविभवोत्सारणं चापि काव्यम्'‖। वस्तुतः इसकी कविता आदर्श-स्वरूप थी तथा कविमन्य और पण्डितम्मन्य पुरुषों को रिझाती थी। इसने अपने समस्त लेख संस्कृत (गद्य तथा पद्य दोनों) में लिखवाये तथा सर्वप्रथम संस्कृत में छंदवद्ध मुद्रा-लेख खुदवाया था※। यह घटना समुद्रगुप्त की सतत-काव्य-भक्ति का ज्वलन्त उदाहरण है। संसार के इतिहास में आज तक सिक्के पर किसी भी राजा का लेख छन्दोबद्ध रूप में नहीं मिलता। इसीलिए हरिषेण ने इसे कवितारूपी राज्य का भोग करनेवाला लिखा है†।

काव्य की कोमल-कान्त-पदावली से पूरित मानस में कर्कश तथा कठोर अन्य शास्त्रों का प्रवेश निषिद्ध था, ऐसी बात नहीं थी। काव्यकला का पारंगत पण्डित होने के सिवा उसकी तीक्ष्ण बुद्धि कठिन शास्त्रों के मर्मस्थल को बेध देती थी। वह शास्त्रों की गहराई तक पहुँचता था। वह शास्त्रों के अर्थ तथा उनके तत्त्व को भली भाँति जानता था इसीलिए हरिषेण ने उसे 'शास्त्र-तत्त्वार्थ का भर्ता' लिखा है‡।

शास्त्र-तत्त्व-भेदन

वास्तव में इसका प्रगाढ़ पाण्डित्य शास्त्रों के तत्त्वों को भेदन करनेवाला था() तथा इसकी पैनी बुद्धि शास्त्रीय ग्रन्थियों को कुतरनेवाली थी। इसी अपनी विश्लेषात्मिका बुद्धि के कारण इसका चित्त सर्वदा प्रसन्न रहता था□। इससे स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त की काव्य-कला-चातुरी जिस प्रकार सहृदय के हृदय को चुरानेवाली तथा उन्हें काव्य-सागर में गोता खिलानेवाली थी उसी प्रकार उसकी पैनी और तीक्ष्ण बुद्धि कठिन शास्त्रों की तह तक पहुँचने वाली थी तथा उनके गूढ़ तत्त्वों को भेदन करने वाली थी। जिस प्रकार उसके मानस में काव्य-समुद्र उमड़ा पड़ता था उसी प्रकार उसके मस्तिष्क में शास्त्र तत्त्वभेदि बुद्धि की कमी नहीं थी। इस प्रकार समुद्रगुप्त के हृदय तथा मस्तिष्क—दोनों—का प्रचुर विकास हुआ था।

परम काव्य-प्रेमी समुद्रगुप्त को संगीत से भी प्रेम था, क्योंकि काव्य प्रेमी का संगीत-प्रेमी

---

* विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्यक्रियाभिः।—प्रयाग की प्रशस्ति।

‖ वही।

※ अलन-गुप्त क्वायन्स पृ० २५।

† सत्काव्यश्रीविरोधान बुधगुणितगुणाज्ञाहतानेव कृत्वा,
विद्वल्लोके वि(.)स्फुटबहुकविताकीर्त्तिराज्यं भुनक्ति॥—प्रयाग की प्रशस्ति।

‡ शास्त्रतत्त्वार्थभर्तुः।—वही।

() वैदुष्यं तत्त्वभेदि। वही।

□ प्रज्ञानुषङ्गोचितसुखमनसः।—वही।

होना उचित तथा स्वाभाविक ही है। काव्य तथा संगीत का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। हरिषेण ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि इसने अपनी गन्धर्व-कला से देवताओं के गुरु तुम्बुरु तथा नारद को लज्जित कर दिया*। स्वर्ग-लोक में तुम्बुरु तथा नारद बहुत बड़े संगीतज्ञ समझे जाते हैं। परन्तु हरिषेण के कथनानुसार समुद्रगुप्त ने वीणा-वादन में इन दोनों को लज्जित कर दिया था। नारद जैसे वीणा-वाद्य-कुशल को लज्जित करना कोई साधारण खेल नहीं। समुद्रगुप्त के कुछ सोने के सिक्के मिले हैं जिनमें एक मंच के ऊपर बैठे हुए राजा की मूर्ति अंकित है। राजा धोती पहने है तथा वह हाथ में वीणा लिये बैठा है। इसके एक ओर 'महाराजाधिराज समुद्रगुप्त' लिखा है। इससे इसके संगीत-प्रेम का पूर्ण परिचय मिलता है। इस प्रकार समुद्रगुप्त जैसा काव्य का पुजारी था वैसा ही वह संगीत का परम प्रेमी था।

संगीत-प्रेम

समुद्रगुप्त-वीणाधारी

जिस प्रकार इसकी कीर्ति के लिए कोई स्थान अगम्य नहीं था उसी प्रकार इसके रथ के लिए कोई स्थान दुर्गम्य नहीं था। काव्यार्थशीलन में ही इसकी चातुरी सीमित नहीं थी बल्कि

* निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बुरुनारदादेः। प्रयाग की प्रशस्ति।

वह रणाङ्गण में भी अपना अजीब जौहर दिखाती थी। यह नरेश इतना प्रतापी था कि जिस दिशा में जाने पर सूर्य का तेज कम हो जाता है, उसकी प्रभा क्षीण हो जाती है, उसी दिशा में जाने पर इसका तेज और भी चमक उठा, मानों महाकवि कालिदास ने रघुवंश में रघु के व्याज से इसी सम्राट् के विषय में निम्नांकित विजय-वर्णन लिखा था—

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणास्यां रवेरपि।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः, प्रतापं न विषेहिरे॥

यदि गुप्तों के छोटे राज्य को साम्राज्य के रूप में परिणत करने का किसी को श्रेय था तो वह समुद्रगुप्त की फड़कती हुई भुजाओं को। समुद्रगुप्त का हजारों कोसों तक का दिग्विजय ही उसकी अद्भुत वीरता तथा अतुल पराक्रम का ज्वलन्त उदाहरण है। उसने सैकड़ों लड़ाइयाँ लड़ीं थीं। इसकी देह पर अनेक-व्रण बने हुए थे जो इसको रण-प्रियता के नमूने थे। हरिषेण ने प्रयागवाली प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की वीरता का वर्णन इस प्रकार किया है—"तस्य विविधसमरशतावतारदक्षस्य स्वभुजबलपराक्रमैकबन्धोः पराक्रमाङ्कस्य परशुशरशंकुशक्ति·········अनेक प्रहरणविरूढाकुलव्रणशताङ्कशोभासमुदयोपचितकान्ततरवर्ष्मणः" इत्यादि। इससे समुद्रगुप्त की युद्धप्रियता तथा वीरता स्पष्ट सिद्ध होती है। समुद्रगुप्त के सिक्कों पर खुदी हुई पदवियाँ तथा उनपर अंकित मूर्ति भी इसकी अद्भुत वीरता का जीते जागते उदाहरण हैं। उन सिक्कों पर अंकित उसकी मूर्ति देखने से ज्ञात होता है मानों वीर-रस साक्षात् शरीर धारण किये हो। वास्तव में समुद्रगुप्त का पराक्रम अद्वितीय था। हरिषेण ने समुद्रगुप्त की प्रयाग वाली प्रशस्ति में उसके सम्पूर्ण चरित्र का बड़ा ही अच्छा खाका खींचा है। अतः मैं, हरिषेण ही के शब्दों में, समुद्रगुप्त का चरित्र नीचे देता हूँ। जिससे उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व आँखों के सामने नाचने लगे—

"तस्य विविधसमरशतावतरणदक्षस्य स्वभुजबलपराक्रमैकबन्धोः पराक्रमाङ्कस्य परशुशर-शंकुशक्तिप्रासासितीमरभिंदिपालनाराचवैतस्तिकाद्यनेकप्रहरणविरूढाकुलव्रणशताङ्कशोभासमुदयोपचि-तकान्ततरवर्ष्मण·········आर्यावर्तराजप्रसभोद्धारणोद्वृत्तप्रभावमहतः परिचारकीकृतसर्वाटविक-राजस्य·····सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य·····निखिलभुवनविचर-णशान्तयशसः·········बाहुवीर्यप्रसरधरणिबन्धस्य पृथिव्यामप्रतिरथस्य सुचरितशतालंकृतानेकगुण-गणोत्सिक्तिभिश्चरणतलप्रमृष्टान्यनरपतिकीर्तेः, साध्वसाधूदयप्रलयहेतुपुरुषस्याचिन्त्यस्य, भक्त्यवनति-मात्रग्राह्यमृदुहृदयस्य, अनुकम्पावतोऽनेकगोशतसहस्रप्रदायिनः, कृपणदीनानाथतुरजनोद्धरणमंत्र-दीक्षाम्युपगतमनसः, समिद्धस्य; विग्रहवतो, लोकानुग्रहवतो,·········सुचिरस्तोतव्यानेकाद्भुतो-दारचरितस्य, लोकसमयक्रियानुविधानमात्रमानुषस्य, लोकधाम्नो, देवस्य·········।

दृष्ट्वा कर्म्माण्यनेकान्यमनुजसदृशान्यद्भुतोभिन्नहर्षा।
वीर्य्योत्तप्ताश्च केचित् शरणमुपगता यस्य वृत्ते प्रणामे॥
संग्रामेषु स्वभुजविजितानित्यमुच्छापकारा।
धर्मप्राचीरबन्धः शशिकरशुचयः कीर्तयः सप्रताना,
वैदुष्यं तत्त्वभेदि ··· ··· ···।

यस्योर्जितं समरकर्म पराक्रमेद्धम् ,
.....यशः सुविपुलं परिभ्रमीति ।
.....णि यस्य रिपवश्चरणोर्जितानि,
स्वप्नान्तरेष्वपि विचिन्त्य परित्रसन्ति ।

बहुधा ऐसा देखने में आता है कि रण-विजयी राजाओं का स्वभाव क्रूर होता है तथा उनके हृदय को करुणा और दया स्पर्श ही नहीं करतीं। वे इस अलौकिक गुण से सर्वथा वञ्चित रहते हैं। परन्तु समुद्रगुप्त के विषय में यह बात नहीं थी। उसके वीररस से परिपूरित हृदय में भी करुणा को स्थान था तथा क्षात्रधर्म में दीक्षित होने पर भी वह दान दया की दिव्य मूर्ति ही था।

दान-शीलता तथा उदार चरित्र

उपरिलिखित उद्धरण में आये हुए 'साध्वसाधूदयप्रलयहेतु पुरुषस्य, मृदुहृदयस्य अनुकम्पावतो, अनेकगोशतसहस्रप्रदायिनः, कृपणदीनानाथातुरजनोद्धरणमंत्रदीक्षाभ्युपगतमनसः' आदि विशेषण इसी कथन के पोषक हैं। समुद्रगुप्त ने अपने हाथ से अनेक लक्ष गौओं का दान किया था। उसने अश्वमेध यज्ञ के अन्त में दानार्थ सोने के सिक्के भी ढलवाये थे। निर्धन लोगों की आवाज तथा दुःखियों के आर्तनाद ने सदा ही उसका ध्यान आकर्षित किया था। वह बड़ा ही दयालु था। उसके हृदय में करुणा की नदी बहती थी। साधु के उदय तथा असाधु के प्रलय का वह कारण था। कृपण, दीन, अनाथ तथा आतुर लोगों के उद्धार के लिए उसने मानों मंत्रदीक्षा ली थी तथा इसके लिए वह सर्वदा कटिबद्ध रहता था।

डा० स्मिथ ने समुद्रगुप्त की तुलना प्रसिद्ध विजेता नेपोलियन से की है* परन्तु यह तुलना समुचित नहीं प्रतीत होती। इसमें सन्देह नहीं कि नेपोलियन एक प्रबल विजेता था, यह भी सत्य है कि उसने समस्त यूरोप में कुछ दिन के लिए हड़कम्प सा मचा दिया था और इसमें भी कुछ सन्देह नहीं कि उसके प्रताप से समस्त यूरोपीय राष्ट्र काँप उठे थे परन्तु इन सब गुणों के होते हुए भी कुछ ऐसी बातें थीं जो समुद्रगुप्त को नेपोलियन से पृथक् करती हैं। नेपोलियन जिस देश पर विजय प्राप्त की वहाँ बड़ा ही अत्याचार किया। इसके ठीक विपरीत, समुद्रगुप्त ने अपने विजित राजाओं को उनका राज्य लौटा दिया तथा उनपर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया। उसकी मृत्यु, बन्दी की हालत में, अपने देश से दूर हुई। परन्तु समुद्रगुप्त के जीवन में कभी दुःखद घटना नहीं हुई। अपने इतने विस्तृत दिग्विजय में भी उसने परास्त होने का नाम नहीं जाना। वह छोटे राज्य का राजकुमार होकर पैदा हुआ तथा एकछत्र सम्राट् होकर मरा। उसकी मृत्यु सुख तथा सम्मान से हुई। अतः नेपोलियन से समुद्रगुप्त की तुलना करना नितान्त अनुचित है। सच तो यह है कि समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व नेपोलियन से बड़ा था। संसार के इतिहास में बहुत कम सम्राट् ऐसे मिलेंगे जिनसे इसके व्यक्तित्व की तुलना की जा सके।

नेपोलियन से तुलना

समुद्रगुप्त के जीवन की सबसे बड़ी घटना उसका दिग्विजय है। प्रयाग की प्रशस्ति में

* स्मिथ—अरली हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० १७३

अधिकांश भारत पर विजय का वर्णन सुन्दर शब्दों में दिया गया है। इस विजय-यात्रा में समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के नव राजाओं तथा दक्षिणापथ के बारह नरेशों को परास्त किया। मध्य भारत के समस्त जङ्गल के राजाओं को अपना सेवक बनाया और सीमा प्रदेश के शासनकर्ताओं तथा गण-राज्यों को उसने (समुद्र ने) कर देने के लिए बाधित किया। इस विजय के कारण समुद्रगुप्त का प्रभाव ऐसा फैला कि सुदूर देशों के नरेशों (सिंहल तथा कुषाण राजा) ने उससे मैत्री स्थापित की। इस प्रकार विजय पताका फहरा कर समुद्रगुप्त ने एकछत्र साम्राज्य स्थापित किया।

समुद्रगुप्त का दिग्विजय काल-क्रम

प्रयाग का प्रशस्ति-लेखक हरिषेण समुद्रगुप्त का सेनानायक तथा सान्धिविग्रहिक मंत्री था। अतएव वह समुद्र के दिग्विजय से पूर्णतया परिचित होगा, इसमें किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता। सेनापति द्वारा दिग्विजय का वर्णन अक्षरशः सत्य होगा। यद्यपि प्रयाग के लेख में विजित राजाओं की नामावली दक्षिणापथ के राजाओं से प्रारम्भ होती है परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि समुद्रगुप्त ने दक्षिण के नरेशों पर सर्वप्रथम आक्रमण किया। डुब्यूरिल का मत है कि हरिषेण ने समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा का वर्णन काल-क्रम के अनुसार किया है*।

'कौमुदी-महोत्सव' के आधार पर जायसवाल यह सिद्धान्त स्थिर करते हैं कि प्रथम चन्द्रगुप्त ने (चण्डसेन) पाटलिपुत्र से हारकर अयोध्या में शरण ली। वहीं से उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने पुनः अपने राज्य की स्थापना की†। समुद्रगुप्त को अपने दिग्विजय में तीन युद्ध करने पड़े। सर्वप्रथम ई० स० ३४४ के लगभग उत्तरी भारत में उसे एक सामान्य लड़ाई लड़नी पड़ी, तत्पश्चात् उसने दक्षिण भारत पर आक्रमण किया। यह युद्ध दूसरे ही वर्ष (ई० स० ३४५-४६) समाप्त हुआ जिसमें बारह शत्रुओं ने भाग लिया था। समुद्रगुप्त ने इन समस्त राजाओं पर विजय प्राप्त किया। दक्षिण को विजय कर समुद्र को उत्तरी भारत में पुनः एक बहुत बड़ी लड़ाई लड़नी पड़ी। यह युद्ध एरण के समीप हुआ जिसमें मालवा से लेकर पूर्वी पंजाब तक के समस्त राजा लड़े तथा परास्त हुए। जायसवाल का मत है कि इसी युद्ध में समुद्रगुप्त ने वाकाटक-सीमा में प्रवेश कर उनके शासनकर्त्ता रुद्रसेन प्रथम को मार डाला।

उत्तरी भारत का प्रथम युद्ध बहुत साम्रान्य था। उत्तर में अनेक बलवान् शत्रुओं के रहते हुए समुद्रगुप्त का दक्षिण पर आक्रमण करना राजनीति के विरुद्ध ज्ञात होता है। अतएव यह मानना युक्तिसङ्गत होगा कि समुद्रगुप्त ने पहले उत्तरी भारत पर विजयध्वजा फहराई तदनन्तर दक्षिणापथ को ओर अपनी दृष्टि फेरी। यहाँ पर कालक्रम के अनुसार समुद्र के विजय का वर्णन किया जायगा।

प्राचीन समय में विन्ध्य तथा हिमालय के बीच की पुण्यभूमि का नाम आर्यावर्त्त था।

---

* एंशेंट हिस्ट्री आफ डेकेन पृ० ३२

† जायसवाल हिस्ट्री आफ इंडिया (१५०--३५०) पृ० १३२-४०।

समुद्रगुप्त ने समस्त उत्तरी भारत के राजाओं को परास्त कर उनके राज्य को गुप्त राज्य में सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार वह गुप्त नरेश एकछत्र राज्य स्थापित करने में सफल हुआ*। प्रयाग की प्रशस्ति में आर्यावर्त्त के राजाओं की निम्नलिखित नामावली दी है:—

आर्यावर्त्त का विजय

(१) रुद्रदेव	(५) गणपति नाग
(२) मतिल	(६) नागसेन
(३) नागदत्त	(७) अच्युत
(४) चन्द्रवर्म	(८) नन्दि

(९) बलवर्मा

इन्हीं नव राजाओं को समुद्रगुप्त ने परास्त किया। प्रशस्ति में 'आदि अनेक आर्यावर्त-राज' के प्रयोग से ज्ञात होता है कि समुद्र के द्वारा कुछ और भी राजा पराजित किये गये जिनके नाम का हरिषेण ने उल्लेख नहीं किया है। रैपसन का अनुमान है कि ये नव राजा विष्णुपुराण में उल्लिखित नव नाग नरेश हैं। इन नागवंशी नरेशों ने एक सम्मिलित शासन स्थापित किया था जिसे समुद्रगुप्त ने नष्ट कर अपने राज्य में मिला लिया†। परन्तु इस मत के पोषक प्रमाण नहीं मिलते। सच तो यह है कि ये नव राजा भिन्न-भिन्न स्थानों के शासक थे। इन राजाओं के व्यक्तित्व के विषय में जितने ऐतिहासिक तथ्यों का पता लगा है, उनका यहाँ पर सप्रमाण क्रमशः विवेचन किया जायगा।

(१) रुद्रदेवः—आर्यावर्त के पराजित नरेशों में रुद्रदेव का नाम सर्वप्रथम उल्लिखित है। इसके समीकरण में बहुत मतभेद है। जायसवाल तथा दीक्षित इसका सम्बन्ध वाकाटक वंश से बतलाते हैं। उनके कथनानुसार रुद्रदेव तथा वाकाटक राजा रुद्रसेन प्रथम एक ही व्यक्ति थे‡। इनके मत को स्वीकार करने में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। प्रशस्ति के राजा रुद्रदेव की गणना आर्यावर्त के राजाओं में की गई है परन्तु वाकाटक राजा रुद्रसेन प्रथम दक्षिणापथ का शासक था§। समुद्रगुप्त ने समस्त उत्तरी भारत के राजाओं को परास्त कर उनके राज्य को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। यदि वाकाटक वंश का पराजित होना सत्य होता तो वाकाटक राज्य को गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत होना चाहिए; परन्तु समुद्रगुप्त के समय में गुप्त राज्य एरण (मालवा) के दक्षिण में विस्तृत नहीं था। ऐसी अवस्था में तथा अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव से रुद्रदेव का समीकरण वाकाटक राजा रुद्रसेन प्रथम से नहीं किया जा सकता। रुद्रदेव के विषय में अधिक बातें ज्ञात नहीं हैं। आर्यावर्त के एक शासक होने की बात स्वयं सिद्ध है||।

---

* अनेकआर्यावर्त्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्तप्रभावमहतः।—फ्लीट-गु० ले० नं० १

† जे० आर० ए० एस० १८९७ पृ० ४२१।

‡ जायसवाल—हिस्ट्री आफ इण्डिया (१५०-३५०) ई० पृ० ७७।

§ इ० हि० क्वा० भाग १ पृ० २५४।

|| प्रयाग की प्रशस्ति—गु० ले० नं० १।
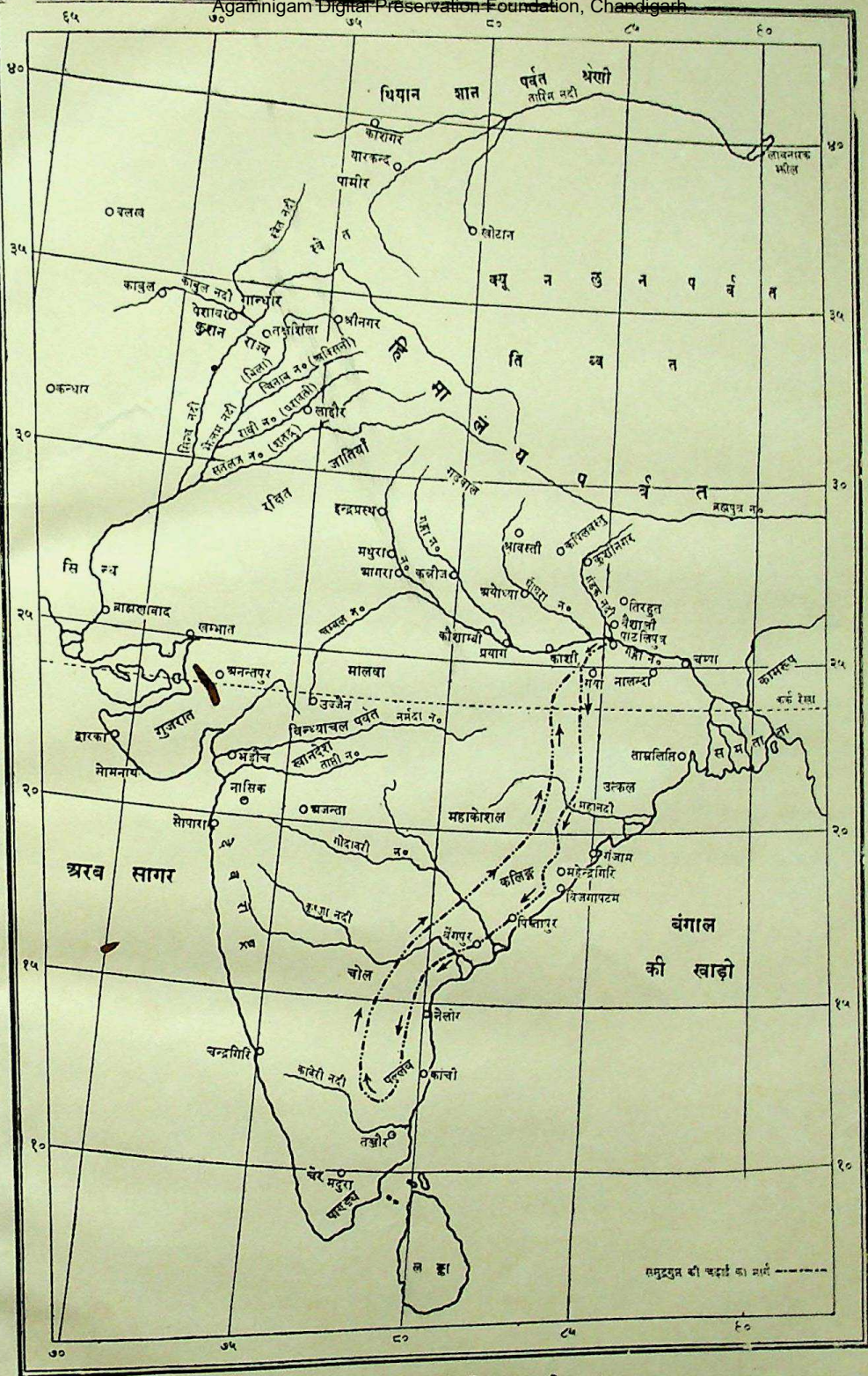
समुद्रगुप्त का दिग्विजयमार्ग

(२) मतिल:—इस राजा के विषय में अभी तक कोई निश्चित मत स्थिर नहीं है। विद्वान् इसे उत्तर प्रदेश में बुलंदशहर के समीप का शासनकर्त्ता मानते हैं जहाँ पर इसकी नामांकित एक मुहर मिली है\$। अलन इस विचार से सहमत नहीं हैं। इस मुहर पर नाम के साथ राजा की उपाधि नहीं मिलती है, अतएव उनका (अलन का) अनुमान है कि प्रशस्ति में उल्लिखित मतिल तथा मुहर के मटिल दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे‖। जायसवाल का कथन है कि मतिल अंतरवेदी में शासन करनेवाला नागवंशी नरेश था()।

(३) नागदत्त:—प्रयाग की प्रशस्ति में तीसरा नाम इसी का मिलता है। मथुरा के समीप बहुत से सिक्के मिले हैं जिनके नाम के अंत में 'दत्त' आता है। नागदत्त के नामांत में दत्त होने के कारण बहुत संभव है कि यह राजा भी मथुरा के आस-पास राज्य करता हो, परन्तु अभी तक दत्त कुल के साथ इसका निश्चित सम्बन्ध ज्ञात नहीं है। जायसवाल इसे ई० स० ३२८-३४८ के लगभग नागवंश का शासक मानते हैं[]।

(४) चन्द्रवर्म:—हरिषेण ने समुद्रगुप्त से पराजित नरेशों में चन्द्रवर्म को चौथा स्थान दिया है। इसके समीकरण में बहुत मतभेद है। पूर्वी बंगाल के बाँकुड़ा जिले में सुसुनियाँ पर्वत पर एक शिलालेख मिला है जिसमें चन्द्रवर्म का नाम उल्लिखित है। उससे ज्ञात होता है कि वह पुष्करण नामक स्थान का शासक था*। डा० हरप्रसाद शास्त्री पुष्करण की समता मारवाड़ में स्थित पोकरण स्थान से बतलाते हैं। इसी आधार पर उनका अनुमान है कि चन्द्रवर्म मारवाड़ का शासक था†। डा० भण्डारकर इस अनुमान से सहमत नहीं हैं। डा० चैटर्जी के कथनानुसार पुष्करण नामक स्थान बाँकुड़ा जिले में स्थित है‡। अतएव भण्डारकर प्रयाग की प्रशस्ति में उल्लिखित चन्द्रवर्म तथा सुसुनियाँ में उल्लिखित बाँकुड़ा के शासक को एक ही व्यक्ति मानते हैं\$। परन्तु जायसवाल इसे पूर्वी पंजाब का शासक मानते हैं‖। इस प्रकार राजा के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

(५) गणपति नाग :—इसके विषय में निश्चित बातें ज्ञात हैं। यह नागवंशी राजा था। यह नागों की राजधानी पद्मावती में ई० स० ३१०—३४४ तक शासन करता था§। इस

\$ इ० ए० भाग १८ पृ० ९८९।

‖ एलन—गुप्त क्वायन भूमिका पृ० ३३।

() जायसवाल—हिस्ट्री आफ इंडिया (१५०-३५०) पृ० ३६।

[] वही पृ० ३६।

* ए० इ० भा० १२ नं० ९।

† इ० ए० १९१३।

‡ ओरिजिन एंड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंगुएज पृ० १०६१।

\$ इ० हि० क्वा० भाग १ पृ० २५५।

‖ जायसवाल—हिस्ट्री आफ इंडिया (१५०-३५०) पृ० १४२।

§ वही पृ० ३५ तथा ३८।

राजा के सिक्के भी नारवार तथा बेसनगर के समीप मिले हैं¶। डा० भण्डारकर का मत है कि सम्भवतः यह राजा नागों की विदिशा शाखा पर शासन करता था जिसका वर्णन विष्णु पुराण में मिलता है£।

(६) नागसेनः—यह भी नागवंशी राजा था जिसके विषय में निश्चित बातें ज्ञात हैं। नागसेन का नाम प्रयाग की प्रशस्ति में आर्यावर्त के राजाओं की नामावली से पूर्व भी उल्लिखित है। यह राजा गणपति नाग के समकालीन नागों की दूसरी शाखा पर शासन करता था। रैपसन का कथन है कि यह राजा तथा हर्षचरित में वर्णित नागसेन एक ही व्यक्ति थे||। बाण के वर्णन से ज्ञात होता है कि हर्षचरित में उल्लिखित नागसेन पद्मावती का शासक था जो सम्भवतः गुप्तों के अधीन था। परन्तु यह नागसेन मथुरा का शासक प्रतीत होता है()। अतएव हर्षचरित में वर्णित नागसेन को समुद्रगुप्त का समकालीन मानना युक्ति-सङ्गत नहीं है।

(७) अच्युत :—समुद्रगुप्त द्वारा पराजित राजाओं में अच्युत का सातवाँ नाम है। इसके समीकरण में बहुत मतभेद है। जायसवाल अच्युत तथा नन्दि को एक ही शब्द मानते हैं[]। उत्तर प्रदेश के बरेली ज़िले के अंतर्गत अहिच्छत्र (आधुनिक रामनगर) में कुछ सिक्के मिले हैं जिन पर अलन ने 'अच्यु' शब्द पढ़ा है※। परन्तु काशी के श्रीनाथ साह के संग्रह में लेखक ने 'अच्युत' शब्द पढ़ा है। अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः ये सिक्के इसी राजा (अच्युत) के चलाये हों। डा० भण्डारकर पद्मावती के नागसिक्कों से इसकी बनावट में समता पाते हैं। अतएव बहुत सम्भव है कि अच्युत नागवंशी राजा हो जो मथुरा के समीप शासन करता होगा†। जायसवाल अच्युत को अहिच्छत्र का राजा मानते हैं‡।

(८) नन्दिः—इस राजा के विषय में बहुत मतभेद है। पुराणों में नागवंशी राजाओं की नामावली में शिशुनन्दि या शिवनन्दि का सम्बन्ध मध्य भारत से बतलाया गया है। डुब्रूइल नन्दि तथा शिवनन्दि की एकता सिद्ध करते हैं$। अनुमान किया जाता है कि नन्दि भी नागवंशी राजा था।

¶ क्वायन आफ एंशेंट इंडिया पृ० १८।

£ इ० हि० क्वा० भाग १ पृ० २५५।

|| नागकुलजन्मनः सारिकाश्रावितमन्त्रस्य आसीत् नाशो नागसेनस्य पद्मावत्याम्।
--हर्षचरित।

() जायसवाल--हिस्ट्री आफ इंडिया (१५०–३५०) पृ० ३५।

[] वही (१५०-३५०) पृ० १३३।

※ एलन—गुप्त क्वायन पृ० २२; इ० म्यू० कै० प्लेट २२ नं० ६।

† इ० हि० क्वा० भाग १ पृ० २५६।

‡ हिस्ट्री आफ इंडिया (१५०–३५०) पृ० १३३।

$ एंशेंट हिस्ट्री आफ डेकेन पृ० ३१।

(६) बलवर्मा:—प्रयाग की प्रशस्ति में उल्लिखित राजाओं की नामावली में बलवर्मा का अंतिम नाम है। इसके विषय में अभी तक कोई निश्चित मन्तव्य नहीं है। कुछ विद्वान् अनुमान करते हैं कि यह राजा हर्ष के समकालीन आसाम के राजा भास्करषर्मन् का पूर्वज था| । इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि आसाम आर्यावर्त में सम्मिलित नहीं था। अतएव आर्यावर्त के राजा बलवर्मा को आसाम का राजा नहीं माना जा सकता।

इन आर्यावर्त के शासकों को जीतकर तथा उत्तर भारत में अपने राज्य का विस्तार कर समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत के विजय की ओर अपनी दृष्टि दौड़ाई। दक्षिण भारत के

आटविक-नरेश

विजय करने के लिए मध्य भारत के विस्तीर्ण जंगलों से होकर ही उत्तरी भारत के विजेता को जाना पड़ेगा और समुद्रगुप्त को भी इसी मार्ग पर चलना पड़ा। जब समुद्र ने दक्षिण भारत के राजाओं के जीतने का मनसूबा बाँधा तब आटविक भूपालों का जीतना उसके लिए नितांत आवश्यक हो गया। अतएव उसने इन सब राजाओं को जीता तथा उन्हें सेवक बना लिया()। एरण की प्रशस्ति से भी यही सूचित होता है कि समुद्र ने मध्य भारत के जंगल के राजाओं को जीतकर अपने वश में किया था। फ्लीट के कथनानुसार आटविक नरेश उत्तर प्रदेश के गाजीपुर सेलेकर मध्य प्रदेश के जबलपुर तक फैले हुए थे[]।

सम्भवतः यह भाग बुन्देलखण्ड से उड़ीसा तक विस्तृत था, जहाँ परिव्राजक राजा शासन करते थे।

दक्षिण भारत का विजय

मध्य भारत के जंगलों को पार कर समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ पर आक्रमण किया तथा वहाँ के शासकों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। प्रयाग की प्रशस्ति में दक्षिण के राजाओं का नाम दिया गया है। दक्षिणापथ के विजय में इन राजाओं से समुद्रगुप्त की मुठभेड़ हुई। अधिक सम्भव है कि भिन्न-भिन्न स्थानों पर इनसे लड़ाइयाँ हुई हों; परन्तु जायसवाल का कहना है कि दक्षिण के इन नरेशों ने आपस में मिलकर कोलेरू तालाब के किनारे उत्तर के इस प्रतापी विजेता को आगे बढ़ने से रोकने के लिए तुमुल युद्ध किया था। इस युद्ध में कैरल के मण्टराज तथा कांची के राजा विष्णुगोप इस संघ क मुखिया थे, जिनके सेनापतित्व में सबने लड़ाई में भाग लिया। उनमें कोसल तथा महाकान्तार के राजा को छोड़कर अन्य राजा सेनानायक तथा जिले के पदाधिकारी थे। यह युद्ध आर्यावर्त्त की पहली लड़ाई (कौशाम्बी का युद्ध) के पश्चात् ई० स० ३४५-४६ के लगभग हुआ होगा*।

जो भी हो, यह तो निश्चित है कि समुद्रगुप्त ने कई दक्षिण के राजाओं को परास्त

| ए० इ० भाग १२ पृ० ६९।

() परिचारकीकृतसर्वाटविकराजस्य (प्रयाग की प्रशस्ति गु० ले० नं० १)।

[] फ्लीट गु० ले० पृ० १४४ ; ए० इ० भाग ८ पृ० २८४-८७।

* जायसवाल – हिस्ट्री आफ इंडिया (१५०—३५०) पृ० १३८-३९।

किया जिससे उसका प्रबल प्रताप सर्वत्र छा गया। इस पराक्रमी विजेता ने समस्त पराजितनरेशों को सिंहासन से च्युत किया, परन्तु उसने उनके राज्य को गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया। समुद्रगुप्त ने विजित प्रदेशों के शासकों को उनकी भूमि लौटा दी। तथा अपनी छत्रच्छाया के अधीन होकर राज्य करने की आज्ञा दी†। ऐसे यशस्वी राजा को 'धर्मविजयी' के नाम से पुकारते हैं। कालिदास ने समुद्रगुप्त के सदृश रघु के भी 'धर्मविजयी' राजा होने का वर्णन किया है‡।

दक्षिणापथ के पराजित राजाओं की नामावली हरिषेण ने प्रयाग के लेख में निम्न-लिखित प्रकार से दी है—

(१) कौशलक महेन्द्र।
(२) महाकान्तारक व्याघ्रराज।
(३) कैरलक मण्टराज।
(४) पैष्ठपुरक-महेन्द्रगिरि-कौट्टूरक स्वामिदत्त§।
(५) ऐरण्ड पल्लक दमन।
(६) काञ्चेयक विष्णुगोप।
(७) अवमुक्तक नीलराज।

---

† सर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रितमहाभाग्यस्य—
प्रयाग का लेख—गु० ले० नं० १

‡ ग्रहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार, न तु मेदिनीम्॥ —रघुवंश सर्ग ४।

§ प्रशस्ति में उल्लिखित इस नाम के पद-विच्छेद के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। डा० स्मिथ तथा डी० आर० भण्डारकर इसमें पदविच्छेद करके दो विभिन्न राजाओं के उल्लेख होने के सिद्धान्त को मानते हैं। उनके सिद्धान्त के अनुसार पैष्ठपुर का राजा महेन्द्रगिरि तथा कौट्टूर का राजा स्वामिदत्त था। गिरि शब्द गोसाइयों के नाम के अन्त में आया करता है, अतएव वह महेन्द्र गिरि को महेन्द्रनामक गोसाईं राजा मानते हैं। (इं० हि० क्वा० भाग १ पृ० २५२) परन्तु इस मत के मानने में सबसे बड़ी आपत्ति यही मालूम पड़ती है कि गिरि शब्द का प्रयोग दशनामी सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त गोसाइयों के लिये उत्तरी भारत में ही हुआ करता है। गोसाईं शासक मध्यप्रदेश में किसी समय में बड़े प्रभाव-शाली थे; परन्तु चौथी शताब्दी में गोसाईं के लिये गिरि शब्द का प्रयोग तथा सुदूर दक्षिण में गोसाईं शासक का अस्तित्व दोनों ही सन्देहजनक हैं। अतएव महेन्द्रगिरि को शासक का नाम न मानकर स्थान-विशेष का ही नाम मानना उचित है। इसलिए इस शब्द के द्वारा स्वामिदत्त नामक शासक का ही उल्लेख लेखक को युक्तियुक्त प्रतीत होता है। बहुमत भी इसी पक्ष में है (जायसवाल—हिस्ट्री आफ इंडिया पृ० १३७; फ्लीट—गुप्त लेख पृ० ७; राय-चौधरी—हिस्ट्री पृ० ३६६; रामदास—इं० हि० क्वा०, भा० १ पृ० ६८१; बरूआ—प्राचीन ब्राह्मी प्रशस्ति पृ० २२४)।

(८) वैङ्गेयक हस्तिवर्म।
(९) पालक्ककोग्रसेन।
(१०) देवराष्ट्रक कुबेर।
(११) कोस्थलपुरक धनञ्जय।

यहाँ पर प्रत्येक स्थान तथा राजा के विषय में ऐतिहासिक विवेचन क्रमशः किया जायगा।

(१) कोसल महेन्द्र

दक्षिणापथ का यह पहला नरेश महेन्द्र कोसल का राजा था। यहाँ पर कोसल से अभिप्राय दक्षिण कोसल का समझना चाहिए। यह तो सुप्रसिद्ध बात है कि भारत में दो कोसल थे—उत्तर कोसल तथा दक्षिण कोसल। उत्तर कोसल की राजधानी अयोध्या थी, अतः यह प्रदेश आर्यावर्त के ही अंतर्गत था। दक्षिणापथ में उल्लिखित होने के कारण यहाँ कोसल शब्द दक्षिण-कोसल के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इसमें आज कल के मध्यप्रदेश के बिलासपुर, रायपुर तथा सम्भलपुर के जिले सम्मिलित थे। इसकी राजधानी श्रीपुर थी जो आजकल रायपुर जिले का सिरपुर नामक नगर है*। राजा महेन्द्र के विषय में अन्य कोई बात ज्ञात नहीं है।

(२) महाकान्तारक व्याघ्रराज

राजा व्याघ्रराज महाकान्तार का शासक था। महाकान्तार मध्यप्रदेश के विस्तीर्ण जंगलों के लिए प्रयुक्त होता है। अतः इस राजा की स्थिति गोंडवाना के पूर्व वनमय प्रदेश में थी। कुछ लोग इसे गंजाम तथा विजगापट्टम जिले के झारखण्ड बतलाते हैं†। यह व्याघ्रराज कौन था? इसके विषय में अभी तक कोई निश्चित मत स्थिर नहीं हुआ है। यह व्याघ्रराज गंज शिलालेख के वाकाटक पृथ्वीषेण प्रथम का पादानुध्यात व्याघ्रदेव हो सकता है‡। डा० भण्डारकर व्याघ्रराज की समानता दूसरे ही व्याघ्रराज से बतलाते हैं जो उच्चकल्प के राजा जयन्त (ई० स० ४२३) का पिता था और वाकाटकों की अधीनता में मध्यप्रदेश में शासन करता था()।

(३) कैरालक मण्टराज

इस राजा का नाम मण्टराज था। यह कैरल देश का राजा था। कैरल केरल का दूसरा रूप है। इससे दक्षिण का मालाबार नहीं समझना चाहिए। दक्षिण कोसल तथा मद्रास के बीच कहीं इसकी स्थिति होना चाहिए। डा० कीलहार्न इसकी समता गोदावरी तथा कृष्णा के

---

* इं० हि० क्वा० भा० १० (१९३४) पृ० ६५
† वही पृ० ६८४।
‡ वाकाटकानां महाराज श्री पृथ्वीषेणपादानुध्यातो व्याघ्रदेव मातापित्रोः पुण्यार्थम्—गु० ले० नं० ५४।
() इं०, हि० क्वा० भा० १ पृ० २५१।

बीच कोलेरु कासार से बतलाते हैं*। डा० रायचौधरी इसे मध्यप्रदेश में स्थित बतलाते हैं। महाकवि धोयी ने पवनदूत में केरल लोगों का सम्बन्ध ययाती नगरी से बतलाया है†। यह नगरी सोनापुर के समीप महानदी के किनारे केरल देश की राजधानी थी। केरल का नाम महाकान्तार के बाद उल्लिखित है, अतएव यह स्थान उड़ीसा तथा मद्रास प्रांत के मध्य में होना चाहिए।

(४) पैष्ठपुरक-महेन्द्रगिरि-कौट्टूरक-स्वामिदत्त

स्वामिदत्त इन तीन स्थानों—पैष्ठपुर, महेन्द्रगिरि तथा कोट्टूर—का शासक था। मद्रास प्रांत के गोदावरी जिले का पीठापुर पैष्ठपुर का नया रूप ज्ञात होता है। सम्भवतः यही स्थान कलिङ्ग देश का प्रधान नगर था। महेन्द्रगिरि तथा कोट्टूर आजकल गंजाम जिले में हैं। महेन्द्रगिरि पूर्वी घाट की पहाड़ियों का मूलस्थान है। कोट्टूर महेन्द्रगिरि से बारह मील दक्षिण-पूर्व में आज भी कोट्टूर के नाम से विख्यात है। अतः यह स्वामिदत्त कलिङ्ग देश का राजा प्रतीत होता है।

(५) एरण्डपल्लक दमन

राजा दमन एरण्डपल्ल नामक स्थान का शासक था जो समुद्रगुप्त के द्वारा पराजित किया गया। इस स्थान की वास्तविक स्थिति ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व पूर्ण है। एरण्डपल्ल को फ्लीट खानदेश में स्थिति वर्तमान एरण्डोल मानते हैं। प्रयाग की प्रशस्ति में यह स्थान गिरिकोट्टूर के पश्चात् उल्लिखित है अतएव इसे खानदेश में स्थित नहीं माना जा सकता। कलिङ्ग के राजा देवेन्द्र वर्मा के सिद्धान्त ताम्रपत्र में एरण्डपल्ल का नाम आया है; इसलिये कलिङ्ग के समीम गञ्जाम जिले में स्थित चिकाकोल के समीप एरण्डपल्ल से डुब्रिल इसकी समता करते हैं‡। जी० रामदास ने विजगापट्टम में स्थित येण्डपल्ली से इस स्थान की समता बतलाया है।

(६) काञ्चेयक विष्णुगोप

विष्णुगोप नामक राजा काञ्ची का शासक था जो प्राचीन काल में पल्लवों की राजधानी थी। समुद्रगुप्त से मुठभेड़ करनेवाले राजा विष्णुगोप के व्यक्तित्व के विषय में मतभेद है। डा० कृष्णस्वामी का कथन है कि इस विष्णुगोप का समीकरण पल्लवों के प्राकृत तथा संस्कृत लेख वाले विष्णुगोप से नहीं कर सकते‡‡। जो हो, यह तो निर्विवाद है कि पल्लवों का सम्बन्ध सर्वदा काञ्ची से था; अतएव वहाँ का शासक विष्णुगोप अवश्य ही पल्लव राजा होगा।

(७) अवमुक्तक नीलराज

नीलराज अवमुक्त नामक स्थान का राजा था। अभी तक इस के विषय में कोई निश्चित बातें ज्ञात नहीं हैं। कुछ लोगों का कथन है कि नीलराज गोदावरी के समीप अव

---

* ए० इ० भा० ११ पृ० १८९।

† लोलां नेतुं नयनपदवीं केरलीनां रतेश्चेत्,
गच्छेः ख्यातां जगति नगरीं ख्ययातां ययातेः।

‡ ए० टि० आफ डेकेन पृ० ५८।

‡‡ कनट्रीब्यूशन ऑफ साउथ इंडिया पृ० १६५।

देश का शासक था† । गोदावरी जिले में यमन के समीप नीलपल्ली बन्दरगाह से इसकी समता करते हैं ।

(८) वैङ्गेयक हस्तिवर्म

यह स्थान मद्रास प्रांत के कृष्णा जिले में स्थित है । इस स्थान का आधुनिक नाम वेङ्गी या पेडवेङ्गी है जिसका शासक हस्तिवर्म था । कुछ विद्वानों का मत है कि हस्तिवर्मन् वेंगी का एक शालंकायनवंशीय राजा था जिसका नाम नन्दिवर्मन् द्वितीय के पेडवेंगी ताम्रपत्र में उल्लिखित है । यह ताम्रपत्र भी शालंकायन वंश का ही है‡ । इस राजा को डुब्रेल आनन्द वंश का अत्तिवर्म मानते हैं¶ । बहुत सम्भव है कि पल्लवों का अधिकार वेङ्गी पर भी हो तथा उसी के वंशज वहाँ पर शासन करते हों ।

(९) पालक्कोग्रसेन

राजा उग्रसेन पालक्क का शासक था । इस दक्षिणापथ के नरेश के विषय में कुछ भी निश्चित बातें मालूम नहीं हैं । कुछ विद्वान् सुदूर दक्षिण में मालाबार के पालघाट से पालक्क की समता मानते हैं‖ । परन्तु यह मत मान्य नहीं हैं । पल्लवों के ताम्रपत्र में पालक्क का नाम आता है[] अतएव सम्भवतः यह स्थान पल्लवों के अधिकार में होगा जहाँ उनके प्रतिनिधि शासक थे । इससे प्रकट होता है कि पालक्क कृष्णा जिले में कोई स्थान था । गंटूर जिले में स्थित पालकड़ स्थान भी इसका नया रूप माना जा सकता है ।

(१०) देवराष्ट्रक कुबेर

देवराष्ट्र स्थान का राजा कुबेर था । इस स्थान को कुछ विद्वान् महाराष्ट्र देश मानते हैं§ । परन्तु यह मत सर्वथा अमान्य है । देवराष्ट्र एलमंचि कलिङ्ग (जिसका आधुनिक नाम येलमंचिली है) देश का एक जिला (विषय) था जिसका नाम पूर्वी चालुक्य राजा भीम के दानपत्र में उल्लिखित है¶ । अतः देवराष्ट्र विजगापट्टम का कोई स्थान था । डुब्रिल के इस मत को अब सभी मानने लगे हैं() ।

(११) कौस्थलपुरक धनञ्जय

राजा धनञ्जय कौस्थलपुर का शासक था । अभी तक इस स्थान तथा इसके शासक

---

† हिस्ट्री ऑफ इंडिया (१५०–३५०) पृ० १३८ ।
‡ जनरल ऑफ आंध्र हि० रि० सेक्शन १ पृ० ९२ ।
¶ इं० एन० भा० ९ पृ० १४२ ।
‖ जे० आर० ए० एस० १९१७ पृ० ८७३ ।
[] वेंकय्या की वार्षिक रिपोर्ट १९०४-५ ।
§ इं० हि० क्वा० भा० १ पृ० ६८४ ।
¶ मद्रास रिपोर्ट आन इपिग्राफी १९०९ पृ० १०८ ६ ।
() ए० हिस्ट्री आफ डेकेन पृ० १६० ।

धनञ्जय के विषय में कोई निश्चत मन्तव्य स्थिर नहीं हुआ है। डा० बारनेट का मत उचित ज्ञात होता है कि कौस्थलपुर आरकाट में स्थित कुट्टलुर नामक स्थान है‡।

यह विचारणीय प्रश्न है कि समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के विजय में किस मार्ग का अवलम्बन किया था तथा वह उत्तरीय भारत में किस रास्ते से लौटा। प्रशस्ति में उल्लिखित राजाओं की नामावली से प्रकट होता है कि समुद्र जंगल के राजाओं को जीतकर मध्यप्रदेश में पहुँचा। वहाँ से महाकोसल तथा महाकान्तार के मार्ग से होता हुआ कलिङ्ग के समीप उसने कई नरेशों को परास्त किया। दक्षिण-पूरब के प्रदेशों को अपने अधीन करते हुये समुद्रगुप्त ने काञ्ची पर आक्रमण किया था। परन्तु इसमें सन्देह है कि इस प्रतापी गुप्त-नरेश ने पल्लवों की राजधानी काञ्ची नगरी पर धावा किया हो, क्योंकि पल्लव राज्य कृष्णा तक विस्तृत था और प्रायः युद्ध में सीमा पर ही राजाओं में मुठभेड़ होती है। इस कारण विष्णुगोप ने कृष्णा के समीप (अपने राज्य की सीमा पर) समुद्र को आगे बढ़ने से अवश्य ही रोका होगा। बैनर्जी का मत है कि सम्भवतः स्वामिदत्त, दमन तथा कुबेर ने विष्णुगोप के साथ संघ बनाकर समुद्रगुप्त का सामना किया हो[]। उपरियुक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त का आक्रमण-मार्ग महाकोसल से दक्षिण-पूरब भाग से होते हुए कृष्णा तक पहुँचा था।

समुद्रगुप्त का आक्रमण-मार्ग

समुद्रगुप्त ने इस मार्ग से दक्षिण में आक्रमण किया; परन्तु उसके प्रत्यागमन-मार्ग के विषय में गहरा मतभेद है। यदि एरण्डपल्ल की समता खानदेश में स्थित एरण्डोल, पालक्क की पालघाट तथा देवराष्ट्र की महाराष्ट्र से मानी जाय तो यह सम्भव है कि समुद्रगुप्त कोसल के पूर्वी भाग में होता हुआ पच्छिम होकर लौटा। परन्तु विद्वानों का यह मत युक्तिसंगत नहीं है। प्रथम तो इन स्थानों का समीकरण सन्दिग्ध है और हमारे मत में ये स्थान (एरण्डपल्ल, पालक्क व देवराष्ट्र) कथित स्थानों से सर्वथा भिन्न हैं। अतः समुद्रगुप्त का पच्छिम के मार्ग से लौटना ठीक नहीं माना जा सकता। इस मत का प्रबल पोषक प्रमाण यह है कि वाकाटकों के पराजय का वर्णन उल्लिखित नहीं है। गुप्तों के समकालीन वाकाटक वंश दक्षिण का एक प्रतापी राज-वंश था। इसका मूलस्थान, जैसा कि पहले बतलाया गया है, मध्यभारत में था। परन्तु इस समय इसका प्रताप बुन्देलखण्ड से लेकर कुन्तल (करनाटक) तक फैला था। इस वंश का पृथ्वीषेण प्रथम समुद्र का समकालीन प्रतीत होता है; क्योंकि इसी के लड़के द्वितीय रुद्रसेन के साथ चन्द्रगुप्त ने अपनी कन्या का विवाह किया था। यदि समुद्रगुप्त पच्छिम के मार्ग से लौटता तो पृथ्वीषेण प्रथम के साथ कहीं न कहीं उसकी मुठभेड़ अवश्य होती और इस प्रतापी नरेश की विजय-वार्त्ता को समुचित शब्दों में वर्णन करने से हरिषेण संकोच न करता। परन्तु प्रयाग की प्रशस्ति में ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख न होने से यही प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त पच्छिम के मार्ग से लौटा ही नहीं, बल्कि वह जिस पूर्वी भाग से गया था उसी मार्ग से लौटा।

---

‡ कलकत्ता रिव्यू १९२४ पृ० २५३ नोट।

[] राखालदास बैनर्जी कृत हिस्ट्री ऑफ ओरिसा भाग १ पृ० ११६-१७।

समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के राजाओं को परास्त कर सीमांत नरेशों (प्रत्यंत नृपतियों) को विजय करने की ठानी। इस विजय-यात्रा में दो प्रकार के शासकों को उस गुप्त नरेश ने परास्त किया जिनका नामोल्लेख हरिषेण ने किया है। इन पराजित नरेशों में सीमान्त राज्यों का विजय पाँच भिन्न-भिन्न प्रदेशों के शासक थे जो नृपति शब्द से सम्बोधित किये गये हैं। इन राजाओं के अतिरिक्त नव राज्यों का नाम मिलता है जो गण राज्य के शासक माने जाते हैं। इन गण राज्यों की शासन-प्रणाली उन पाँच राज्यों से भिन्न थी, इसी लिये इनके नाम के साथ नृपति शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। अतएव इस यात्रा में समुद्र ने उत्तर तथा पूरब के राजाओं तथा पच्छिम के नव गण-राज्यों को अपने अधीन किया था।

समुद्रगुप्त की नीति इन राजाओं के प्रति भिन्न थी। उसने अपने प्रबल शासन से उनको सब प्रकार का कर देने, आज्ञा मानने तथा प्रमाण करने के लिए बाधित किया*। समुद्र से पराजित समस्त सीमान्त-राजाओं के नाम नहीं मिलते, परन्तु इनके राज्यों की निम्न नामावली का उल्लेख प्रयाग की प्रशस्ति में मिलता है—

(१) समतट

सर्व प्रथम समुद्र ने पूरब के राज्यों पर आक्रमण किया जिसमें समतट का पहला नाम है। यह पूर्वी बंगाल (पाकिस्तान) के समुद्रतट का प्रदेश है। यह गंगा तथा ब्रह्मपुत्र की धाराओं के मध्य भाग में स्थित है। कोमिल्ला के समीप कर्मान्त इसकी राजधानी थी†।

(२) उवाक

समतट के पश्चात् उवाक का नाम आता है जिस पर समुद्र ने आक्रमण किया। इस राज्य की सीमा में उत्तरी बंगाल के बोगरा, दीनाजपुर तथा राजशाही के जिले सम्मिलित थे। इसका नाम समतट तथा कामरूप के बीच होने के कारण प्रतीत होता है कि ढाका और चटगाँव के जिले से सीमित राज्य का नाम उवाक हो।

(३) कामरूप

इसका आधुनिक नाम आसाम है। सम्भवतः प्राचीन काल में प्राग्ज्योतिष राज्य का कामरूप एक भाग था।

(४) नेपाल

यह राज्य आज भी इसी नाम से उत्तरप्रदेश तथा विहार के उत्तर में स्थित है। सम्भवतः प्राचीन नेपाल इतना विस्तृत नहीं था। समुद्रगुप्त का समकालीन जयदेव प्रथम नेपाल का शासक था; परन्तु इसका नाम प्रशस्ति में उल्लिखित नहीं है। इसी राजा के समय से नेपाल में गुप्त संवत् का प्रयोग प्रारम्भ हुआ था।

---

* सर्वकरदानआज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य (प्रयाग की प्रशस्ति; गु० ले० नं० १)

† भट्टसाली—आइकानोग्राफी पृ० ४।

(५) कर्तृपुर

समुद्रगुप्त द्वारा पराजित सबसे अन्तिम उत्तर का राज्य कर्तृपुर है जिसके आक्रमण के पश्चात् समुद्र पच्छिम की ओर बढ़ा था। इस राज्य का आधुनिक नाम कर्तारपुर है जो पंजाब के जालंधर जिले में स्थित है। नेपाल के पश्चात् समुद्र ने कर्तृपुर पर धावा किया अतएव सम्भवतः यह राज्य कमायूँ, गढ़वाल तथा रुहेलखण्ड में सीमित हो।

गुप्तवंशी इस पराक्रमी विजेता ने पूरब और उत्तर के राजाओं को परास्त कर अपनी दृष्टि पच्छिम की ओर फेरी। ये गण राज्य बहुत प्राचीन काल से भारत के पश्चिमीय प्रदेशों में शासन करते थे। उन समस्त संघों का समुद्रगुप्त ने समूल नाश कर दिया और उसी समय से भारत में संघ-शासन का अभाव हो गया। समुद्र की नीति सबके लिए एक ही थी। उसने संघ राज्यों से कर ग्रहण किया और सभी उसकी अधीनता स्वीकार कर सीमा पर शासन करते रहे। प्रयाग की प्रशस्ति में इन नव संघों का नाम मिलता है—

गण-राज्य

(१) मालव

नव गण-राज्यों में मालव का नाम सर्वप्रथम मिलता है। मालव नाम की एक बहुत प्राचीन जाति थी जो उत्तर-पश्चिम में निवास करती थी। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में यूनानी लोगों ने मल्लोई के नाम से इसका उल्लेख किया है। सिकन्दर से भी मालव लोगों की मुठभेड़ हुईथी। कालान्तर में इन लोगों ने अपना निवास राजपूताने में स्थापित किया जहाँ पर शक राजा नहपान के जामाता उषवदात से मालवों का युद्ध हुआ था। इस जाति के निवास के कारण उस स्थान का नाम 'मालवा' हो गया। विक्रम संवत् से भी इनका सम्बन्ध बतलाया जाता है और इसी कारण विक्रम संवत् को मालव संवत् भी कहते हैं*। समुद्रगुप्त के समय में यह जाति मध्यभारत में निवास करती थी। तीसरी सदी के बहुत से सिक्के जयपुर राज्य के नागर स्थान में मिले हैं जिन पर—'मालवानां जयः' अथवा 'मालवगणस्य जय' लिखा मिलता है†।

(२) आर्जुनायन

यह गण-नामावली की दूसरी जाति है जो समुद्र के हाथों परास्त हुई। बृहत् संहिता में इसका नाम यौधेय के साथ आता है तथा लेख में मालव और यौधेय के बीच में उल्लिखित है। इस आधार पर यह प्रकट होता है कि यह जाति मध्यभारत में मालवों तथा यौधेयों के निवास स्थान (पूर्वी पंजाब) के बीचोबीच निवास करती थी। इस जाति के बहुत से सिक्के भरतपुर व अलवर राज्य में मिले हैं जिन पर 'आर्जुनायनानां जयः' लिखा है‡।

(३) यौधेय

यह जाति भारत के पश्चिमोत्तर प्रांत में बहुत प्राचीन काल से निवास करती थी। पाणिनि

---

* मन्दसोर प्रशस्ति में इसी संवत् में काल-गणना दी गई है—
मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये। गु० ले० नं० १८।

† जे० आर० ए० एस० १८९७ पृ० ८८३।

‡ इ० म्यू० कै० पृ० १६१।

ने (ईसा पूर्व ५००) इस जाति को आयुधजीविन संघ में उल्लिखित किया है‡ । ई० स० १५० में महाक्षत्रप रुद्रदामन् ने क्षत्रियों में वीर की उपाधि धारण करनेवाले यौधेयों को परास्त किया था‖ । इन सब विवेचनों से ज्ञात होता है कि योधेय एक बलशाली जाति समझीजाती थी जिसे समुद्रगुप्त द्वारा पराजित होना पड़ा । ऐसा समझा जाता है कि कुषाण वंश को नष्ट करने में इस संघ ने भी योग दिया था । पंजाब की बहावलपुर रियासतमें रहने वाली याहिया नामक जाति यौधेयों की आधुनिक वंशधर हैं तथा उस प्रदेश का योहियावार नाम इन्हीं यौधेयों से निकला है । यौधेयों के कई प्रकार के सिक्के मिलते हैं जिन पर 'यौधेयानां गणस्य जयः' या 'भगवतो स्वामिन•ब्रह्मण यौधेयदेवस्य' लिखा रहता है$ । इनका राज्य उत्तरी राजपूताना तथा पूर्वी पंजाब में फैला था ।

(४) मद्रक

प्राचीन काल में मद्रकों का निवासस्थान उत्तर-पच्छिम में था । पाणिनी इसे आयुधजीविन संघ के नाम से पुकारते हैं() । झेलम तथा रावी के बीच का भाग मद्र-देश के नाम से प्रसिद्ध था▯ । इससे प्रकट होता है कि समुद्रगुप्त ने पश्चिमोत्तर की ओर जाकर इस गण जाति को परास्त किया । इसके पश्चात् समुद्र ने पश्चिम को ओर बसने वाली जातियों पर आक्रमण किया । इनकी राजधानी सियालकोट थी ।

(५) आभीर

आभीर जाति की सम्भवतः दो शाखाएँ थीं जो पंजाब तथा मध्यभारत में निवास करती थीं । सिकन्दर से इनका युद्ध हुआ था जिनको यूनानी ऐतिहासिकों ने सोड्राई लिखा है । संस्कृत साहित्य में इनको शूद्र कहते हैं और पतञ्जलि ने भी महाभाष्य + में इनका वर्णन किया है । पंजाब की शाखा के अतिरिक्त आभीर लोग पश्चिमी राजपुताना और मध्यभारत में निवास करते थे । दूसरी शताब्दी में आभीर लोगों का प्रताप विशेष रूप से फैला था । इसी समय इन्होंने पश्चिमी भारत के शासक शक महाक्षत्रप को परास्त किया और आभीर ईश्वरसेन ने शासक का स्थान ग्रहण कर लिया था × । आभीरों के निवासस्थान होने के कारण झाँसी तथा

---

‡ अष्टाध्यायी ५ । ३ । ११४

‖ सर्वक्षात्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकाविधेयानां यौधेयानां (इ० ए० भा० ८ पृ० ४७) ।

$ कायन ऑफ ऐंशेंट इंडिया प्लेट ६ ।

() मद्रवृज्ययोः कन् ।

▯ आरके० सर्वे रिपोर्ट भा० २ पृ० १४ ।

\+ महाभाष्य १ । २ । ३ ।

× गुण्डा की प्रशति से ज्ञात होता है कि ईश्वरसेन आभीरों का सेनापति था । परन्तु नासिक गुहा नं० १० के लेख में आभीर ईश्वरसेन दो वर्ष का शासन कर्त्ता प्रकट होता है—आभिरय ईश्वरसेनस्य द्वितीयसंवत्सरे । इसकी पुष्टि सिक्कों से होती है जिन पर ईश्वरदत्त नाम मिलता है । उन पर प्रथम तथा द्वितीय वर्ष पृथक्-पृथक् खुदा है । इससे आभीर राजा के दो वर्षों तक राज्य करना प्रमाणित होता है ।

भिलसा (मध्यप्रदेश) के मध्यभाग को आहिरवाड़ा कहते हैं* । समुद्रगुप्त ने इस बढ़ते हुये अभीरों के प्रवाह को रोका जिसके कारण ये उसके अधीन हो गये।

(६) प्रार्जुन

इस गण-राज्य के स्थान के विषय में अभी तक कुछ बातें ज्ञात नहीं हैं। इसका नाम मध्यभारत के संघ-राज्यों के साथ उल्लिखित है अतएव ये भी मध्यभारत में कहीं स्थित होंगे। अर्थशास्त्र में भी इसका नाम आता है।

(७) सनकानीक

यह भी मध्यभारत का गण-राज्य था। समुद्रगुप्त के पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त के उदयगिरि के लेख में सनकानीक महाराजा का वर्णन मिलता है जो प्रकट करता है कि सनकानीक शासक गुप्तों के अधीन थे† । इससे सिद्ध होता है कि समुद्रगुप्त के समय में ही सनकानीक शासक परास्त हुए जो सम्भवतः उदयगिरि प्रदेश (मध्यभारत) के समीप निवास करते थे।

(८) काक

काक नामक गण-राज्य के विषय में अभी तक कोई निश्चित मत स्थिर नहीं है। पराजित गण-राज्यों की नामावली से यही ज्ञात होता है कि गुप्त नरेश ने इसके शासक को भी परास्त किया। महाभारत (६, ६, ६४) में भी काक लोगों का वर्णन मिलता है। (ऋषिका विदर्भाः काका तुंगना परितुंगना) समुद्र के पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त का एक लेख काकनाड (साँची) नामक स्थान से मिला है जिससे प्रकट होता है कि यह स्थान समुद्र के समय में गुप्तों के अधीन हो गया था‡ । इस लेख के आधार पर ज्ञात होता है कि साँची के समीपवर्ती प्रदेश का नाम काक या काकनाड़ था। जायसवाल भिलसा से बीस मील उत्तर काकपुर नामक स्थान में काकों का निवास स्थान बतलाते हैं‖ । जिनका नाम संभवतः काक जाति के रहने के कारण पड़ा हो।

(९) खर्परिक

इस गण-राज्य का नाम मध्यभारतीय संघों में उल्लिखित होने के कारण यह ज्ञात होता है कि इनका निवास स्थान मध्यप्रदेश का दमोह जिले में स्थित था§ ।

समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा की दुंदुभी समाप्त होने पर उसके दिग्विजय का प्रताप सूदूर देशों में फैल गया। उस विजेता की अतुल कीर्ति इस चरम सीमा को पहुँची कि उसके समीपवर्ती राज्यों को बाधित होकर समुद्र से मित्रता की भीख माँगनी पड़ी। इसी मैत्री के कारण उन पर गुप्त नरेश ने आक्रमण नहीं किया तथा उनका राज्य शांतिमय रहा। विदेशी राजाओं ने केवल मित्रता का दिखलावा नहीं किया प्रत्युत उसे कितनी ही चीजें भेंट में दीं। इन नरेशों ने आत्मनिवेदन, अपनी कन्याओं की भेंट तथा अपने राज्य (विषय व भुक्ति) में शासन करने के लिए गरुड़ की आकृति से मुद्रित

विदेश में प्रभाव

* जे० आर० ए० एस० १८९७ पृ ८९१ ।

† गु० ले० नं० ३ ।

‡ गु० ले० नं० ५ ।

‖ जे० बी० ओ० आर० एस० २८।

§ इ० हि० क्वा० १९५ पृ० २५८ ।

आज्ञा-पत्र माँगे*। इन विदेशी राजाओं का नाम प्रयाग की प्रशस्ति में निम्न प्रकार से उल्लिखित है—'दैवपुत्र शाहि शाहानुशाही शकमुरुण्डैः सैंहलकादिभिश्च'।

इसमें किन किन राजाओं का उल्लेख है, यह विषय विवादास्पद है। कतिपय विद्वान् अनुमान करते हैं कि इस उल्लेख से पाँच राजाओं—(१) दैवपुत्र शाहि (२) शाहानुशाहि (३) शक (४) मुरुण्ड तथा (५) सैंहल का बोध होता है†। दूसरे लोग चार राजाओं का उल्लेख मानते हैं। इन भिन्न-भिन्न मतों का कोई विशेष पार्थक्य न होने से यह मानना युक्तिसंगत है कि दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि की पदवी से एक ही नरेश का बोध होता है। इसी प्रकार शक, मुरुण्ड तथा सैंहल का नाम भी उसी के साथ उल्लिखित है।

(१) दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि

यह एक पदवी है जो विदेशी राजा के लिए प्रयोग की गई है। पश्चिमोत्तर प्रांत में एक कुषाण नामक विदेशी जाति गुप्तों से पहले ही शासन करती थी। इन राजाओं के लेख तथा सिक्के पर इस पदवी का उल्लेख मिलता है‡। कुषाणों के राज्य नष्ट होने के पश्चात् बहुत सी जातियाँ गान्धार के समीप शासन करती थीं। इनका नाम किदार कुषाण है। ये बड़े कुषाणों के स्थान पर पश्चिमोत्तर प्रांत में शासन करते रहे। चौथी सदी में कोई भी उस प्रदेश में प्रभावशाली राजा नहीं था अतएव बहुत सम्भव है, इन छोटे (किदार) कुषाणों ने पहले के कुषाणों की इस लम्बी पदवी को धारण किया हो। अन्त में किदार कुषाण नरेशों ने समुद्रगुप्त के प्रबल प्रताप के सम्मुख सिर झुकाया तथा उससे मित्रता स्थापित की।

(२) शक

विदेशी राजाओं की नामावली में शक जाति को दूसरा स्थान मिला है। इन्होंने भी पश्चिमोत्तर किदार कुषाणों के सदृश समुद्रगुप्त के प्रताप के सामने सिर झुकाया। गुप्तों से पहले शक जाति पश्चिम तथा मध्य भारत में शासन करती थी। इस शक से सौराष्ट्र के शक क्षत्रप तथा मध्य भारतीय शक नरेशों का तात्पर्य है। इन्हीं शक नरेशों का एक लेख साँची के समीप मिला है जिससे ज्ञात होता है कि महादण्डनायक श्रीधरवर्मन् ई० स० ३१९ के लगभग

---

* आत्मनिवेदनकन्योपायनदानगरुत्मदङ्कस्वविषय भुक्तिशासनयाचना—फ्लीट गु० ले० नं० १।

† अलन—गुप्त क्वायन पृ० ७९ ; डा० अलतेकर—गुप्त गोल्ड क्वायनस इन बयाना होर्ड भूमिका पृ० २०।

‡ शाहानुशाहि ईरान की प्रभुत्व-सूचक राजाओं की पदवी है। इनका ही कुषाणों ने अनुकरण किया तथा अपने लेखों व सिक्कों पर इसे स्थान दिया। संस्कृत में इस पदवी को महाराज या राजतिराज के रूप में पाते हैं जिसे हिन्दू राजा भी धारण करते थे। आरा की प्रशस्ति (का० इन० इन्डी० भा० २ पृ० ८९) तथा मथुरा के समीप प्राप्त एक लेख में (आर० सर्वे रिपोर्ट १९११-१२ पृ० १२४) महाराज राजतिराज व देवपुत्र की उपाधि कुषाण राजाओं के लिये प्रयुक्त है। कुषाण-सिक्कों पर इस पदवी को शावो-नैनो-शावो (Shao Nano Shao) के रूप में पाते हैं। इसी का यूनानी रूपान्तर वैसिलियस वैसिलियान माना गया है।

राज्य करता था*। इस लेख के द्वारा मध्यभारत में शकों का अस्तित्व ज्ञात होता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि सभी विदेशियों के समान शकों को भी समुद्रगुप्त के अधीन होना पड़ा परन्तु इसके पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त ने शकों को परास्त कर उनके राज्य को गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

(३) मुरुण्ड

शकों के पश्चात् मुरुण्ड जाति के शासकों ने भी समुद्रगुप्त की शरण ली तथा उसकी छत्रछाया में रहकर वे शासन करते रहे। मुरुण्ड जाति के विषय में विद्वान् भिन्न-भिन्न अनुमान करते हैं। स्टेनकेनो का कथन है कि मुरुण्ड पृथक् कोई जाति नहीं थी। शक भाषा में मुरुण्ड का अर्थ है स्वामिन्† अतएव शक मुरुण्ड से शक जाति के स्वामी या राजा का बोध होगा। जायसवाल शक मुरुण्ड से शक वंश के छोटे-छोटे राज्यों का अर्थ निकालते हैं‡। पुराणों में यवन तथा तुषार के साथ मुरुण्ड शब्द मिलता है§ कि मरुण्ड जाति के तेरह राजाओं ने दो सौ वर्ष राज्य किया था। खोह लेखों में भी मुरुण्ड स्वामी का उल्लेख आता है। विद्वानों का अनुमान है कि इन राजाओं ने पुरी-कुषाण सिक्कों को तैयार कराया था। जैन ग्रंथ प्रभावक चरित में भी वर्णन मिलता है कि मुरुण्ड वंश का अधिकार पाटलिपुत्र पर था। ऐसी परिस्थिति में निश्चित तथा प्रामाणिक रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है। अधिकतर इनको पश्चिमी भारत का शासक माना जा सकता है जहाँ से समुद्रगुप्त से मैत्री स्थापित की।

(४) सैंहल

समुद्रगुप्त का प्रभाव सुदूर पश्चिमोत्तर प्रदेशों में तो फैला था ही, परन्तु इससे भी दूर दक्षिण भारत के समीपस्थ द्वीपों में भी उसकी कीर्ति ने अपना स्थान बनाया। प्रशस्ति में 'सर्वद्वीपवासिभिः' का उल्लेख है परन्तु उनमें केवल सैंहल का नाम ही मिलता है। इस सैंहल द्वीप से लङ्का का तात्पर्य है। इसका राजा मेघवर्ण गुप्त विजेता समुद्र का समकालीन था जिसका शासनकाल ई० स० ३५१—७९ तक माना गया है। इस राजा (मेघवर्ण) ने समुद्र से मित्रता स्थापित की तथा उसके उपलक्ष में अपने दूत के साथ-साथ अमूल्य रत्न भी भेंट में भेजा। मेघवर्ण का विचार था कि बोधगया में बौद्ध यात्रियों के विश्राम के लिए एक मठ बनवाया जाय जिसकी आज्ञा उसने गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त से माँगी। समुद्र ने अपने सम्मान के बदले में उसे मठ निर्माण की आज्ञा दे दी ; तदनुसार मेघवर्ण ने कला-कौशल से युक्त एक मठ तैयार कर रत्नजटित बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की। एक चीनी बौद्ध यात्री

* ए० इ० भा० १६ पृ० २३२ ; जे० आर० ए० एस० १९२३ पृ० ३३७।

† ए० इ० भा० १४ पृ० २९२ ; जे० बी० ओ० आर० एस० भा० २३ पृ० ४४९।

‡ जे० बी० ओ० आर० एस० भा० १८ पृ० २१०।

§ वायु पुराण ९९, ३६०, ३६३।

ने उस मठ का सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है*। इस वर्णन से प्रगट होता है कि समुद्रगुप्त ने विदेशियों से अपनी मित्रता का निर्वाह किस सीमा तक किया था। इस प्रकार गुप्त नरेश का प्रताप हिमालय से लेकर लंका आदि द्वीपों तक तथा सौराष्ट्र से बंगाल तक विस्तृत हो गया। उस समय भारत में ऐसा कोई प्रतापी शासक न रहा जो समुद्रगुप्त के सम्मुख सिर उठाता। लंका क्या जावा सुमात्रा तक इसका प्रभाव फैल गया।

सम्राट् समुद्रगुप्त की इतनी विशाल कीर्ति का विस्तार समझते हुए यह सन्देह होता है कि क्या सचमुच उनका साम्राज्य इतनी दूरी तक विस्तृत था? परन्तु ऐसी बात नहीं थी।

राज्य-विस्तार

समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त, दक्षिणापथ, आटविक राज्य, प्रत्यन्त नृपति तथा और द्वीपों के नरेशों पर विजय प्राप्त करने पर भी समस्त विजित देशों को अपने अधिकार में नहीं किया। अतएव समस्त प्रदेश गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं थे। भिन्न-भिन्न देशों में इसकी पृथक्-पृथक् नीति थी। सुदूर देशों से समुद्र ने मैत्री स्थापित की। दक्षिण के सब शासक इसकी छत्रछाया में रहकर अपने-अपने राज्य पर शासन करते रहे। समुद्रगुप्त ने केवल आर्यावर्त तथा जंगलों के समस्त देशों को गुप्त-साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार समुद्र का साम्राज्य उत्तरी भारत से मध्य प्रदेश तक विस्तृत था। समुद्रगुप्त ने देशवर्द्धन की नीति को ग्रहण नहीं किया तथा उसके दिग्विजय का मुख्य ध्येय अपनी विजयपताका फहराना था। सम्भवतः इसी कारण समुद्र ने अधिक देशों को साम्राज्य में नहीं मिलाया।

उपरियुक्त वर्णन से स्पष्ट सिद्ध है कि समुद्रगुप्त ने हजारों कोसों की यात्रा की तथा भारत के कोने-कोने में अपनी विजय-दुन्दुभि बजाई। समस्त उत्तरापथ के राजाओं को जीतकर समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के राजाओं को परास्त किया। यह बिहार तथा उड़ीसा के वनमय प्रदेशों से होता हुआ मद्रास के काञ्जीवरम् नगर तक पहुँचा। भारत के पूर्वी तट पर महानदी तथा कृष्णा के बीच के देशों को जीत कर वह स्वदेश को लौट गया।

अश्वमेध यज्ञ

अपनी इन महान् दिग्विजय से ही वह वीर योद्धा संतुष्ट न हो सका। सीमान्त के राजाओं को भी उसने अपने वश में कर लिया। स्वतन्त्रता के परम पुजारी गणराज्यों ने भी इसके प्रबल प्रताप के आगे अपना मस्तक अवनत कर दिया। इसके अतिरिक्त इसने विदेशी राजाओं के भी दाँत खट्टे किये। पश्चिमोत्तर प्रदेश से वंक्षु तक के प्रदेशों के शासक—शाहानुशाहि उपाधिधारी राजाओं ने भी तथा सुदूर दक्षिण में स्थित लङ्का के राजा मेघवर्ण ने भी इसकी मैत्री की याचना की। इन राजाओं को राजाज्ञा के पालन के साथ ही अपनी कन्याओं को गुप्तों के विवाह में देना पड़ा। इस प्रकारके विजय से समुद्रगुप्त का प्रभाव समस्त भारत में छा गया। चतुर्दिक् में इसकी कीर्ति फैल गई। समस्त राजागण नतमस्तक हो उनकी सत्ता मानने लगे। भिन्न-भिन्न दिशाओं में आरोपित विजय-वैजयन्तियों के द्वारा मानों इसका यश स्वर्गलोक में भी जाने का तथा उसे भी व्याप्त करने का प्रयत्न करने लगा। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय उसका यश अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था तथा उसके समान प्रतापी एवं पराक्रमी नरेश उस शताब्दी में कोई दूसरा न था।

* महावंश (अनु०) पृ० ३९; इ० ए० १९०२ पृ० १९४।

अपने महान् विजयरूपी यज्ञ के पूर्णाहुति-स्वरूप समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। प्राचीन काल में अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान सार्वभौम प्रभुता का सूचक था। इस यज्ञ को वही नरेश कर सकता था जो सर्वश्रेष्ठ राजा समझा जाता था। अतः समुद्रगुप्त का इस काल में अश्वमेध यज्ञ करना सर्वथा उचित ही था। इस यज्ञ में दान देने के लिए समुद्रगुप्त ने सोने के सिक्के भी ढलवाये थे। उन सिक्कों पर एक ओर यज्ञस्तम्भ (यूप) में बँधे हुए घोड़े की मूर्ति है तथा दूसरी ओर हाथ में चँवर लिये समुद्रगुप्त की महारानी का चित्र अंकित है। इन सिक्कों पर अग्र भाग में "राजाधिराजः पृथिवी मवित्वा दिवं जयत्या हृत वाजिमेधः" तथा पृष्ठ भाग पर 'अश्वमेधपराक्रमः' लिखा हुआ है। समुद्रगुप्त के वंशजों ने उसके लिए 'चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्त्तुः' शब्द का प्रयोग किया है। उसने उस वैदिक प्रथा का पुनः प्रचलन किया जो काल की कुटिलता से चिरकाल से प्रायः बन्द सी हो गई थी। इस प्रकार अश्वमेध यज्ञ का विधिवत् अनुष्ठान कर अपने प्रबल बाहुओं से उपार्जित एकाधिपत्य का समर्थन समुद्रगुप्त ने यज्ञ विधान के द्वारा किया था।।

समुद्रगुप्त के समय के केवल तीन शिलालेख प्रयाग*, एरण† (सागर जिला, मध्य-प्रदेश) तथा गया‡ इन तीन स्थानों में मिले हैं जिनमें केवल गया की प्रशस्ति में ही तिथि का उल्लेख मिलता है। इस लेख की तिथि गुप्त संवत् के नवें वर्ष की है जो ईसवी सन् (३१९ + ९) ३२८ वर्ष में पड़ती है। डा० रायचौधरी को इस लेख के पाठ पर विश्वास नहीं है‖। डा० फ्लीट तो गया की प्रशस्ति को कल्पित बतलाते हैं§। परन्तु राखालदास बैनर्जी का कथन है कि यह प्रशस्ति जाली (कल्पित) नहीं है; तथा वे इस नवें वर्ष की तिथि को सत्य मानते हैं[]। समुद्रगुप्त के काल-निर्णय में गया की प्रशस्ति तथा द्वितीय चन्द्रगुप्त की मथुरा की प्रशस्ति से बड़ी सहायता मिलती है। मथुरा का शिलालेख द्वितीय चन्द्रगुप्त की सर्वप्रथम प्रशस्ति है, जिसकी तिथि गुप्त संवत् के ६१ वें वर्ष की है। इसी आधार पर यह अनुमान किया गया है कि समुद्रगुप्त ईसा के ३८० वर्ष के (३१९ + ६१) पहले ही अपने राज्य शासन की समाप्ति कर चुका होगा। जब यह (समुद्रगुप्त) ३२८ ई० में राज्य करता था तो प्रकट होता है कि यह कुछ वर्ष पहले ही सिंहासनारूढ़ हुआ होगा। अतः समुद्रगुप्त का शासनकाल ३२५ ई० से लेकर ३७५ ई० तक माना जाता है।

काल-निर्णय

समुद्रगुप्त केवल युद्ध कला में ही निपुण नहीं था परन्तु राजनीति में बड़ा ही दक्ष

---

* का० इ० इ० नं० १।

† वही नं० २।

‡ ए० इ० भा० १३।

‖ राय-चौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एंशेंट इंडिया पृ० सं० ३७५।

§ फ्लीट—गुप्त लेख भूमिका।

[] बैनर्जी—दि एज आफ इम्पीरियल गुप्त पृ० ८।

था। उसके साम्राज्य की शासन-व्यवस्था तथा अन्तरराष्ट्रीय संबंध पर विचार करने से उसकी नीति का परिचय पर्याप्त मात्रा में मिलता है। गुप्त साम्राज्य को सुदृढ़ तथा सुसंगठित करना उसका ध्येय था। वह सर्वत्र एक ही नीति पर अवलम्बित नहीं रहा परन्तु प्रत्येक प्रदेश के राजाओं के साथ उसने भिन्न-भिन्न नीति का बर्ताव किया। समस्त राज्यों को जीतकर अपनी छत्रछाया में रखकर उनके ऊपर शासन करना उनकी नीति के विरुद्ध था। उसके पूर्वजों का राज्य-विस्तार बहुत ही कम था अतः उसने उत्तरापथ के राज्यों को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया। इन आर्यावर्त्त के नरेशों के प्रति उसका व्यवहार अत्यन्त कठोर था। उनकी स्वतन्त्रता को छीन करके उसने विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की थी। समुद्रगुप्त ने अपना सामाज्य सुरक्षित करने के लिए सीमा पर स्थित मगध तथा उड़ीसा के मध्य जङ्गलों के राजाओं को अपना सेवक बनाया। इसी कारण वे नरेश गुप्त-राजाओं के सदा सहायक बने रहे। यही नीति आधुनिक काल में भी दृष्टिगोचर होती है। भारतीय सरकार ने भारत के सीमान्त प्रदेश नेपाल, अफगानिस्तान आदि से सन्धि स्थापित की है। उनसे शेष राजाओं को कर देने, प्रणाम करने तथा अपनी आज्ञा मानने पर विवश किया। समुद्रगुप्त की यह नीति लाभदायक सिद्ध हुई। इस बीसवीं शताब्दी में जिस कूट-नीति के कारण अँगरेज जाति प्रवीण राजनीतिज्ञ समझी जाती रही ठीक उसी कूटनीति का व्यवहार आज से १६०० वर्ष पहले इस वीर भारतीय सम्राट् ने किया था। समुद्रगुप्त ने प्रभुत्व स्थापन को लिए कठोरता का व्यवहार नहीं किया बल्कि उसने निर्बल तथा पराजित राष्ट्रों के प्रति उदारता का बर्ताव भी किया था। कितने ही नष्ट राजवंशों को इसने फिर से प्रतिष्ठापित किया। दक्षिणपथ के राजाओं के प्रति उसने अनुग्रह दिखलाया तथा उनको अपने वश में करके पुनः मुक्त कर दिया। इन राजाओं को सदा ही इसने वैतसी वृत्ति का पाठ सिखलाया। इसने दक्षिणापथ के राजाओं को परास्त करके उनकी लक्ष्मी को ही चुराया, उनकी पृथ्वी (राज्य) को नहीं। मानों महाकवि कालिदास ने रघु के दिग्विजय के व्याज से इसी धर्म-विजयी नरेश के दिग्विजय का वर्णन किया हो—

नीति-निपुणता

> ग्रहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
> श्रियं महेन्द्रनाथस्य, जहार न तु मेदिनीम्॥ रघुवंश—सर्ग ४

इस प्रकार समुद्रगुप्त एक धर्मविजयी नरेश था। अन्य शासकों की नाई इसका कार्य प्रजा को लूटना-खसोटना नहीं था बल्कि यह उनके विजित राष्ट्र को भी लौटा देता था।

सुदूरवर्ती विदेशियों के साथ इसने मित्रता का व्यवहार स्थापित किया तथा विदेशियों ने भी इसकी विविध प्रकार की सेवा की और गुप्त-राजाज्ञा की भिक्षा माँगी। उपरियुक्त नीति के आधार पर ही इसने अपने साम्राज्य का सङ्गठन किया और समुद्र ने साम, दाम, दण्ड, भेद इन चारों नीतियों को व्यवहृत किया। उसकी नीति न तो अत्यन्त कठोर थी और न अत्यन्त

मृदुल। उसकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी परन्तु अरुन्तुदा न थी। प्रतापी होने पर भी उसका कर्म शान्त था और उसका उष्ण मन दूसरे को व्याकुल करनेवाला नहीं था*।

देश-काल के अनुसार समुद्र अपनी नीति का प्रयोग किया। स्मिथ ने समुद्रगुप्त पर 'राज्यों के अपहरण करने का' अभियोग लगाया है। परन्तु उनकी धारणा नितांत निराधार है। हिन्दू नीतिशास्त्र के अनुसार समस्त राजाओं में वह सर्वोपरि बनना चाहता था परन्तु अन्य राज्यों का अपहरण कर उन्हें अपनी छत्रछाया में रखना ही उसका प्रयोजन नहीं था। उसे राज्य की तृष्णा नहीं थी परन्तु भारत में साम्राज्य के प्रभुत्व से उत्पन्न यश तथा अतुलनीय पराक्रम से उत्पन्न कीर्ति का वह लोभी था। प्रयागवाली प्रशस्ति में निम्नलिखित प्रकार की नीतियों का वर्णन मिलता है—

(१) राजग्रहण मोक्षानुग्रह = राजाओं को जीतकर, अनुग्रह से उनको पुनः राज्याधिकार देना। यह नीति दक्षिणापथ के राज्यों के प्रति व्यवहृत की गई थी।

(२) राजप्रसभोद्धारण = बलपूर्वक राज्यों को साम्राज्य में मिलाना। इसका प्रयोग आर्यावर्त के राजाओं के प्रति हुआ था।

(३) परिचारकीकृत = सेवक बनाना। बन के नरेशों के साथ इसका व्यवहार हुआ।

(४) करदानाज्ञाकरण प्रणामागमन = कर देना, आज्ञा मानना तथा प्रणाम करना। प्रत्यन्त नृपति तथा गण-राज्यों के साथ समुद्रगुप्त ने इस नीति के द्वारा बर्ताव किया था।

(५) भ्रष्टराज्योत्सन्नराजवंशप्रतिष्ठा -- नष्ट राज्यों की पुनः स्थापना करना। दक्षिणापथ के राजाओं के साथ यह नीति व्यवहृत हुई थी। इससे समुद्रगुप्त के विशाल-हृदय का परिचय मिलता है।

(६) आत्मनिवेदन, कन्योपायन-दान, गरुत्मदङ्क-स्वविषयभुक्ति-शासन याचना-आत्मसमर्पण, कन्या का विवाह, गरुड़ की मुद्रा से अंकित अपने विषय तथा भुक्ति में राजाज्ञा की भिक्षा माँगना†। समुद्रगुप्त ने इस नीति का व्यवहार विदेशी राजाओं के साथ भी किया था।

(७) प्रत्यर्पण‡—विजित राजाओं के छीने हुए धन को पुनः लौटा देना।

---

* महाकवि माघ ने इसी बात को निम्नलिखित श्लोक में कितनी सुन्दर रीति से अभिव्यक्त किया है—

तीक्ष्णा नारुन्तुदा बुद्धिः, शान्तं कर्म स्वभावजम्।
नोपतापि मनः सोष्म, वागेका वाग्मिनः सतः॥

† कुछ विद्वानों में 'गरुत्मदङ्क-स्वविषयभुक्ति-शासनयाचना' के अर्थ में गहरा मतभेद है। जायसवाल का मत था कि विदेशियों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर गरुड़ध्वज से अङ्कित समुद्रगुप्त के सिक्कों को अपने राज्य (विषय-भुक्ति) में प्रचलित करने की आज्ञा माँगी थी।

‡ स्वभुजबलविजितानेकनरपतिविभवप्रत्यर्पणानित्यनित्यव्यापृतायुक्तपुरुषस्य। प्रयाग की प्रशस्ति।

हरिषेण ने वर्णन किया है कि समुद्रगुप्त कुबेर, वरुण तथा इन्द्र आदि के समान था तथा उसके सेवक विजित राजाओं के धन को लौटाने में तल्लीन थे* ।

उपरियुक्त विभिन्न व्यवहृत नीतियों के वर्णन से समुद्रगुप्त की नीति-निपुणता तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति-कुशलता का पूर्ण परिचय मिलता है। अतः यदि समुद्रगुप्त को चतुर राजनीतिज्ञ कहा जाय तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं होगी। कई सदियों के बाद समुद्रगुप्त ने पुनः एकराट् साम्राज्य की स्थापना की। अपनी अद्भुत नीति-निपुणता के कारण इसने गुप्त-साम्राज्य की नींव इतनी सुदृढ़ बनाई कि कई शताब्दियों तक प्रबल पराक्रमी शत्रु इसे हिलाने में समर्थ नहीं हो सके। इसने चञ्चला राजलक्ष्मी को भी अपनी परिचारिका बनाया था इसी कारण राज्य-लक्ष्मी इसके वंशजों को सैकड़ों वर्षों तक नहीं छोड़ सकी। इसने अपने राज्य में इतना सुदृढ़ शासन स्थापित किया कि खुले राजद्रोह की तो कथा ही क्या, कोई भी इसके विरुद्ध अपना सिर तक नहीं उठा सका। दुष्टों को दण्ड देकर तथा सज्जनों की रक्षा कर इसने अपने राज्य में शान्ति-स्थापना की। यदि गुप्त-साम्राज्य को चिर-स्थायिता प्रदान करने का किसी को श्रेय है तो सबसे प्रधान श्रेय सम्राट् समुद्रगुप्त को ही है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि सम्राट् समुद्रगुप्त कितना शक्तिशाली तथा प्रभावशाली राजा था। बहुधा देखा जाता है कि अनेक महाराजा सर्व-सम्पत्ति-सम्पन्न होने पर भी अपने पारिवारिक जीवन से सुखी नहीं रहते हैं। उनका पारिवारिक जीवन कष्टमय रहता है तथा उनको कभी शान्ति नहीं मिलती। कभी सन्तानहीन होने का कष्ट उन्हें सताता है तो कभी कुटुम्बियों का दुःख उन्हें पीड़ित करता है। कभी भाई के द्वारा राज्य-षड्यन्त्र की चिन्ता उन्हें लगी रहती है तो कभी भोजन में विष का सन्देह उनके हृदय को सदा सशंकित बनाये रहता है कौन नहीं जानता कि पुत्रहीन दिलीप को दुःख से दग्ध गर्म आँसू पीने पड़े थे तथा अपनी सन्तान के कुपुत्र होने के कारण शाहजहाँ को कारागार के भीतर नरक की यातना सहनी पड़ी थी। परन्तु ऐसी दुर्घटनाएँ सम्राट् समुद्रगुप्त के जीवन में कभी नहीं हुईं। न तो उसे पुत्रों की कमी थी और न सत्पुत्रों का अभाव। उसके राज्य-वैभव से सम्पन्न गृह में अनेक पुत्र, पौत्र नित्य क्रीड़ा किया करते थे तथा उसकी व्रतिनी कुलवधू उसे नित्य आनन्द देती थी। एरण की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के पारिवारिक जीवन के विषय में क्या ही अच्छा लिखा है—

पारिवारिक जीवन

...स्य पौरुषपराक्रमदत्तशुल्का,
हस्त्यश्वरत्नधनधान्यसमृद्धियुक्ता।
...गृहेषु मुदिता बहुपुत्र-पौत्र—
संक्रामणी कुलवधूः व्रतिनी निविष्टा ॥

जब समुद्रगुप्त के सुख का अनुमान किया जाता है तो ईर्ष्या सी उत्पन्न होने

* धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य।—वही।

लगती है। एकछत्र साम्राज्य, समस्त सामन्त राजाओं का स्वामित्व-स्वीकार, समस्त भारत में यशःस्थापना, अश्वमेध-पराक्रम में प्रसिद्धि, दीनानाथों का शरणत्व, चारों ओर प्रभाव, तिस पर भी घर में अनेक सुयोग्य पुत्र, पौत्र तथा व्रतिनी कुलवधू, इन सबका सुन्दर संयोग। अब इससे अधिक क्या चाहिए था। अवश्य ही बुढ़ापे में प्रबल प्रतापी सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) जैसे सुयोग्य, सुशासक पुत्र को पाकर समुद्रगुप्त अपने को कृतकृत्य समझता होगा। अपनी व्रतिनी कुलवधू का स्मरण तथा दर्शन अवश्य ही उसे आनन्द-सागर में डुबो देता होगा।

राजनैतिक जीवन में प्रसिद्धि तथा पारिवारिक जीवन के आनंद की कल्पना से अवश्य समुद्रगुप्त का हृदय स्वर्गीय आनन्द से फूला न समाता होगा। द्वितीय चन्द्रगुप्त जैसा जिसे पुत्ररत्न हो उसके भाग्य से देवता भी ईर्ष्या करते होंगे। समुद्रगुप्त के परिवार के कोई भी व्यक्ति (भाई आदि) ऐसा न था जिसके कारण उसको कुछ भी कष्ट हुआ हो। यदि उसके जीवन पर हम दृष्टिपात करते हैं तो हमें उसका जीवन आदि से अन्त तक सुखमय ही मिलता है। वस्तुतः संसार के इतिहास में समुद्रगुप्त के समान भाग्यशाली विरले ही पुरुष मिलेंगे। अब अन्त में हम भी हरिषेणका निम्नाङ्कित श्लोक देकर इस पुनीत चरित्र को समाप्त करते हैं।

यस्य—

प्रदानभुजविक्रमप्रशमशास्त्रवाक्योदयै-
रुपर्य्युपरि संचयोच्छ्रितमनेकमार्गं यशः।
पुनाति भुवनत्रयं पशुपतेर्जटान्तर्गुहा-
निरोधपरिमोक्षशीघ्रमिव पाण्डु गाङ्गं पयः॥

गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के पश्चात् इस विशाल गुप्त-साम्राज्य का कौन उत्तराधिकारी हुआ, इस विषय में विद्वानों ने गहरा मतभेद है। गुप्त लेखों से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त का पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य अपने पिता के बाद राजसिंहासन पर बैठा। परन्तु आधुनिक काल में ऐतिहासिक पण्डितों ने गुप्तों के एक नये राजा को खोज निकाला है जिसे वे रामगुप्त के नाम से सम्बोधित करते हैं। उन विद्वानों का कथन है कि समुद्रगुप्त तथा द्वितीय चन्द्रगुप्त के मध्यकाल में काच या रामगुप्त नामक एक गुप्त-नरेश ने अल्प समय तक शासन किया। रामगुप्त की ऐतिहासिक स्थिति के न माननेवाले विद्वानों का कथन है कि गुप्त-लेखों में इस राजा का उल्लेख नहीं मिलता और न इसी का कोई लेख मिला है। जितने साहित्यिक प्रमाण हैं वे छठीं शताब्दी के पूर्व के नहीं हैं। परन्तु ऐसे विवाद में कोई सार नहीं है। अनेक गम्भीर तथा प्रामाणिक साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर इस नये राजा रामगुप्त की स्थिति मानने में तनिक बाधा नहीं प्रकट होती। इन साहित्यिक प्रमाणों की पुष्टि एक काच नामक सिक्के से होती है जो रामगुप्त का

रामगुप्त

सिक्का माना जा सकता है। इस संक्षिप्त उपक्रम के बाद रामगुप्त की ऐतिहासिकता पर विचार किया जायगा।

काच की स्वर्णमुद्रा

काचगुप्त की ऐतिहासिक वार्त्ता

रामगुप्त (काच) के आधारभूत प्रमाणों पर विचार करने से पूर्व इसके संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण से परिचित होना अधिक उचित है। उन प्रमाणों के अध्ययन से पता लगता है कि गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त के बाद उसका पुत्र रामगुप्त राजसिंहासन पर बैठा। यह अत्यन्त बुद्धिहीन तथा कमज़ोर हृदय का मनुष्य था। रामगुप्त के समकालीन शक राजा ने उस पर आक्रमण किया। सन्धि के फल-स्वरूप इस गुप्त नरेश ने अपनी साध्वी पत्नी ध्रुवदेवी को शकों को समर्पित करने का वचन दिया था। इस सन्धि के बाद रामगुप्त के छोटे भाई द्वितीय चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी का वेष बनाकर शकों के समीप जाने का निश्चय किया। ऐसा करने में वह सफल हुआ तथा उसने शकपति को मार डाला। इस घटना के पश्चात् रामगुप्त—चन्द्रगुप्त या उसके प्रोत्साहक द्वारा—मार डाला गया। पति (रामगुप्त) की मृत्यु के उपरान्त महारानी ध्रुवदेवी ने अपने देवर (द्वितीय चन्द्रगुप्त) से विवाह कर लिया। रामगुप्त के बाद यही चन्द्रगुप्त राजसिंहासन पर बैठा। गुप्तों के इस राजा (रामगुप्त) की जीवन-सम्बन्धी इतनी ही घटनाओं का वर्णन मिलता है जिसका अनेक साहित्यिक ग्रंथकारों ने अपनी पुस्तकों में उल्लेख या उद्धरण किया है।

साहित्यिक प्रमाण

रामगुप्त के उपरियुक्त संक्षिप्त चरित्र-चित्रण के आधारभूत प्रमाणों का यदि सूक्ष्म रीति से अध्ययन किया जाय तो समस्त वार्ता स्वतः मालूम हो जायगी। इनका विचार तिथिक्रम के अनुसार किया जायगा। सबसे पहला संस्कृत ग्रंथ 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक नाटक है जिसमें रामगुप्त की

जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन मिलता है। यह नाटक अभी तक अप्राप्य है। परन्तु इसके थोड़े से उद्धरण रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र कृत 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रंथ में मिलते हैं। प्रश्न यह प्रस्तुत होता है कि 'देवीचन्द्र-गुप्तम्' नाटक का रचयिता कौन है तथा वह किस शताब्दी में वर्त्तमान था। विद्वानों का अनुमान है कि मुद्राराक्षस के कर्त्ता विशाखदत्त ही इस अप्राप्य नाटक के रचयिता हैं। विशाखदत्त अधीन राजवंश में उत्पन्न हुए थे तथा छठीं शताब्दी में वर्त्तमान थे। यह नाटककार राजनीति और शृङ्गारशास्त्र का ज्ञाता तथा अनेक नाटकों का रचयिता था*। ऐसे राजवंश में उत्पन्न तथा विद्वान् की लेखनी को अप्रामाणिक मानना न्यायरहित है। अतएव 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के उन ऐतिहासिक उद्धरणों को यहाँ उद्धृत किया जाता है†।

देवीचन्द्रगुप्तम्

(१) यथा देवीचन्द्रगुप्ते द्वितीयेऽङ्के प्रकृतीनामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवी-संप्रदाने अभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेनारिवधनार्थं यियासुः प्रतिपन्नध्रुवदेवीनेपथ्यः कुमारचन्द्र-गुप्तो विज्ञपयन्नुच्यते—

एतत्स्त्रीवेषधारि चन्द्रगुप्तबोधनार्थमभिहितमपि विशेषणसाम्येन ध्रुवदेव्या स्त्रीविषयं प्रतिपन्नम्, इति।

(२) आर्तिः खेदो व्यसनमिष्टाद्विरोधः यथा देवीचन्द्रगुप्ते राजा चन्द्रगुप्तमाह—

अत्र स्त्रीवेषनिह्नुते चन्द्रगुप्ते प्रियवचनैः स्त्रीप्रत्ययाद्ध्रुवदेव्या गुरुमनुसंतापरूपस्य व्यसनस्य संप्राप्तिः।

(३) इयमुन्मत्तस्य चन्द्रगुप्तस्य मदनविकारगोपनपरस्य मनोजशत्रुभीतस्य राजकुल-गमनार्थे निष्क्रमसूचिकेति।

(४) यथा देवीचन्द्रगुप्ते चन्द्रगुप्तो ध्रुवदेवीं दृष्ट्वा स्वगतमाह—इयमपि सा देवी तिष्ठति। यैषा

रम्यां चारतिकारिणीं च करुणाशोकेन नीतां दशाम्
तत्कालोपगतेन राहुशिरसा गुप्तेव चान्द्रीकला।
पत्युः क्लीबजनोचितेन चरितेनानेव पुंसः सतः
लज्जाकोपविषादभीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यते।
अत्र ध्रुवदेव्यभिप्रायस्य चन्द्रगुप्तेन निश्चयः।

देवीचन्द्रगुप्तम् के उद्धरणों के पश्चात् दूसरा शक-रामगुप्त की लड़ाई का प्रमाण

---

* कुर्वन् बुद्ध्या विमर्शं प्रसृतमपि पुनः संहरन्कार्यजातम्
कर्त्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा।—मुद्राराक्षस ४।३

† जरनल एशिएटिक्वे १९२३ पृ० २०१–०६।

बाणकृत हर्षचरित (उ० ६) में पाया जाता है। इसके वर्णन से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी का स्वाँग बनाकर शक राजा को मार डाला।

हर्षचरित

बाण सातवीं सदी के सम्राट् हर्षवर्धन के राजकवि थे। जो कुछ इन्होंने वर्णन किया है वह सब स्वयं दरबार में रहने के कारण ये जानते होंगे। हर्षचरित में निम्नलिखित वर्णन मिलता है :—

अरिपुरे च परकलत्रं कामुकं कामिनीवेषगुप्तः चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्।

बाणकृत• हर्षचरित पर टीका करते हुए शंकरार्य ने उपरिलिखित बाण के उद्धरण पर भी ठीक उसी प्रकार की ऐतिहासिक बार्तो से पूर्ण टीका लिखी जो वार्ता बाण ने लिखी है। शंकरार्य नवीं शताब्दी का टीकाकार है जिसने कामंदक नीतिसार पर भी टीका लिखी। इस पुस्तक की रचना गुप्त काल में हुई थी। अतएव राजनीतिज्ञ टीकाकार उस समय की घटनाओं से सम्भवतः परिचित अवश्य होगा। बाण के बाद चौथा प्रमाणयुक्त विवरण शंकरार्य से ही मिलता है। इन्होंने टीका यों की है—

टीकाकार शंकरार्य

शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन व्यापादितः।

इन तीनों प्रमाणों के अतिरिक्त चौथा वर्णन राजशेखर-कृत काव्यमीमांसा में मिलता है। दसवीं शताब्दी के कन्नौज के शासक यशोवर्मा के राजकवि राजशेखर ने वस्तुस्वरूप का उदाहरण देते हुए अपनी पुस्तक में एक श्लोक लिखा है जिससे रामगुप्त की जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का पता लगता है। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि हिमालय पर्वत-माला में रामगुप्त तथा शकों (खसाधिपति) में युद्ध हुआ। शर्मगुप्त ने ध्रुव-स्वामिनी खस राजा को दे दी। वहाँ एक राजा का यश स्त्रियाँ गीतों द्वारा वर्णन करती हैं—

काव्यमीमांसा

दत्त्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवी ध्रुवस्वामिनीम्
यस्मात् खण्डितसाहसो निवत्र्तते श्रीशर्मगुप्तो नृपः।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणत्क्वणत्किन्नरे
गीयन्ते तव कार्तिकेयनगर स्त्रीणां गणैः कीर्तयः॥

इन सब साहित्यिक प्रमाणों के साथ-साथ राजा भोज के शृङ्गारप्रकाश में कुछ उद्धरण मिलते हैं जो इन सब प्रमाणों को सबल बनाते हैं। शृङ्गारप्रकाश में देवीचन्द्रगुप्तम् से ही उद्धृत वाक्य मिलते हैं। भोज ११ वीं सदी के धारा के राजा थे। राजा होते हुए भोज बहुत बड़े विद्वान् तथा अनेक ग्रंथों के रचयिता थे। इनके उद्धृत वाक्य से स्पष्ट ज्ञात होता है कि स्त्रीवेषधारी चन्द्रगुप्त ने शक राजा को मार डाला।

शृङ्गार-प्रकाश

स्त्रीवेषनिह्नुतः चन्द्रगुप्तः शत्रोः स्कन्धावारमलिपुरं शकपतिवधायागमत्।

यथा देवीचन्द्रगुप्ते शकपतिना परं कृच्छ्रमापादितं रामगुप्तस्कन्धावाराम् अनुजिघृक्षुरुपायान्तराऽगोचरे प्रतिकारे निशि वेतालसाधनम्। अध्यवस्यन् कुमार चन्द्रगुप्त आत्रेयेण विदूषकेन उक्तः।

इन साहित्यिक प्रमाणों के अतिरिक्त कुछ ऐतिहासिक उल्लेख भी मिलते हैं जिनके वर्णन से इस घटना की पुष्टि होती है। दक्षिण के राजा राष्ट्रकूटवंशज अमोघवर्ष प्रथम का एक लेख मिला है*। इस संजन ताम्रपत्र (शक० ७९५) के वर्णन से ज्ञात होता है कि किसी दानी गुप्त-नरेश ने अपने भाई का राजसिंहासन ले लिया तथा उसकी दीन स्त्री को भी ग्रहण किया। इस गुप्त राजा का नामोल्लेख नहीं मिलता परन्तु ताम्रपत्र में अमोघवर्ष प्रथम उस गुप्तनरेश से भी अधिक दानशील होने का दावा रखता है। इस लेख में सम्भवतः द्वितीय चन्द्रगुप्त का निर्देश किया गया है जिसने रामगुप्त की स्त्री से विवाह किया तथा जो उसके बाद राज्य का उत्तराधिकारी हुआ।

ऐतिहासिक प्रमाण

संजन प्लेट

संजन प्लेट के अतिरिक्त एक अन्य कथानक का पता चलता है जिससे उपरियुक्त घटनाओं की पुष्टि होती है। यह ऐतिहासिक कथानक १२ वीं सदी के मुजमलुत्तवारीख में वर्णित है†। इसके वर्णन के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस इतिहासज्ञ ने इस वार्ता को उसी प्राचीन संस्कृत नाटक से लिया है और कथानक का मूल आधार देवीचन्द्रगुप्तम् ही है। वह वृत्तान्त इस प्रकार दिया गया है—

मुजमलुत् तवारीख

राजा ख्वाल तथा बरकमारीस दो भाई थे। ख्वाल के शासन-काल में स्वयंवर में बरकमारीस को एक राजकुमारी मिली। राजकुमारी के साथ घर लौटने पर ख्वाल उस पर मोहित हो गया तथा राजकुमारी से स्वयं विवाह कर लिया। बरकमारीस तदनन्तर विद्याभ्यास में लग गया और एक सुप्रसिद्ध विद्वान हुआ। ख्वाल के पिता के शत्रु ने उस पर आक्रमण किया। पराजित होने पर राजा अपने भ्राता तथा समस्त सरदारों को लेकर पर्वत की चोटी पर गया जहाँ एक दुर्ग था। उस स्थान पर ख्वाल ने सन्धि के लिए प्रार्थना की। सन्धि-स्वरूप ख्वाल ने अपनी स्त्री तथा सरदारों की पुत्रियों को शत्रुओं को समर्पण करने का वचन दिया। इस वृत्तांत को सुनकर बरकमारीस ने राजा से आज्ञा माँगी कि मुझे तथा समस्त सरदार-पुत्रों को कुमारियों का स्वाँग बनाकर तथा एक अस्त्र के साथ शत्रु के पास भेजा जाय। ऐसा वेष बनाने पर राजा बरकमारीस को अपने पास रख लेगा तथा दूसरों को अपने सरदारों में बाँट देगा। उसने सोचा कि जब राजा मुझे एकान्त में ले जायँगे तो मैं (बरकमारीस) अस्त्र से शत्रु को मार डालूँगा। शत्रु की मृत्यु के साथ बिगुल बजेगा और उसे सुनकर समस्त नवयुवक

* ए० इ० भा० १८ पृ० २४८।

† इलियट—हिस्ट्री आफ् इण्डिया भा० १ पृ० ११०-१२।

शत्रुओं पर टूट पड़ेंगे। बरकमारीस की आवाज़ को सुनते ही सैनिक शत्रु-सेना पर धावा करेंगे जिससे रव्वाल की विजय होगी।

इस युक्ति के सफल होने पर रव्वाल विजयी हुआ। इस प्रकार उपाय करने पर भी वज़ीर ने बरकमारीस के प्रति रव्वाल के दिल में सन्देह पैदा कर दिया। इस कारण वह पागल हो गया और शहर में उन्मत्त की तरह घूमने लगा। संयोगवश इसी वेष में बरकमारीस एक दिन राजमहल में प्रवेश कर गया। वहाँ कुछ साधारण कार्य के पश्चात् उसने धोखे से राजा को मार डाला। बरकमारीस ने रव्वाल के मृत शरीर को सिंहासन से नीचे गिरा दियाँ। तदनन्तर वह वज़ीर तथा जनता के सम्मुख राजसिंहासन पर बैठा और रानी से विवाह कर लिया। बरकमारीस का प्रताप दूर तक फैला और समस्त भारत उसके अधिकार में हो गया।

यह वृत्तान्त रामगुप्त तथा शकों की लड़ाई और विक्रमादित्य तथा ध्रुवदेवी की ऐतिहासिक वार्ता को लक्ष्य करता है। मुजमलुत्तवारीख के रचयिता ने उसी घटना का वर्णन कुछ भिन्नता के साथ दिया है। इस कथानक में रव्वाल के नाम की समता रामगुप्त से करना कठिन है परन्तु बरकमारीस को समता विक्रमादित्य से ठीक-ठीक होती है। देवीचन्द्रगुप्तम् के उद्धृत अंशों को पढ़ने से सब बातें स्पष्ट हो जाती हैं तथा दोनों वर्णनों में बहुत अधिक समता है।

इन समस्त ऐतिहासिक प्रमाणों पर ध्यान देने से रामगुप्त की जीवन-सम्बन्धी सच्ची घटनाओं का ज्ञान होता है। इन सब विद्वानों तथा राजनीति के पण्डितों के कथित या उद्धृत अंशों की प्रामाणिकता में सन्देह नहीं होता। प्रमाणों की प्रामाणिकता यद्यपि साहित्यिक प्रमाण ईसा की छठी सदी से पूर्व के नहीं हैं परन्तु उस समय जो जनश्रुति वर्तमान थी उसको भी सर्वथा निराधार नहीं माना जा सकता। विशाखदत्त चन्द्रगुप्त की जीवन घटनाओं से अनभिज्ञ न होगा। देवी-चन्द्रगुप्तम् के कथानक को सभी ने—बाण, शङ्करार्य, भोज तथा संजन प्लेट आदि ने—सत्य माना तथा उसका परिपोषण किया है। इन समस्त प्रमाणों के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि रामगुप्त अत्यन्त शक्तिहीन और असमर्थ राजा था*। उसके राज्य पर शकों ने आक्रमण किया†; परन्तु राज्य को सुरक्षित रखने के लिए उसने शत्रुओं से सन्धि कर ली। सन्धि के परिणाम-स्वरूप उसने अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को उन शकों को समर्पण करना स्वीकार कर लिया। उसका कनिष्ठ भ्राता चन्द्रगुप्त अपने कुल की मर्यादा का ऐसा पतन न देख सका। उस वीर तथा साहसी योद्धा‡ ने ध्रुवदेवी का वेष बनाकर शत्रुओं

*पत्युः क्लीबजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतः। उद्धरण: नं० ४।—देवीचन्द्रगुप्तम्।

† प्रकृतीनामाश्वसनाय शकस्य ध्रुवदेवीं संप्रदानेऽभ्युपगते—उ० नं० १।

‡ एकस्यापि विधूतकेसरसटा भारस्य भीता मृगाः।
गन्धादेव हरेर्द्रवन्ति बहवो वीरस्य किं संख्यया।—शृङ्गार-प्रकाश।

के शिविर में जाने का निश्चय किया ताकि उन दुष्ट नीचों (शकों) के राजा को मार डाले*। वह (चन्द्रगुप्त) स्त्री-वेषधारी सैनिकों के साथ† वहाँ पहुँचा जहाँ पर शक राजा ध्रुवदेवी (ध्रुवस्वामिनी) के आगमन का रास्ता देख रहा था। इस दल के पहुँचने पर ज्योंही शक राजा समीप आया, चन्द्रगुप्त ने उसे मार डाला।

इन साहित्यिक प्रमाणों की पुष्टि काच नामक स्वर्णमुद्रा से विद्वान लोग करते हैं। यह सिक्का समुद्रगुप्त के ध्वजधारी प्रकार से मिलता है किन्तु इसके पुरो भाग पर काच के हाथ में 'चक्रध्वज' है। पृष्ठ भाग पर देवी की खड़ी आकृति है। इस तरह का सिक्का, लखनऊ तथा ब्रिटिश संग्रहालय में वर्तमान है तथा बयाना ढेर में भी मिला है। तौल समुद्रगुप्त के सिक्के के बराबर है। यह कौन गुप्त राजा था यह कहना कठिन है। काच का नाम गुप्त वंशावली में नहीं मिलता। केवल बलिया से समुद्र तथा काच के सिक्के एक साथ उपलब्ध हुये हैं। अधिकतर विद्वान प्रायः काच को एक गुप्त वंश का राजा मानते हैं। इसमें दो मत हैं। पहले मत के अनुसार समुद्र तथा काच एक ही व्यक्ति थे तथा द्वितीय मतानुसार वह समुद्र का पुत्र था। किन्तु किसी मत के लिये प्रबल प्रमाण नहीं मिलते। काच के सिक्के की तौल ११६ ग्रेन थी जो समुद्र के बाद १२६ ग्रेन तक बढ़ गई। इस कारण द्वितीय चन्द्रगुप्त से पीछे काच नहीं रक्खा जा सकता क्योंकि चन्द्रगुप्त के मुद्राओं की तौल १२६ ग्रेन थी। प्रथम मत के पक्ष में यह भी कहा जाता है कि काच के सिक्कों पर उल्लिखित 'सर्वराजोच्छेता' की पदवी गुप्तलेखों में समुद्र के लिये प्रयुक्त मिलती है। किन्तु काच को समुद्र से पृथक् मानना अधिक -चित प्रतीत होता है। बैनर्जी के मतानुसार काच समुद्र का भ्राता था, जो देश को मुक्त करते मारा गया और उसी की याद में समुद्र से मुद्रा तैयार करायी‡। परन्तु हिन्दू परम्परा में स्मारक सिक्को का कोई स्थान नहीं है। मुद्राशास्त्रीय प्रमाणों से यह अधिक सम्भव प्रकट होता है कि काच समुद्र से पीछे राज्याधिकारी हुआ होगा। काच के सिक्के समुद्र के दण्डधारी तथा धनुर्धारी प्रकार के बाद ही तैयार किये गये होंगे। देवी चन्द्रगुप्त नामक नाटक में जो कथानक आया है उससे यह मालूम पड़ता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त का रामगुप्त नामक कोई भाई था। रामगुप्त का दूसरा नाम काच हो सकता है। वास्तविक नाम काच था जो लिखने में अशुद्धि से राम हो गया। डा० भण्डारकर ने इसी मत का प्रतिपादन किया है ‖। चूँकि काच समुद्र का उत्तराधिकारी था अतः उसके सिक्के समुद्र के अश्वमेध मुद्रा का अनुकरण करते हैं। काच या रामगुप्त ने थोड़े समय के लिये शासन किया अतएव उसने एक ही ढंग का सिक्का निकाला। काच (उपनाम रामगुप्त) वैष्णव था, इसलिये चक्रध्वज को सिक्के पर स्थान दिया था। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है कि पिछले गुप्त लेखों में रामगुप्त के नाम का अभाव है। रामगुप्त के वंशज उत्तराधिकारी

काच की स्वर्णमुद्रा

* अरिवधनार्थ—उ० नं० १।

† स्त्रीवेषपरिवृतेन (शङ्करार्य टीका)।

‡ एज आफ इम्पीरियल गुप्त पृ० ६—११

‖ मालवीय कामेमोरेशन वाल्युम पृ० १२९

नहीं हुये और वहाँ स्वयं कुलकलंक था, इसलिये उसका नाम जान-बूझ कर हटा दिया गया होगा। काच तथा रामगुप्त की एकता स्थापित करने के लिये उपरिलिखित प्रमाण काफी महत्त्व-पूर्ण हैं। हाल ही में मालवा से रामगुप्त के ताम्बे के सिक्के मिले हैं परन्तु वह मालवा का कोई सामंत होगा। अभी तक द्वितीय चन्द्रगुप्त से पूर्व का कोई ताम्बे का सिक्का नहीं मिला है। यह कैसे माना जा सकता है कि सोने पर काच तथा ताम्बे पर रामगुप्त का नाम शासक ने खुदवाया होगा।

रामगुप्त और शकों के युद्ध का वर्णन तो सर्वत्र मिलता है, परन्तु इन उद्धृत अंशों में दो नाम विलक्षण मिलते हैं जिनका निराकरण करना आवश्यक है। राज-शेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में रामगुप्त के लिए शर्मगुप्त तथा शक के लिए खस का प्रयोग किया है। बहुत सम्भव है कि राम-गुप्त का दूसरा नाम शर्मगुप्त हो*। डा० भण्डारकर का मत है कि शक शब्द का परिवर्तित रूप खस है†। परन्तु प्रश्न यह होता है कि शक कौन थे। शक शब्द का प्रयोग साधारणतया भारत के बाहर से आनेवाली जातियों के लिए होता है। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के समय में पश्चिमी भारत में शक क्षत्रप शासन करते थे। इसके अतिरिक्त पंजाब की शक-जातियों (शकमुरुण्डैः) से इसकी मित्रता हो गई थी। बैनर्जी का मत था कि समुद्रगुप्त की प्रयागवाली प्रशस्ति में उल्लिखित कुषाण जाति ही रामगुप्त के शत्रु शक थे‡। पश्चिमी शक क्षत्रप का शासन केवल सौराष्ट्र में था। सम्भव है कि इसी जाति से रामगुप्त को युद्ध करना पड़ा हो। डा० अलटेकर इसी शकक्षत्रप जाति की समता साहित्य में उल्लिखित शकों (रामगुप्त के शत्रु) से करते हैं‖। उनका कथन है कि राजसिंहासन पर बैठने पर द्वितीय चन्द्रगुप्त ने पृथ्वी जीतने की अभिलाषा§ से या पूर्व-शत्रुता के कारण इन शकों को भारतवर्ष से निकाल बाहर करने का सफल प्रयत्न किया। उसने गुजरात तथा मालवा विजय कर और बल्ख तक आक्रमण करके इस शक जाति का सदा के लिए नाश कर डाला()। इस सिद्धान्त के मानने में एक कठिनाई उपस्थित होती है। पश्चिमी शक-क्षत्रपों का बल कितना भी बढ़ गया हो, लेकिन यह सम्भव नहीं कि क्षत्रपों ने सौराष्ट्र से आकर हिमालय में (रामगुप्त व शकों का युद्धस्थान) रामगुप्त का सामना किया हो। उस समय पंजाब में छोटे कुषाणों का राज्य था। यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि पंजाब में शासन करनेवाली किसी बाहरी जाति ने हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में

शक कौन थे?

---

* जे० बी० ओ० आर० एस० भा० १४ पृ० २४२।

† मालवीय कामेमोरेशन वाल्यूम पृ० १९४।

‡ दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि शकमुरुण्डैः (फ्लीट—गु० ले० नं० १।

‖ जे० बी० ओ० आर० एस० भा० १४ पृ० २५१।

§ 'कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन'।—उदयगिरि का लेख (गु० ले० नं० ६)

() उदयगिरि का लेख व मेहरौली का लौहस्तम्भ-लेख।

—(का० इ० इ० भा० ३ नं० ६, ३२)

रामगुप्त से युद्ध किया हो। असावधानी के कारण व्यापक शक शब्द से उसका उल्लेख किया गया है।

रामगुप्त की ऐतिहासिक वार्ता के मूलाधार साहित्यिक प्रमाणों में सर्वत्र उस स्थान का वर्णन नहीं मिलता है जहाँ पर रामगुप्त तथा शकों में युद्ध हुआ था। राजशेखर-कृत काव्य-मीमांसा में केवल इसका उल्लेख मिलता है*। इस अंश के वर्णन से ज्ञात होता है कि हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में कार्तिकेयनगर के समीप यह युद्ध हुआ था जिस स्थान की स्त्रियाँ एक राजा के यश को गाती हैं। गज़ेटियर (भा० ११ पृ० ४६३) से ज्ञात होता है कि कार्तिकेयनगर गोमती नदी की घाटी के उत्तर में स्थित था। इसका आधुनिक नाम कार्तिकेयपुर है। यह स्थान हिमालय पर्वत में स्थित उत्तर प्रदेश के अलमोड़ा ज़िले के अन्तर्गत बैजनाथ ग्राम के समीप था। इस स्थान का नाम कुछ राजाओं के लेखों में भी उल्लिखित है†। इस बात की पुष्टि मुजमलुत्तवारीख के वर्णित वृत्तांत से होती है। जिसमें वर्णन मिलता है कि राजा रव्वाल शत्रुओं से पराजित होने पर अपने भ्राता (वरकमारीस) तथा सरदारों को लेकर पर्वत की चोटी पर गया। उस चोटी पर एक दुर्ग था जहाँ जाकर रव्वाल ने सन्धि के लिए प्रार्थना की। इन दोनों प्रमाणों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि रामगुप्त तथा शकों का युद्धस्थान हिमालय पर्वत पर कार्त्तिकेय नामक स्थान था। डा० भण्डारकर का कथन है कि कार्तिकेयनगर कर्तृपुर नामक प्रदेश में स्थित था जो समुद्रगुप्त के समय एक प्रत्यन्त राज्य था‡ और इसका नाम प्रयाग की प्रशस्ति में मिलता है‖।

युद्ध-स्थान

समस्त साहित्यिक प्रमाणों में चन्द्रगुप्त का नाम आता है जिसने शक राजा को मार डाला। परन्तु अमोघवर्ष प्रथम के संजन प्लेट में चन्द्रगुप्त का नाम नहीं मिलता। उस प्लेट के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि वह गुप्त नरेश बहुत दानी था जिसने अपने भ्राता के राजसिंहासन तथा स्त्री को ग्रहण कर लिया था। डा० भण्डारकर का मत है कि संजन प्लेट में उल्लिखित गुप्त नरेश स्कन्दगुप्त है§ परन्तु यह सिद्धान्त माननीय नहीं है। संजन प्लेट के वर्णन से पता चलता है कि गुप्त नरेश ने लाखों रुपए दान किये थे()। गुप्त नरेश स्कन्दगुप्त के शासनकाल में हूणों से युद्ध हुआ था जिसका उसकी मुद्रानीति पर प्रभाव पड़ा।

चन्द्रगुप्त = द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

---

* तस्मिन्नेव हिमालये गिरिगुहाकोणत्क्वणत्किन्नरे
गीयन्ते तव कार्तिकेयनगर-स्त्रीणां गणैः कीर्तयः॥

† इ० ए० भा० २५ पृ० १७८। ए० इ० भा० १३ पृ० ११५।

‡ मालवीय कामोमेरेशन वाल्यूम पृ० १९६।

‖ का० इ० इ० भा० ३ नं० १।

§ ए० इ० भा० १७ पृ० २४८।

() लक्षं कोटिमलेखयन्किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः।

स्कन्दगुप्त के शासन में विशुद्ध सुवर्ण-मुद्राओं के साथ-साथ मिश्रित धातु के सिक्के तैयार होने लगे। ऐसी परिस्थिति में संजन प्लेट के दान का वर्णन स्कन्दगुप्त के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता। इसके विपरीत गुप्त राजा विक्रमादित्य के दान तथा गुणग्राहकता का वर्णन अनेक स्थानों में मिलता है। ह्वेनसांग के गुप्त राजा विक्रमादित्य द्वारा कितने लाखों रुपयों को दरिद्रों में बँटवाने का वर्णन किया है*। इससे ज्ञात होता है कि ह्वेनसांग के समय (सातवीं सदी) में विक्रमादित्य नामक गुप्त-नरेश अपनी दानशीलता के लिए प्रसिद्ध था। गुप्त राजाओं की वंशावली में स्कन्दगुप्त तथा द्वितीय चन्द्रगुप्त ने विक्रमादित्य की पदवी धारण की थी। परन्तु उपरियुक्त कथन के अनुसार स्कन्दगुप्त के लिए संजन प्लेट का वर्णन अप्रयुक्त है। अतएव यह प्रकट होता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ही का निर्देश संजन प्लेट में किया गया है। फ़ाहियान के वर्णन से अमोघवर्ष प्रथम के कथन की पुष्टि होती है। द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन-काल का चीनी यात्री फ़ाहियान लिखता है कि प्रजा वैभव-सम्पन्न तथा सुखी थी। इन सब वृत्तान्तों से प्रकट होता है कि साहित्य में उल्लिखित तथा संजन प्लेट में निर्दिष्ट राजा चन्द्रगुप्त गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त का पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही था। इसी राजा की कीर्त्ति कार्त्तिकेयनगर की स्त्रियाँ गाती थीं†।

चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवदेवी का विवाह

ऊपर बतलाया जा चुका है कि समस्त उद्धरणों में उल्लिखित चन्द्रगुप्त गुप्त नरेश द्वितीय चन्द्रगुप्त ही है। जिसका निर्देश संजन प्लेट में आया है। संजन प्लेट से उद्धृत अंश की प्रथम पंक्ति के वर्णन से ज्ञात होता है उस गुप्त नरेश ने अपने भाई का राज्य तथा पत्नी को हरण कर लिया था। शंकरार्य ने भी ध्रुवदेवी को चन्द्रगुप्त की भ्रातृजाया (रामगुप्त की स्त्री) बतलाया है परन्तु इन दो प्रमाणों के अतिरिक्त समस्त साहित्यिक उद्धरणों में यही वर्णन मिलता है कि चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवी के वेष में शकराजा के समीप गया था। अतएव संजन प्लेट के आधार पर यह प्रकट होता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने अपने भाई रामगुप्त को मारकर ध्रुवदेवी को ग्रहण किया था। इसकी पुष्टि कुछ अंशों में देवीचन्द्रगुप्तम् से भी होता है। पाँचवें अंक में चन्द्रगुप्त उन्मत्त होकर रामगुप्त के महल की ओर गया था‡। यदि मुजमलुत्तवारीख में वर्णित कथानक पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट मालूम होता है कि वरकमारीस (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) ने महल में प्रवेश कर रव्वाल (रामगुप्त) को मार डाला तथा उसकी स्त्री से विवाह कर लिया। सम्भव है कि चन्द्रगुप्त ने स्वयं अपने भाई की हत्या न की हो (क्योंकि रामगुप्त के हृदय में छोटे भ्राता चन्द्रगुप्त के लिए स्नेह का भाव था‖) परन्तु गुप्त रूप से उसके प्रेरकों के द्वारा यह कार्य हुआ हो।

* वाटर—ह्वेनसांग जि० १ पृ० २११।

† गीयन्ते तव कार्त्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्तयः।—काव्यमीमांसा।

‡ इयमुन्मत्तचन्द्रगुप्तस्य मदनविकारगोपनपरस्य मना शत्रुभीतस्य (उ० नं० ३)
इयं स्वापाय शंकिनः कृतकोन्मत्तस्य कुमारचन्द्रगुप्तस्य (देवीचन्द्रगुप्ते)।

‖ त्यजामि देवीं तृणवत्वदन्तरे त्वया विना राज्यमिदं हि निष्फलम्।
ऊढेति देवां प्रति मे दयालुना त्वयि स्थितं स्नेहनिबन्धनं मनः। (देवीचन्द्रगुप्ते)

कतिपय विद्वानों को यह संदेह होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने रामगुप्त की विधवा स्त्री से विवाह नहीं किया था। परन्तु यह शंका निराधार है। विशाखदत्त तथा शंकरार्य के कथन (ध्रुवदेवी चन्द्रगुप्त के भ्राता रामगुप्त की स्त्री थी†) की प्रामाणिकता संजन प्लेट से होती है। अतएव ध्रुवदेवी रामगुप्त की स्त्री है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। गुप्त लेखों तथा वैशाली की मुद्राओं से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि ध्रुवदेवी द्वितीय चन्द्रगुप्त की पत्नी तथा उसके पुत्र प्रथम कुमारगुप्त व गोविन्दगुप्त की माता थी‡। अतएव इन सबल प्रमाणों के सन्मुख तनिक भी संदेह नहीं रह जाता कि ध्रुवदेवी गुप्त राजा द्वितीय चन्द्रगुप्त की स्त्री थी जिसे उसने रामगुप्त की मृत्यु के उपरान्त ही ग्रहण किया होगा। इस आधार पर यही कहा जायगा कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने विधवा स्त्री ध्रुवदेवी से विवाह किया।

ध्रुवदेवी के विधवा-विवाह को कोई व्यक्ति धर्मशास्त्र, से असंगत नहीं कह सकता, परन्तु धर्मशास्त्रकारों ने ध्रुवदेवी के समान विधवा—विवाह का समर्थन किया है। धर्मशास्त्रों में एक विवाह की प्रथा का वर्णन है जिसे 'नियोग' कहते हैं।

नियोग-प्रथा

नियोग-प्रथा के अनुसार यदि स्त्री को कोई पुत्र न हो और उसका पति मर जाय तो वह स्त्री पति के छोटे भ्राता (देवर) से विवाह कर सकती है। गुप्तकालीन नारदस्मृति से इस सिद्धान्त के परिपोषक श्लोकों को उद्धृत करना परमावश्यक है—

अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टा स्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः।
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजो क्षेत्रमर्हति ॥ १२ । १९ ॥

मृते भर्तरि संप्राप्तान्देवरादीनपास्य या।
उपगच्छेत्परं कामात्सा द्वितीया प्रकीर्तिता। १२ । ५० ॥

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते। १२ । ९७ ॥

इस स्मृति के सिद्धान्त (नियोग) के अनुसार ध्रुवदेवी के साथ चन्द्रगुप्त के विवाह का समर्थन पूर्ण रीति से होता है। देवीचन्द्रगुप्तम् के वर्णन से स्पष्ट प्रकट होता है कि रामगुप्त नपुंसक पुरुष था। उसी प्रसंग में ध्रुवदेवी क्षेत्रीकृता भी कही गई है|। अतएव उस समय

† चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीम्।

‡ परमभागवतस्य महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य महादेव्यां ध्रुवदेव्यमुत्पन्नस्य महाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तस्य।—का० इ० इ० भा० ३ नं० १०, १२, १३।

महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपत्नी महाराजाश्रीगोविन्दगुप्तमाता महादेवी ध्रुवस्वामिनी।
—वैशाली की मुद्रा (आर्क्या० सर्वे रि० १९०३–०४)

| पत्युः क्लीबजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतः
लज्जाकोपविषादभीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यते।
अत्र ध्रुवदेव्यभिप्रायस्य चन्द्रगुप्तेन निश्चयः देवीचन्द्रगुप्ते।

में प्रचलित नियोग-प्रथा तथा देवीचन्द्रगुप्तम् के वर्णन के आधार पर द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवदेवी का विवाह शास्त्र-सम्मत था।

इस विवाह को शास्त्रानुसार सिद्ध करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि रामगुप्त द्वितीय-चन्द्रगुप्त का जेठा भाई था या नहीं। राजनीति के अनुसार राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता है। रामगुप्त के शासक होने से यह प्रकट होता है कि रामगुप्त गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र था। इस कथन का समर्थन समुद्रगुप्त के एरणवाले लेख से होता है। जिसके वर्णन से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के कई लड़के थे†। गुप्त लेखों में द्वितीय चन्द्रगुप्त गुप्त नरेश समुद्रगुप्त का पुत्र कहा गया है‡ तथा शंकरार्य-कृत टीका और अमोघवर्ष प्रथम के संजन प्लेट से पता चलता है कि रामगुप्त का भ्राता था|। परन्तु रामगुप्त, शासक होने के कारण, चन्द्रगुप्त का ज्येष्ठ भ्राता प्रकट होता है। इसी के आधार पर यह कहना सर्वथा सत्य है कि ध्रुवदेवी ने अपने पति (रामगुप्त) के कनिष्ठ भ्राता (अपने देवर) चन्द्रगुप्त से विवाह किया था जो धर्मशास्त्र से सम्मत है। इन सब विवेचनों से यही सारांश निकलता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने अपने भाई की मृत्यु के उपरान्त धर्मशास्त्र के आज्ञानुसार ध्रुवदेवी (रामगुप्त की स्त्री) के साथ विवाह किया था।

इन विस्तृत विवेचनों के अनन्तर किसी ऐतिहासिक पण्डित को रामगुप्त की स्थिति मानने में सन्देह न होना चाहिए। यद्यपि यह बात सत्य है कि गुप्त प्रशस्तियों में इस राजा का एक लेख भी नहीं मिलता और न इसके नाम का किसी में उल्लेख है; परन्तु इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि गुप्त वंशवृक्ष में रामगुप्त के लिए कोई स्थान नहीं है। जैसा कहा गया है शिलालेखों में प्राय मुख्य वंशवृक्ष का उल्लेख मिलता है। उसमें भाई के नाम का समावेश नहीं होता। गुप्त नरेश प्रथम कुमारगुप्त का भाई गोविन्दगुप्त भी था जिसका नाम केवल वैशाली की मुहरों में लिखा मिला है। कुमारगुप्त के लेख में उसके पिता द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा उनके पूर्वपुरुषों का नाम मिलता है। इसी तरह चन्द्रगुप्त के लेख में उसके भ्राता रामगुप्त का नाम नहीं मिलता। उसने अपने पिता समुद्रगुप्त का नाम दिया है। यदि रामगुप्त का कोई पुत्र शासक होता तो उसके लेख में रामगुप्त का नाम अवश्य मिलता; परन्तु उसके पश्चात् द्वितीय चन्द्रगुप्त ने राज्य किया। अतः चन्द्रगुप्त के लेख में रामगुप्त को कोई स्थान नहीं मिल सका।

गुप्त लेखों में रामगुप्त

---

† गृहेषु मुदिता बहुपुत्रपौत्रसंक्रामिणी कुलबधूः व्रतिनी निविष्टा।—का० इ० इ० भा० ३० नं० २।

‡ महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तस्य पुत्रेण तत्परिगृहीतेन महादेव्यां दत्तदेव्यामुत्पन्नेन परमभागवतेन महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तेन।-का० इ० इ० भा० ३ नं० ४, १०, १३ आदि।

| चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवी—टीकाशंकरार्यकृत। हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्तथा।

—संजन प्लेट।

ऊपर बतलाया गया है कि रामगुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र था अतः उसके पश्चात् राज्य का उत्तराधिकारी हुआ और समुद्रगुप्त के शासन का अन्त ई० स० ३७५ के लगभग हुआ और द्वितीय चन्द्रगुप्त के मथुरा लेख से ज्ञात होता है कि ई० सं० ३८० (गु० स० ६१) में वह गुप्तसाम्राज्य का शासक हो गया था। रामगुप्त इससे पहले राजसिंहासन पर बैठा होगा। अतएव यह सम्भव है कि रामगुप्त ने ई० स० ३७५ से ३८० के बीच समुद्रगुप्त तथा द्वितीय चन्द्रगुप्त के मध्यकाल में शासन किया हो।

राज्य-काल

२ द्वितीय चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य)

द्वितीय चन्द्रगुप्त सिंह मारते हुए

सम्राट् समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त राज्य में अशान्ति सी छा गई तथा राज्य को निर्बल समझकर शत्रुओं ने युद्ध छेड़ दिया। ऐसी ही विषम स्थिति में 'विक्रमादित्य' का उदय हुआ तथा इनकी माता दत्तदेवी ने ऐसे पराक्रमी पुत्र को पैदा कर अपने को कृतार्थ समझा*। महाराज द्वितीय चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त के बाद शासन की बागडोर अपने हाथ में ली तथा इसे सुचारु रूप से चलाना प्रारम्भ कर दिया।

भूमिका

द्वितीय चन्द्रगुप्त का दूसरा नाम वाकाटक लेखों से देवगुप्त भी मिलता है† साँची के लेख में 'महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तस्य' देवराज तथा इति 'प्रियं नाम' ऐसा उल्लेख मिलता है‡। इससे ज्ञात होता है कि इसका दूसरा नाम देवराज या 'देवगुप्त' भी था। द्वितीय चन्द्रगुप्त की दो रानियाँ थीं। प्रथम रानी का नाम कुबेरनागा था जो दक्षिण में राज्य करनेवाले नागवंश की लड़की

कौटुम्बिक-वृत्त

* का० इ० इ० नं० ४। 'महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रेण तत्परिगृहतेन महादेव्यां तददेव्यामुत्पन्नेन'।

† का० इ० इ० भा० ३ पृ० २३६.

‡ वही पृ० ३१

थी* । इसकी पुत्री का नाम प्रभावती गुप्ता था तथा इस प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक राजा द्वितीय रुद्रसेन से हुआ था† । दूसरी रानी का नाम ध्रुवदेवी था जिसके गर्भ से कुमारगुप्त तथा गोविन्दगुप्त का जन्म हुआ था। गुप्त सम्राट् ने तत्कालीन बड़े-बड़े राजवंशों में विवाह-संबंध स्थापित कर मित्रता की। लिच्छवियों के साथ विवाह के समान ही द्वितीय चन्द्रगुप्त का नाग तथा वाकाटक राजाओं से वैवाहिक संबंध स्थापित करना कुछ कम राजनैतिक महत्त्व नहीं रखता।

द्वितीय चन्द्रगुप्त का वृत्तान्त जानने तथा काल-निर्धारण से पूर्व उसके उपलब्ध लेखों पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। इन्हीं लेखों के आधार पर इस गुप्तनरेश की मुख्य मुख्य घटनाओं का वर्णन किया जायगा। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कुल छः लेख प्राप्त हैं‡ जिनमें से कुछ पर तिथि का उल्लेख है तथा किसी पर तिथि नहीं मिलती।

उपलब्ध लेख

(१) मथुरा का स्तम्भ-लेख

द्वितीय चन्द्रगुप्त का सबसे प्रथम लेख मथुरा के समीप एक स्थान से मिला है। यह लेख शिव-प्रतिमा के समीप स्तम्भ के निचले भाग में खुदा है। इस लेख की तिथि गु० स० ६१ (ई० स० ३८०) है() । इस लेख की तिथि के कारण द्वितीय चन्द्रगुप्त की शासन-अवधि निर्धारित करने में बहुत सरलता हुई है। इस लेख की खोज से पूर्व इस राजा की सबसे पहली तिथि गु० स० ८२ थी जो उदयगिरि गुहालेख से प्राप्त है। विद्वानों का अनुमान था कि द्वितीय चन्द्रगुप्त का शासन ई० स० ४०१ से प्रारम्भ हुआ। परन्तु इस लेख से उसकी तिथि बीस वर्ष पहले ई० स० ३८० हो जाती है। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि उदिताचार्य ने इस स्तम्भ में उल्लिखित कपिलेश्वर तथा उपमितेश्वर की प्रतिमा की स्थापना की थी। इस लेख में द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा उसके पिता समुद्रगुप्त के लिए भट्टारक महाराजा राजाधिराज की पदवियाँ उल्लिखित हैं। गुप्त लेखों में महाराजाधिराज की पदवी से यह भिन्न है। बहुत सम्भव है कि मथुरा में स्थित होने के कारण इस पर पूर्व शासक कुषाणों का प्रभाव हो। महाराजा राजाधिराज की पदवियाँ कुषाण लेखों तथा सिक्कों में मिलती हैं।

(२) उदयगिरि गुहा-लेख

द्वितीय चन्द्रगुप्त का एक लेख मध्य प्रदेश में भिलसा के समीप उदयगिरि गुहा में उत्कीर्ण है। इसकी तिथि गु० स० ८२ (ई० स० ४०१) है। इस गुहा-लेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय के अधीनस्थ सनकानीक महाराज का उल्लेख है।

---

* नागकुलोत्पन्नाः । ज० ए० सो० ब० १९२४ पृ० ३४ ।
† पूना प्लेट, ए० इ० भाग, १५ पृ० ४१ (परिशिष्ट ले० नं ३) ।
‡ का० इ० इंडि० भा० ३ नं० ३, ४, ५, ६, ७ तथा नं० ३२ ।
() ए० इ० भा० २१ नं० १ ।

(३) गढ़वा का शिलालेख

तीसरा लेख प्रयाग जिले में गढ़वा नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। इसकी तिथि गु० स० ८८ (ई० स० ४०७) है। इस लेख में द्वितीय चन्द्रगुप्त की धार्मिक पदवी 'परम भागवत' का उल्लेख मिलता है तथा पाटलिपुत्र के किसी गृहस्थ द्वारा अपनी स्त्री के पुण्य-प्राप्ति के निमित्त दस दीनार दान में देने का वर्णन मिलता है।

(४) साँची का लेख

द्वितीय चन्द्रगुप्त का यह चतुर्थ तिथि-युक्त लेख है जिसमें गु० स० ९३ (ई० स० ४१२) का उल्लेख मिलता है। यह लेख मध्यप्रदेश में साँची के वेष्टनी पर खुदा है। इसमें वर्णन मिलता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सेनापति अमुकार्द्दव ने काकनाद-वोट नामक महाविहार में एक गाँव तथा पचीस दीनार दान में दिये थे। इसकी आय से पाँच भिक्षुओं को भोजन तथा रत्नगृह में दीपक जलाने का काम होता था। एक मुख्य बात यह है कि इस लेख में चन्द्रगुप्त के दूसरे नाम 'देवराज' का भी उल्लेख मिलता है।

(५) उदयगिरि का गुहालेख

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के इस लेख में तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। यह लेख भी भिलसा के समीपवर्ती उदयगिरि गुहा (नं० ७) में उत्कीर्ण है। इस लेख से प्रकट होता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त अपने सांधिविग्रहिक मंत्री वीरसेन के साथ जिस समय समस्त पृथ्वी जीतने के विचार से निकला था, उस समय वह भिलसा में ठहरा होगा। उस मंत्री ने शैव होने के कारण एक शम्भुगृह का निर्माण किया था।

(६) मथुरा का शिलालेख

इस गुप्त लेख में भी तिथि नहीं मिलती। यह लेख मथुरा से प्राप्त हुआ है। यह खण्डित है परन्तु इसमें द्वितीय चन्द्रगुप्त तक गुप्त-वंशावली उल्लिखित है।

(७) मेहरौली का लोह-स्तम्भ लेख

द्वितीय चन्द्रगुप्त का सबसे मुख्य लेख यही है परन्तु इसमें तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। इसके वर्णन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि राजा चन्द्र ने सिन्धु नदी को पार कर बलख तक आक्रमण किया था। इसमें गुप्त राजा का दिग्विजय सुंदर शब्दों में वर्णित है। यह दिल्ली के समीप मेहरौली नामक ग्राम में स्थित था जो आजकल कुतुबमीनार के समीप खड़ा है।

(८) द्वितीय चन्द्रगुप्त के चाँदी के सिक्कों की तिथि वर्ष ९० (ई०स०४०९) मिलती है

इसके मुद्रालेख में परम भागवत महाराजाधिराज 'श्री चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य' लिखा मिला है।

सम्राट् समुद्रगुप्त के शिलालेखों में कहीं भी तिथि का उल्लेख नहीं मिलता है परन्तु इसके ठीक विपरीत सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त के अनेक शिलालेखों में संवत् का उल्लेख मिलता है।

अतः इसके समय की घटनाओं का इससे पूरा-पूरा पता चल जाता है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सर्वप्रथम शिलालेख मथुरा में मिला है*। उस स्तम्भलेख में गुप्त संवत् ६१ (ई० सन् ३८०) का उल्लेख मिलता है। इससे पता चलता है कि इस काल से (ई० सन् ३८०) पूर्व ही वह सिंहासनारूढ़ हो गया होगा। इसका अन्तिम लेख मध्यप्रदेश के साँची नामक स्थान में प्राप्त हुआ है जिसमें गुप्त संवत् ९३ (ई० सन् ४१२) का उल्लेख मिलता है। अतः इसी आधार पर द्वितीय चन्द्रगुप्त का शासनकाल ई० सन् ३८० से ४१२ ई० तक निश्चित रूप से निर्धारित किया गया है अर्थात् उसने लगभग ३२ वर्ष तक गुप्त-साम्राज्य पर शासन किया।

राज्य-काल

चन्द्रगुप्त के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना पश्चिम तथा उत्तर के प्रदेशों का विजय है। इसमें सन्देह नहीं कि इसके प्रतापी पिता ने समस्त दक्षिणापथ के राजाओं को परास्त कर उन्हें विनीत होने का पाठ पढ़ाया था। उनकी 'श्री' का हरण कर, उन्हें श्रीहत बनाकर अपना सामन्त बनाया था। परन्तु द्वितीय चन्द्रगुप्त की—इस उदीयमान विक्रमादित्य की प्रखर किरणों से वे अछूते न बच सके। द्वितीय चन्द्रगुप्त न केवल पश्चिमी राजाओं को ही परास्त किया बल्कि उसकी विश्वविजयिनी बाहुओं ने पंजाब तक साम्राज्य की सीमा को विस्तृत कर दिया तथा उस प्रदेश में भी अपनी विजय-वैजयन्ती को स्थापित किया। इस प्रकार से चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मानों अपने सुयोग्य पिता के अवशिष्ट कार्य को पूरा किया। प्रयागवाली प्रशस्ति में बहुत सी जातियों का नाम उल्लिखित है जिनके राज्य को समुद्रगुप्त ने अपने विस्तृत साम्राज्य में नहीं मिलाया था। हरिषेण ने उस विजय-प्रशस्ति में शकमुरुण्ड नामक जातियों के नाम का उल्लेख किया है जिन्होंने समुद्रगुप्त के प्रभाव को मान लिया था तथा उसके बढ़ते हुए प्रताप के सामने अपना सिर अवनत कर दिया था। ये शक जातियाँ पश्चिमी भारत में राज्य करती थीं तथा समुद्रगुप्त के समय में भी अपना भीतरी स्वतन्त्रता बनाये हुए थीं। इन्हीं जातियों को द्वितीय चन्द्रगुप्त ने अपने प्रबल पराक्रम से पराजित किया। सदा के लिए शक लोग इस पवित्र धर्मप्रधान भारतीय संस्कृति में सम्मिलित हो गए। शक जाति के ऊपर द्वितीय चन्द्रगुप्त के इस विजय के महत्त्व को समझने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि इस शक जाति का थोड़ा सा इतिहास यहाँ दिया जाय।

दिग्विजय

शक जाति के इतिहास निर्माण के लिए अनेक शिलालेखों तथा हज़ारों सिक्कों से हमें सहायता मिलती है। ये शक कौन थे, इसका थोड़ा सा परिचय यहाँ दिया जाता है। शक सर्वप्रथम एक विदेशी जाति थी जो शक स्थान से भारत पर आक्रमण की। इस जाति के राजा पश्चिमोत्तर प्रान्त में ईसा की प्रथम शताब्दी तक शासन करते रहे। वहाँ से ये लोग सिन्ध होते हुए भारत के पश्चिमी भाग की ओर बढ़ते गये और वहाँ पर उन्होंने अपना राज्य स्थापित कर

शक जाति का इतिहास

* ए० इ० जनवरी १९१३।

लिया। ईसा की पहली शताब्दी में इन्होंने मालवा तथा सौराष्ट्र (काठियावाड़) में नवीन राज्य स्थापित किया। पश्चिमी भारत के इन शक राज-वंश के राजाओं की उपाधि 'क्षत्रप' थी*। 'क्षत्रप' का अर्थ है सूबेदार। यह जाति सर्वप्रथम भारत के उत्तर-पश्चिम में राज्य करनेवाले कुषाण राजाओं का सामंत बनकर पश्चिमी भारत में आई थी। बहुत काल तक ये 'क्षत्रप' लोग कुषाण राजाओं के अधीन रहे परन्तु कालान्तर में ये स्वाधीन बन गये तथा इन्होंने 'महाक्षत्रप' की उपाधि धारण कर ली। शक राजाओं के दो राजवंशों ने क्रमशः राज्य किया। पहले राजवंश का सर्वप्रथम प्रतापी राजा नहपान था जिसके राज्य का विस्तार शिलालेखों तथा सिक्कों के प्राप्ति-स्थान से ज्ञात होता है। यह अपने को 'क्षहरात' वंश का मानता था। नहपान के जामाता उषवदात के लेख नासिक तथा कार्ले की गुफाओं में मिले हैं†। इन शिलालेखों से ज्ञात होता है कि नहपान का राज्य नासिक और पूना से लेकर मालवा, गुजरात, सुराष्ट्र तथा राजपुताना के पुष्कर नामक स्थान तक विस्तृत था।

इस काल के पश्चात् शक-राज्य का अधिकार कुछ काल के लिए दक्षिण के आन्ध्र राजाओं के हाथ में चला गया। ईसा की दूसरी शताब्दी में पश्चिम के शक तथा दक्षिण के सातवाहन राजाओं में संघर्ष चलता रहा तथा अन्त में विजय-लक्ष्मी शकों को प्राप्त हुई। दूसरे 'क्षत्रप' राजवंश का संस्थापक चष्टन था, जिसने नहपान के नष्ट राज्य को पुनः स्थापित कर उज्जैनी को अपनी राजधानी बनाया। चष्टन के वंश के सिक्कों पर राजा का नाम तथा उपाधि समेत उसके पिता का नाम भी मिलता है। इन सिक्कों पर शक संवत् में तिथि भी अंकित है जिसके आधार पर इस क्षत्रप वंश का शृङ्खलाबद्ध इतिहास लिखा गया है। चष्टन के पौत्र महाक्षत्रप रुद्रदामन् का एक शिलालेख काठियावाड़ के गिरनार पर्वत पर खुदा पाया जाता है जिसमें उसके राज्य-विस्तार का वर्णन मिलता है। उसने मालवा, सुराष्ट्र, कच्छ, राजस्थान, सिन्ध, कोंकण आदि प्रदेशों पर अधिकार करके एक सुविस्तृत साम्राज्य की स्थापना की‡।

यह लेख शक संवत् के ७२ वें वर्ष में खुदा गया था। उज्जैन के क्षत्रप-वंश में २२ राजाओं की नामावली मिलती है जिन्होंने शकाब्द से (ई० सन् ७८ से) लेकर ईसा की चौथी शताब्दी तक राज्य किया। समुद्रगुप्त की प्रयागवाली प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि चौथी शताब्दी में इन शकों ने समुद्रगुप्त से मित्रता स्थापित की थी।

---

* क्षत्रप इरानी पदवी थी जिसे शक लोगों ने अपना लिया था। महाक्षत्रप स्वतंत्र शासक का बोधक था।

† ए० इ० भाग ८ पृ० ६०-७८।

‡ स्ववीर्याजितानामनुरक्तसर्वप्रकृतीनां पूर्वापराकरावन्त्यनूपनीवृदानर्तसुराष्ट्रश्वभ्र (म) रुकच्छसिन्धुसौवीरकुकुरापरान्तनिषादादीनां समग्राणां तत्प्रभावाद्य...... — रुद्रदामन् का गिरनार शिलालेख।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज्यविस्तार
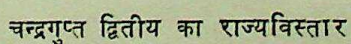
चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने इन शक जातियों को परास्त कर इन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस विक्रमादित्य के शक-विजय के प्रमाण उसके तत्कालीन उत्कीर्ण शिलालेखों, प्राप्त सिक्कों तथा प्रचलित प्राचीन दन्तकथाओं से मिलते हैं। मालवा के उदयगिरि पर्वत की गुफाओं में एक लेख मिला है जिसमें द्वितीय चन्द्रगुप्त के युद्ध-सचिव वीरसेन ने कहा है कि जब सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त समस्त पृथिवी जीतने के लिए आये थे उस समय वह भी उनके साथ उस देश में आया था*।

शक-विजय के प्रमाण

इससे ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पश्चिमी भारत जीतकर या इसे जीतने के पहले मालवा में अपना शिविर स्थापित किया होगा। शक राजाओं के समय में पश्चिमी भारत में चाँदी के सिक्के प्रचलित थे। गुप्त सिक्कों में चाँदी का सिक्का सब से पहले चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने ही चलाया। ये सिक्के शक सिक्कों के अनुकरण पर मुद्रित किये गये थे। इन सिक्कों के एक तरफ गुप्त वंश के राजचिह्न 'गरुड़' की मूर्ति है तथा दूसरी ओर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का नाम 'परम भागवत महाराजाधिराज' की उपाधि के साथ अंकित है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का एक और प्रकार का सिक्का मिला है जिस पर राजा की मूर्ति सिंह को मारते हुए या शिकार करते हुए दिखलाई गई है। उसी सिक्के पर 'सिंहविक्रमः' की उपाधि राजा के लिए प्रयुक्त की गई है। मुद्रा-शास्त्र के ज्ञाताओं ने इससे यह अर्थ निकाला है कि यह सिक्का काठियावाड़ या गुजरात के जीतने पर मुद्रित किया गया होगा; क्योंकि सिंह गुजरात और राजपूताना के जंगलों में प्रायः बहुतायत से पाये जाते हैं। अतएव चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सिक्का सिंह निहंता तथा 'सिंह-विक्रमः' की उपाधि गुजरात के विजय की सूचना देती है। 'देवीचन्द्रगुप्तम्'† नामक नाटक तथा महाकवि बाण के हर्षचरित‡ में भी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के द्वारा शकों के पराजय का उल्लेख मिलता है। इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पश्चिमी भारत को विजय कर शकों को परास्त किया। इसके साथ 'विक्रमादित्य' के विरुद से अनुमान हो सकता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने शकों को अवश्य परास्त किया होगा।

अब यहाँ सिक्कों तथा लेखों के आधार पर यह समझने का प्रयत्न किया जायगा कि अपने राज्यकाल के किस समय में द्वितीय चन्द्रगुप्त ने शकों को परास्त किया था। स्वामी रुद्रसिंह शकजातीय क्षत्रप-वंश का अन्तिम राजा था। उसके सबसे पीछे के चाँदी के सिक्कों पर महाक्षत्रप की उपाधि के साथ शक संवत् ३१० (ई० सन् ३८८) अंकित है()। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के चाँदी के सिक्के पर तिथि वर्ष ९० मिलती है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उदयगिरि के गुहा-लेख में तिथि

शकों का पराजय-काल

* कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः।—उदयगिरि का गुहालेख का० इ० इ० नं० ६।

† चन्द्रगुप्तः शत्रोः स्कान्धवारं अलिपुरं शकपति वधाय गमत।

‡ अरिपुरे × × × चन्द्रगुप्तः शकपति शातयत्।—हर्षचरित, उच्छ्वास ४।

() रैपसन—आंध्र सिक्के।

नहीं मिलती परन्तु केवल वीरसेन के साथ मालवा में पृथ्वी जीतने की इच्छा से आने का वर्णन है। इस लेख में तिथि संवत् न होने से कोई शंका नहीं हो सकती, क्योंकि उसी स्थान पर दूसरे गुहा-लेख में—जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय के सामन्त सनकानिक महाराजा विष्णुदास के पुत्र के दान का उल्लेख है,—गुप्त संवत् ८२ (ई० सन् ४०१) उल्लिखित है। बहुत संभव है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने इसी यात्रा में गुजरात तथा काठियावाड़ पर अपना अधिकार जमा लिया हो तथा वह अपने मंत्री वीरसेन के साथ विजय-यात्रा समाप्त कर लौटा हो। अतएव चन्द्रगुप्त की विजय-यात्रा ई० सन् ३८८ से लेकर ४०१ ई० के मध्य में होनी चाहिए। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सिक्कों से पता चलता है कि ई० सन् ४०९ के पहले ही गुप्तों का शासन स्थिर तथा सुचारु रूप से भारत के पश्चिमीय प्रदेशों पर स्थापित हो गया था।

शक-राज्य की व्यवस्था

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों को जीतने के पश्चात् शासन की सुव्यवस्था के लिए उज्जयिनी को अपनी दूसरी राजधानी बनाया। पाटलिपुत्र तो सर्वदा से गुप्त नरेशों की राजधानी रहा ही। यह महत्त्वशालिनी नगरी भी अपना कुछ कम महत्त्व नहीं रखती है। उज्जयिनी के राजधानी होने की प्रामाणिकता महाकवि राजशेखर के वर्णन से सिद्ध होती है। उसने उज्जयिनी-स्थित 'ब्रह्मसभा' का वर्णन किया है जो साहित्य में विद्वानों को पदवियाँ देती थी। उस सभा में बहुत बड़े पण्डितों का सत्कार होता था†। उज्जयिनी को राजधानी बनाने का रहस्य यह था कि यह नगरी विक्रमादित्य के राज्य के केन्द्र में स्थित थी। अतः इस केन्द्र-स्थान से शासन करने में पाटलिपुत्र की अपेक्षा अधिक सुविधा थी। यहीं से विजित शक-राज्य पर दृढ़ता से शासन किया जा सकता था। अतः उज्जयिनी को राजधानी बनाकर चन्द्रगुप्त ने चतुरता का काम किया।

'विक्रमादित्य' विरुद की उत्पत्ति

सम्राट् समुद्रगुप्त के समान उसके उत्तराधिकारी पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त ने भी महान् पदवी धारण की थीं। विभिन्न विरुदों में द्वितीय चन्द्रगुप्त की 'विक्रमादित्य' की उपाधि विशेष महत्त्व रखती है। यह श्रेष्ठ पदवी भारतवर्ष में प्राचीन काल से प्रचलित थी। प्राचीन काल में उज्जयिनी के किसी पराक्रमी राजा ने शकों को परास्त करके 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी तथा उसी काल से (अर्थात् ईसा पूर्व ५७ ई० से) 'विक्रम-संवत्' भी चलाया था। गुप्त-वंशीय द्वितीय चन्द्रगुप्त ने भी पश्चिम के गुजरात, काठियावाड़, मालवा, राजपूताना आदि प्रदेशों में राज्य करनेवाले इन शकों को जीतकर उनके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया। अतः यह 'शकारि' भी कहा जाता है। इस चंद्रगुप्त ने उसी उज्जयिनी पर अधिकार जमाया जिसे कुछ शताब्दी पूर्व एक अज्ञात राजा ने अपने कब्जे में किया था। अतः इन दोनों गुणों के समान होने पर यदि इसने भी उस प्राचीन नरेश की भाँति 'विक्रमादित्य' विरुद को धारण करने का निश्चय किया तो इसमें आश्चर्य ही क्या था? सोमदेव रचित कथा-सरित्सागर में पाटलिपुत्र

---

† काव्यमीमांसा पृ० ५५।

के राजा विक्रमादित्य का उल्लेख मिलता है। संस्कृत-साहित्य में इसे उज्जैन का राजा बतलाया गया है। इससे ज्ञात होता है कि इस विरुद से तथा शकों के पराजय से घना सम्बन्ध है।

सम्राट् 'चन्द्र' की उत्तर की विजय-यात्रा

दिल्ली के समीप क़ुतुबमीनार के निकटवर्ती लौह-स्तम्भ पर एक लेख उत्कीर्ण मिला है* जिसमें 'चन्द्र' नामक किसी सम्राट् की विजययात्रा का वृत्तान्त मिलता है। यह 'चन्द्र' नामक सम्राट् कौन था, इस विषय में पुरातत्त्ववेत्ताओं में गहरा मतभेद है†। परन्तु बहुत से विद्वानों की अब यह धारणा हो रही है कि यह 'चन्द्र' कोई अन्य नहीं, बल्कि द्वितीय चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) ही है जिसने पश्चिम से लेकर पंजाब के वाहीक प्रदेश तक अपनी विजय का डंका बजाया था। समुद्रगुप्त की प्रयागवाली प्रशस्ति से यह ज्ञात होता है कि भारत के उत्तर-पश्चिम में 'दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि शक-मुरुण्ड' राज्य करते थे। द्वितीय चन्द्रगुप्त के द्वारा मालवा तथा सुराष्ट्र में शकों का पराजित होना हमें ज्ञात है। सम्भवतः इसी दिग्विजय के सिलसिले में उसने उत्तर के विदेशियों को भी परास्त किया था। इस मेहरौली लौहस्तम्भ में 'तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाल्हिकाः' ऐसा वर्णन मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने 'सिन्धु नदी के सातों मुखों को पार करके वाह्लिक (बल्ख) के शासकों को जीता'। वाल्हिका या वाल्हिकान् शब्दों को विद्वानों ने पढ़ा है। दूसरा शब्द वाहिकान् के लिये सम्भवतः प्रयुक्त है। अतः इस मतानुसार द्वितीय चन्द्रगुप्त बल्ख की ओर न जाकर पंजाब तक ही आक्रमण किया। जायसवाल 'सिन्धोः सप्तमुखानि' का अर्थ सिन्धु नदी की सहायक सात शाखानदियों से मानते हैं‡। इसका तात्पर्य सिन्धु नदी के सात मुखों से नहीं है। वैदिक काल में पंजाब को 'सप्तसिन्धु' कहते थे इसी 'सप्तसिन्धु' नाम के आधार पर 'सिन्धोः सप्तमुखानि' का तात्पर्य सिन्धु की सात सहायक-नदियों का प्रदेश माना गया है। अतः इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पंजाब तक अपनी विजय-दुन्दुभी बजाई थी।

दक्षिण के राजाओं से सम्बन्ध

दक्षिण भारत में तीसरी शताब्दी में आंध्र वंश की शक्ति के नष्ट होने पर कई राजाओं का प्रभुत्व धीरे धीरे वहाँ जम गया। महाराज समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के दक्षिण-पूरब में स्थित समस्त नरेशों को अपने अधीन किया, परन्तु उन पर स्वयं शासन करना गुप्तों को अभीष्ट न था। किन्तु जब द्वितीय चन्द्रगुप्त ने शकों को परास्त कर पश्चिमी भारत को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया तब यह अत्यन्त आवश्यक हो गया कि दक्षिण भारत के राजाओं से उसकी मित्रता हो जाय। यदि ऐसा न होता तो सुचारु रूप से पश्चिमी भारत पर शासन करना गुप्तों

---

* का० इ० इ० नं० ३२ (मेहरौली का लौहस्तम्भ)।

† इसका विस्तृत विवेचन परिशिष्ट (लेख नं० २) में किया गया है।

‡ जे० बी० ओ० आर० एस० मार्च १९३२।

के लिए कठिन हो जाता। इसलिए द्वितीय चन्द्रगुप्त ने दक्षिण-नरेशों से मित्रता ही नहीं स्थापित की बल्कि वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिया। इस कारण समस्त नरेश गुप्तों के सहायक बन गये। दक्षिण के शासक तीन वंश के थे—नाग, वाकाटक तथा कुन्तल। इन तीनों का प्रभाव प्रायः भारत के दक्षिण-पश्चिम प्रांत पर था और सम्भवतः दक्षिणापथ के दिग्विजय में इनसे समुद्र की मुठभेड़ नहीं हुई थी। अतएव ये गुप्तों के साथ किसी भी सूत्र में नहीं बँधे थे। इन प्रतापी नरेशों को अपने वश में करना द्वितीय चन्द्रगुप्त की राजनीतिज्ञता का बड़ा उज्ज्वल प्रमाण है।

गुप्त-साम्राज्य स्थापित होने से पहले नागवंशी राजा विन्ध्य से उत्तर विदिशा तक राज्य करते थे। इनकी राजधानी पद्मावती का नाम प्राचीन साहित्य में मिलता है। इस कारण नागवंश की गणना प्राचीन प्रतिष्ठित राज्यों में थी। सम्राट् समुद्रगुप्त ने इन नाग राजाओं को जीतकर उनका राज्य अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था; परन्तु वह उनको समूल नष्ट न कर सका। द्वितीय चन्द्रगुप्त ने इस प्राचीन प्रतिष्ठित राजवंश से सम्बन्ध करना उचित समझा। यह सम्बन्ध राजनैतिक दृष्टि से हानिकारक नहीं था। द्वितीय चन्द्रगुप्त ने इसी नागकुल में उत्पन्न कुबेरनागा से विवाह किया था*। पाठकों को पीछे बतलाया गया है कि कुबेरनागा द्वितीय चन्द्रगुप्त की प्रथम महारानी थीं जिसके गर्भ से प्रभावती गुप्ता का जन्म हुआ था।

नाग

इसवी सन् ३००-५०० के मध्य में वाकाटकों का राज्य दक्षिण भारत में फैला हुआ था। बालाघाट के ताम्रपत्र में इनकी वंश परम्परा के राजाओं की नामावली मिलती है†। सबसे प्रथम राजा विन्ध्यशक्ति का नाम उल्लिखित है। इसका पुत्र प्रवरसेन प्रथम बड़ा प्रतापी राजा था। इसी के प्रपौत्र द्वितीय रुद्रसेन से गुप्तों का वैवाहिक सम्बन्ध था। वाकाटक लोगों के पूना ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त की स्त्री कुबेरनागा से उत्पन्न प्रभावती गुप्ता नामक पुत्री का विवाह द्वितीय रुद्रसेन से हुआ। समुद्रगुप्त दक्षिण में स्थित इन वाकाटकों से किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित न कर सका था; परन्तु द्वितीय चन्द्रगुप्त ने इन लोगों से मित्रता स्थापित कर ली। इस विवाह का एक मुख्य कारण यह भी था कि इस गुप्त नरेश ने ई० स० ४०० के लगभग मालवा तथा सौराष्ट्र के शकों को जीतकर उनका राज्य गुप्त साम्राज्य में मिला लिया था;‡ अतएव नवीन विजित पश्चिमी प्रदेशों पर दक्षिणी नरेशों का आक्रमण न होने देना ही इस विवाह का रहस्य था। गुप्त-साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए यह नीति अत्यन्त लाभकारी थी।

वाकाटक

प्राचीन काल में बम्बई प्रांत का दक्षिणी हिस्सा तथा मैसूर के उत्तरी भाग का प्रदेश

---

* पूना की प्रशस्ति।

† इ० ए० भा० ६ नं० ३६।

‡ उदयगिरि का लेख (गु० ले० नं० ५)

'कुंतल' नाम से प्रसिद्ध था। यह भाग भी दूसरी शताब्दी तक सातवाहन राजाओं के अधीन था। इसके पश्चात् चुट्ट वंश के राजा मैसूर पर शासन करते थे। इन राजाओं का एक लेख शिकारपुर ज़िले में स्थित मलवल्ली से प्राप्त हुआ था*। अनन्तपुर ज़िले में चुट्ट लोगों के बहुत से सिक्के भी मिले हैं† जो उनके सुचारु शासन की पुष्टि करते हैं। इसी मलवल्ली स्तम्भ पर एक दूसरा लेख मिलता है, जो भाषा (प्राकृत) तिथि उल्लेख की रीति तथा लिपि के कारण पूर्व-लेख के समान है। इस लेख के शासक मयूरशर्मन् का चन्द्रवल्ली से प्राप्त हुआ लेख मलवल्ली के लेख का समकालीन प्रकट होता है‡। इसी आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि तीसरी शताब्दी में चुट्ट लोगों के अनन्तर कुंतल प्रदेश पर कदम्ब राजाओं का अधिकार हो गया था।

कुंतल

अतः जिस समय उत्तरी भारत में गुप्त लोगों का साम्राज्य प्रारम्भ हुआ उसी समय कुंतल प्रदेश पर कदम्ब वंश का शासन शुरू हुआ। कुन्तल के अधिपति होने से यही कदम्ब नरेश कुन्तलेश्वर के नाम से भी संस्कृत-साहित्य में प्रसिद्ध हुए। इस कदम्ब कुल के राजा के साथ द्वितीय चन्द्रगुप्त ने अपनी राजनीति के कारण घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया। इन दोनों राजवंशों के सम्बन्ध के परिपोषक प्रमाण—साहित्य तथा शिलालेख सम्बन्धी—यहाँ दिये जाते हैं।

राजा भोज के शृङ्गार-प्रकाश के आठवें प्रकाश में एक संदर्भ मिलता है। उस स्थान पर कालिदास तथा चंद्रगुप्त विक्रमादित्य में कुंतल-नरेश के विषय में वार्तालाप का उल्लेख है। कालिदास का कुंतलनरेश के विषय में निम्नलिखित कथन है:—

असकलहसितत्वात्क्षालितानीव कान्त्या
मुकुलितनयनत्वाद्व्यक्तकर्णोत्पलानि।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः॥

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राजदूत बनकर कुंतल-राजा के दरबार में गये थे। इस कथन की पुष्टि क्षेमेन्द्र-कृत 'औचित्य-विचार-चर्चा' से होती

---

* एपिग्राफिका करनाटिका भा० ७ पृ० २६३।

† रैपसन—आंध्र सिक्कों की सूची।

‡ आर० सर्वे रिपोर्ट-मैसूर १९२९ पृ० ५० —इसकी भाषा (प्राकृत), तिथि, उल्लेख तथा लिपि मलवल्ली के समान है। इस लेख में मयूरशर्मन् द्वारा पराजित राजाओं की नामावली उल्लिखित है जो तीसरी शताब्दी में वर्तमान थे।

कदम्बानां मयूरशर्मणां विनिम्य तडाकं दूभ त्रैकूट आभीर पल्लव परियात्रिक सकस्थान सैन्दक पुनाट मोकरिणाम्।

जायसवाल महोदय इसका दूसरा पाठ मानते हैं।—(हिस्ट्री आफ इंडिया १५०–३५०) पृ० २२०–२१।

है। इसमें उल्लेख मिलता है कि कालिदास ने किसी 'कुंतलेश्वर-दौत्य' नामक पुस्तक की रचना की थी। इस नाम से स्पष्ट प्रकट होता है कि कालिदास ने कुंतल राजा के यहाँ दौत्य-कार्य किया था। क्षेमेन्द्र ने कालिदास के निम्नलिखित पद्य को उद्धृत किया है*।

इह निवसति मेरुः शेखरः क्ष्माधराणा-
मिह विनिहितभाराः सागराः सप्त चान्ये।
इदमहिपतिभोगस्तम्भविभ्राज्यमानं
धरणितलमिहैव स्थानमस्मद्विधानाम्॥

यह कुंतलेश कौन था जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन था? कदम्ब-वंश का संस्थापक मयूरशर्मन् तीसरी शताब्दी में शासन करता था जिसके बाद उसके पुत्र तथा पौत्र राज्य करते रहे। मयूरशर्मन् के पुत्र तथा पौत्र गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के समकालीन थे। अतएव कदम्बों का चौथा राजा ककुत्स्थवर्मन् ही गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन कुंतलेश होगा†। इसका सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि इसके राज्यकाल के एक शिलालेख में कदम्बों तथा गुप्तों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध का उल्लेख है। कुंतल-नरेश ने अपनी कन्या गुप्त-नरेश को ब्याही थी‡। इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि कुंतलनरेश ने अपनी कन्या का विवाह द्वितीय चन्द्रगुप्त से किया था। कदम्बों तथा गुप्तों का प्रथम सम्बन्ध चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में कालिदास के दौत्य कार्य तथा दोनों वंशों में वैवाहिक सम्बन्ध से ज्ञात है।

कुछ विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने पिता सम्राट् समुद्रगुप्त की भाँति अपने दिग्विजय के फल-स्वरूप अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। काशी के दक्षिण में स्थित नँगवा नामक स्थान में एक घोड़े की मूर्ति मिली है जिस पर 'चन्द्रगु' लिखा हुआ है। इसी आधार पर द्वितीय चन्द्रगुप्त के भी अश्वमेध यज्ञ के विधान का अनुमान किया जाता है।

अश्वमेध यज्ञ ?

सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य वैष्णवधर्मानुयायी था। इसके शिलालेखों में इसे 'परम भागवत' कहा गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैष्णव संप्रदाय में इसे कितनी आस्था थी। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि एक सम्प्रदाय का अनुयायी दूसरे सम्प्रदाय तथा धर्म के प्रति बुरा भाव रखता है तथा उस धर्म के अनुयायियों से द्वेष करता है। परन्तु सम्राट् चन्द्रगुप्त बड़ा धर्म-सहिष्णु था। उसके उदार तथा विशालहृदय के कारण किसी भी धर्म से द्वेष नहीं था। उसने

धार्मिक-सहिष्णुता

* काव्यमाला संवत् १८८६ पृ० १३९।

† डा० कृष्णस्वामी का भी यही मत है कि पाँचवीं शताब्दी का गुप्त शासक (चंद्रगुप्त विक्रमादित्य) का समकालीन ककुत्स्थवर्मन् ही था।—कनट्रीब्यूशन आफ़ साउथ इण्डिया टु इण्डियन कलचर पृ० ३५३ नोट)।

‡ तालगुंड की प्रशस्ति—ए० इ० भा० ८ पृ० २४; भूमिका ४७
गुप्तादिपार्थिवकुलाम्बुरुहस्थलानि स्नेहादरप्रणयसम्भ्रमकेसराणि।
श्रीमन्त्यनेकनृपषट्पदसेवितानि यो बोधयत् दुहितृदीधितिभिर्नृपार्क्कः॥

कभी अपने विपरीत धर्मानुयायियों को कष्ट नहीं दिया प्रत्युत उसने धर्म के प्रति सहिष्णुता का भाव दिखाकर उस धर्म को प्रोत्साहन दिया। इतना ही नहीं, उसने इन धर्मोपासकों को दान भी दिया। उदयगिरि की प्रशस्ति में वर्णित चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के मन्त्री वीरसेन ने भगवान् शिव की पूजा के निमित्त एक गुफा का उत्सर्ग किया था*। यह शिव का परम भक्त होते हुए भी उक्त सम्राट् के सन्धि-विग्रह विभाग का मन्त्री था। मथुरा की प्रशस्ति में एक शैव आर्योदिताचार्य का उल्लेख मिलता है जिन्होंने (गुरुप्रतिमायुक्त) उपमितेश्वर तथा कपिलेश्वर की—इन दो शिवलिङ्गों की स्थापना अपने पुण्य-वृद्धि के लिए की थी†।

साँची के शिलालेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के यहाँ एक बौद्ध अम्रकार्दव नामक पदाधिकारी किसी बड़े सैनिक पद पर नियुक्त था‡, जिसने साँची प्रदेश में स्थित महाविहार के आर्य-संघ को २५ दीनार तथा एक गाँव प्रतिदिन पाँच भिक्षुओं के भोजन के निमित्त और रत्नगृह में दीपक जलाने के लिए दिया था[]। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य परम वैष्णव होते हुए भी शैव तथा बौद्ध मतावलम्बियों का आदर करता था। उसने न केवल उनके लिए सम्मान ही प्रदर्शन किया प्रत्युत दान देकर उनके धर्म का उत्साह-वर्धन भी किया। चीनी यात्री फाहियान ने भी इसकी दानशीलता तथा धर्मसहिष्णुता की प्रशंसा की है।

सम्राट् समुद्रगुप्त के समान ही उसका सुयोग्य पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भी वीर तथा प्रतापी राजा सिद्ध हुआ। इसने अनेक पदवियाँ धारण की थीं और शिलालेखों में इसके लिए विक्रमांक, विक्रमादित्य, श्रीविक्रम, अजितविक्रम, सिंहविक्रम, नरेन्द्रचन्द्र आदि अनेक उपाधियों का प्रयोग किया गया है। सिक्कों पर उत्कीर्ण इन पदवियों से इसके पराक्रम का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इसकी वीरता का सूचक सबसे प्रधान वह घटना है जब इसने अपने प्रारम्भिक-काल में ही एक पराक्रमी तथा दुराचारी शकाधिप को स्त्री का वेष बनाकर मार डाला था।

वीरता

इसके शरीर की बनावट बड़ी ही सुन्दर थी। सारे शरीर में प्रत्येक अंग का पूर्णतः विकास पाया जाता है। चन्द्रगुप्त के सिक्कों पर उसके शरीर का जो चित्र अंकित है उसके देखने से ज्ञात होता है मानों वीर रस ही साक्षात् शरीर धारण किये हुए हो। जिस प्रकार उसके कृपाण

---

* भक्त्या भगवतः शम्भोः गुहामेतामकारयत्।—का० इ० इ० नं० ६।

† आर्योदिताचार्येण स्वपुण्याप्यायननिमित्तं गुरूणां च कीर्त्यं उपमितेश्वरकपिलेश्वरौ गुर्व्वायतने गुरु.........प्रतिष्ठापितौ।—मथुरा का स्तम्भ-लेख ए० इ० १९३१।

‡ अनेकसमरावाप्तविजययशस्पताकः।—साँची शिलालेख फ्लीट—नं० ५।

[] प्रणिपत्य ददाति पञ्चविंशतीः दीनारान्। पञ्चैव भिक्षवो भुञ्जन्तां रत्नगृहे च दीपक इति।—साँची का शिलालेख।

में बल था उसी प्रकार शरीर में भी थी। इसके सिक्कों पर इसकी वीरता का सूचक यह वाक्य खुदा हुआ है—'क्षितिमवजित्य सुचरितैः दिवं जयति विक्रमादित्यः'।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कुछ सिक्कों पर घायल सिंह तथा कुछ पर भागते हुए सिंह का चित्र अंकित है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य की वीरता के आगे सिंह भी मैदान छोड़कर भाग जाते थे तथा इसके साथ युद्ध करने का साहस नहीं करते थे।

विद्या-प्रेम

राजनीति के शुष्क वातावरण में रहने के कारण यह बात नहीं थी कि सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को विद्यानुराग न हो। इसके राजकीय-वैभव-सम्पन्न दरबार में राजकवियों का जमघट सा लगा रहता था। प्रत्येक कवि अपनी सरस तथा मधुर कविता से सम्राट् विक्रमादित्य को प्रसन्न रखने में भी अपना परम सौभाग्य समझता था। यह तो विदित ही है कि महाकवि कालिदास इस सम्राट् के दरबार को अपनी उपस्थिति से अलंकृत किया करते थे तथा अपनी कमनीय कविता से राजा को सदा आनन्द के सागर में डुबोया करते थे। द्वितीय चन्द्रगुप्त के शिलालेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसने कालिदास को अपने राज्य के एक प्रतिष्ठित पद पर नियुक्त किया था। चन्द्रगुप्त की प्रेरणा से कालिदास ने कुन्तलनरेश ककुत्स्थवर्मन् के यहाँ जाकर सम्राट् का दौत्यकार्य भी किया था। इससे ज्ञात होता है कि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के यहाँ केवल राजकवि ही नहीं था बल्कि अनेक राजकीय कार्यों का समुचित सम्पादन किया करते थे। इसी सम्राट् के दरबार में रहकर कालिदास ने अपने ग्रन्थ-रत्नों की रचना की थी। प्राचीन जनश्रुति के आधार पर यह भी कहा जाता है कि इसी सम्राट् के दरबार में 'नवरत्न' थे। इन कवियों के मूर्धन्य महाकवि कालिदास थे। (महाकवि कालिदास के विषय में विस्तृत विवेचन अगले भाग में दिया जायगा) इसी सम्राट् के दरबार में वीरसेन नामक एक मन्त्री रहता था जो व्याकरण, न्याय, मीमांसा और लोक में निपुण तथा कवि भी था*। इससे सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य कवियों तथा विद्वानों का आश्रयदाता था। इसके सिक्कों पर उत्कीर्ण संस्कृत के मुद्रालेखों से इसके संस्कृतानुराग का पता चलता है। इसके समस्त शिलालेख संस्कृत में ही उत्कीर्ण हुए हैं और उन सब प्रशस्तियों से विक्रमादित्य के प्रचण्ड विद्या-प्रेम का परिचय मिलता है।

वस्तुतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का व्यक्तित्व अत्यन्त महान् था। पिता के द्वारा विस्तृत राज्य को पाकर भी वह इतर जन की भाँति सन्तुष्ट नहीं बन बैठा; बल्कि इसके ठीक विपरीत अपनी तलवार की तीक्ष्णता को परखने के लिए एक सुवर्ण अवसर

---

* अन्वयप्राप्तसाचिव्यो व्यापृतसन्धिविग्रहः।
कौत्सशाव इति ख्यातो वीरसेनः कुलाख्यया॥
शब्दार्थन्यायलोकज्ञः कविः पाटलिपुत्रकः—उदयगिरि का गुहालेख।

प्रदान किया। शकों को परास्त कर इसने अपने साम्राज्य का विस्तार किया तथा पिता द्वारा अविजित प्रदेशों को जीतकर अपनी श्री वृद्धि की। 'धार्मिक सहिष्णुता' की नीति का अवलम्बन कर इसने सब धर्मों के प्रति प्रेमभाव रक्खा। इतने बड़े विस्तृत साम्राज्य का आधिपत्य, गुणग्राहकता, विद्या-प्रेम, धार्मिक सहिष्णुता आदि ,गुणों पर मुग्ध होकर कालिदास ने अपने स्वामी के लिए यह, अन्य के मिस से, कहा हो—

उपसंहार

> कामं नृपाः सन्ति सहस्रशोऽन्ये, राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
> नक्षत्रतारागणसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥

३ प्रथम कुमारगुप्त

अश्वारोही प्रथम कुमारगुप्त का चित्र

द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की मृत्यु पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र प्रथम कुमारगुप्त राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। कुछ लोगों का विश्वास है कि अपने भ्राता गोविन्द गुप्त को हटाकर वह गद्दी पर बैठा किन्तु इसकी पुष्टि के लिए संतोषजनक प्रमाण नहीं मिलते। वैशाली मुद्रा में वह केवल महाराज कहा गया है (महा० श्री चन्द्रगुप्त पत्नी महाराज श्री गोविन्द गुप्त माता महादेवी श्री ध्रुव स्वामिनी) प्रथम कुमारगुप्त का जन्म द्वितीय चन्द्रगुप्त की दूसरी स्त्री ध्रुवदेवी से हुआ था*। प्रथम कुमारगुप्त का एक भाई था जिसका नाम गोविन्दगुप्त था। लेख से यह प्रकट होता है कि वह बिहार प्रान्त के मुज्जफ़्फ़रपुर ज़िले में स्थित बसाढ़ (वैशाली) में प्रथम कुमारगुप्त के प्रतिनिधि के रूप में शासन करता था।

कौटुम्बिक-वृत्त

* महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज-कुमारगुप्तस्य।

—भिलसद का लेख, गु० ले० नं० १०

वसाढ़ से बहुत सी मिट्टी की मुहरें मिली हैं* जिन पर माता के नाम (ध्रुवदेवी) के साथ साथ गोविन्दगुप्त का नाम भी मिलता है† । इन मुहरों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि गोविन्दगुप्त प्रथम कुमारगुप्त का कनिष्ठ सहोदर भाई था और प्रथम कुमारगुप्त जेठे होने के कारण सिंहासनारूढ़ हुआ था ।

प्रथम कुमारगुप्त के समस्त लेखों में गुप्त संवत् तथा मालव संवत् में तिथि का उल्लेख मिलता है । इन सातों लेखों से प्रथम कुमारगुप्त की ऐतिहासिक वार्ता, शासन-प्रणाली तथा धार्मिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है । ऐसे उपयोगी लेखों का गम्भीर अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से परमावश्यक है । अतएव प्रथम कुमारगुप्त के उपलब्ध लेखों का संक्षिप्त विवरण यहाँ देने का प्रयत्न किया जायगा ।

उपलब्ध लेख

(१) भिलसद का स्तम्भ-लेख‡

प्रथम कुमारगुप्त का सबसे पहला लेख भिलसद नामक स्थान से प्राप्त हुआ है । यह लेख स्तम्भ पर खुदा है और इसकी तिथि गु० सं० ९६ (ई० स० ४१५) है । इस लेख के वर्णन से ज्ञात होता है कि ध्रुव शर्मा ने स्वामि महासेन का मंदिर बनवाया तथा स्वर्ग-सोपान के रूप में एक विशाल स्थान (धर्म-संघ) का निर्माण करवाया । इसके अतिरिक्त इस स्तम्भ-लेख में प्रथम कुमारगुप्त तक गुप्त-वंशावली का उल्लेख मिलता है ।

(२ व ३) गढ़वा का लेख()

प्रयाग ज़िले के गढ़वा नामक स्थान से प्रथम कुमारगुप्त के दो शिलालेख मिले हैं । दोनों की तिथि एक ही गु० सं० ९८ (ई० स० ४१७) मिलती है । दोनों शिलालेखों में क्रमशः दस तथा बारह दीनार दान में देने का उल्लेख मिलता है ।

(४) मन्दसोर की प्रशस्ति[]

प्रथम कुमारगुप्त का यही एक शिलालेख है जिसमें तिथि का उल्लेख मालव संवत् में मिलता है[] । इस लेख की तिथि विक्रम संवत् ५२९ (ई० स० ४७३) है । यह लेख मालवा के मंदसोर नामक स्थान से प्राप्त हुआ है । इसके लेखक वत्सभट्टि की साहित्य-मर्मज्ञता का परिचय इस लेख की काव्यशैली के कारण मिलता है । इस शिलालेख के अध्ययन से ज्ञात होता है कि

---

* आर० सर्वे रिपोर्ट १९०३-४ ।

† महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपत्नी महाराजश्रीगोविन्दगुप्तमाता महादेवी ध्रुवस्वामिनी ।

‡ का० इ० इ० भा० ३ नं० १० ।

() का० इ० इ० भा० ३ नं० ८ व ९ ।

[] वही नं० १८ ।

फाहियान का यात्रामार्ग

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दशपुर (मालवा में स्थित) में एक सूर्यमंदिर का निर्माण हुआ था जिसका प्रबन्ध तन्त्रवाय श्रेणी के अधीन था। उस समय मन्दसोर का शासक बन्धुवर्मा था जो प्रथम कुमारगुप्त का प्रतिनिधि था।

(५) करमदण्डा का लेख*

यह लेख फैज़ाबाद ज़िले के अन्तर्गत करमदण्डा नामक स्थान से मिला है। यह लेख शिवलिङ्ग के निचले भाग में खुदा है तथा इसकी तिथि गु० स० ११७ (ई० स० ४३६) है। इस शिव-प्रतिमा को प्रथम कुमारगुप्त के अधीनस्थ पृथ्वीषेण ने प्रतिष्ठित करवाया था।

(६) दामोदरपुर के ताम्रपत्र†

प्रथम कुमारगुप्त के दो ताम्रपत्र उत्तरी बङ्गाल के दामोदरपुर नामक स्थान से मिले हैं। ये ताम्रपत्र इस गुप्त-नरेश की शासन प्रणाली पर अधिक प्रकाश डालते हैं। इनकी तिथि गु० स० १२४ व १२९ (ई० स० ४४३ व ४४८) है। इस लेख में भूमि विक्रय तथा विषयपति और उसकी सभा का विवरण मिलता है। विषयपति तथा उसके सभासदों के नाम भी इसमें उल्लिखित हैं।

(७) धनैदह का ताम्रपत्र‡

दामोदरपुर ताम्रपत्र की तरह इसका भी स्थान कुमारगुप्त के लेखों में महत्त्वपूर्ण है। इसकी तिथि गु० स० ११३ है। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि गुप्तों के किसी अधिकारी ने थोड़ी सी भूमि सामवेदिन् ब्राह्मण वाराहस्वामिन् को दान में दी थी। यह लेख उत्तरी बंगाल के राजाशाही ज़िले में धनैदह ग्राम से मिला था।

(८) वैग्राम ताम्रपत्र()

कुमारगुप्त के शासनकाल का यह ताम्रपत्र उत्तरी बंगाल के बोगरा ज़िले में वैग्राम से प्राप्त हुआ था। इसकी तिथि गु० स० १२८ है। इसके वर्णन से स्पष्ट मालूम होता है कि गोविन्द स्वामिन् के मंदिर में कुछ भूमि दान में दी गई थी। इसकी आय मंदिर के सुगंधि, दीप तथा पुष्प के निमित्त व्यय की जाती थी। यह भूमि कर से मुक्त थी। इस दान में तीन कुल्यवाप भूमि दो द्रोण प्रति कुल्यवाप के मूल्य से क्रय की गई थी।

(९) मनकुवार का लेख

प्रथम कुमारगुप्त के समय का यह बौद्ध लेख प्रयाग ज़िले के अन्तर्गत मनकुवार नामक

---

* ए० इ० भा० १० पृ० ७१।
† ए० इ० भा० १५ नं० ७।
‡ ए० इ० भा० १७ नं० २३ पृ० ३४५।
() ए० इ० भा० २१ नं० १३ पृ० ७८।

स्थान में प्राप्त हुआ है†। इसकी तिथि गु० सं० १२६ (ई० स० ४४८) है। यह लेख बुद्ध-प्रतिमा के अधोभाग में खुदा है। इस मूर्ति को बुधमित्र नामक व्यक्ति ने स्थापित किया था।

(१०) साँची का लेख

यह भी बौद्ध लेख है परन्तु तिथि के अनुसार प्रथम कुमारगुप्त के शासन-काल का है। इसकी तिथि गु० स० १३१ है‡। इस लेख के वर्णन से प्रकट होता है कि उपासिका हरिस्वामिनी ने काकनाद स्थान में स्थित आर्य संघ को कुछ द्रव्य दान में दिया था। इन रुपयों की आय से एक भिक्षु के भोजन तथा बुद्धदेव के दीपक-निमित्त व्यय का प्रबंध होता था।

(११) कुमारगुप्त के समय के जैन लेख

जैनधर्म-सम्बन्धी बहुत से लेख प्रथम कुमारगुप्त की शासन-अवधि में उत्कीर्ण हुए थे। तिथि के अनुसार सबको इसके शासन-काल का बतलाया जाता है। उदयगिरि गुहा में एक लेख (गु० स० १०६ खुदा है()। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि उदयगिरि गुहा में शंकर द्वारा जिनवर पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की गई थी। मथुरा में भी दो जैन धर्म-सम्बन्धी लेख गु० स० ११३ व १३५ के मिलते हैं[] इनमें जिन-मूर्ति-स्थापना का वर्णन मिलता है।

प्रथम कुमारगुप्त के प्रायः अनेक शिलालेखों$ में गुप्त-संवत् में तिथि का उल्लेख मिलता है। चाँदी के सिक्कों पर भी इसी प्रकार तिथियाँ अंकित हैं। अतः इसके राज्यकाल की अवधि बड़ी सुगमता से जानी जा सकती है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सबसे अन्तिम साँचीवाले गुप्त संवत् ९३ के लेख से ज्ञात होता है कि ई० सन् ४१३ के पश्चात् राज्य के शासन का प्रबन्ध कुमारगुप्त के हाथों में चला गया होगा। इसकी पुष्टि कुमारगुप्त के भिलसदवाले लेख से होती है जिसकी तिथि गु० स० ९६ (ई० स० ४१५) है। इन तीन वर्षों में किसने शासन किया, इस विषय में मतभेद है। कुछ विद्वान गोविन्द गुप्त को शासक मानते हैं पर लेखों या सिक्कों द्वारा इसकी पुष्टि नहीं होती। कुमारगुप्त के चाँदी के सिक्कों पर गुप्त संवत् १३६ तिथि मिलती है जो उसकी अन्तिम तिथि ज्ञात होती है‖। इस काल के पश्चात् उसकी कोई तिथि उपलब्ध नहीं है। अतः इससे ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त ई० सन् ४५५ के लगभग अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर चुका होगा। इन शिला-लेखों के आधार पर ज्ञात होता है

राज्य-काल

---

† का० इ० इ० भा० ३ नं० ११।

‡ ,, ,, ,, ,, ६२।

() ,, ,, ,, ,, ६१।

[] ,, ,, ,, ,, ६३। ए० इ० भा० २ पृ० २१०

$ गढ़वा, भिलसद, मनकुआर, चंदसोर, साँची आदि के लेख।

‖ जे० ए० एस० बी० १८९४, पृ० १७०

कि प्रथम कुमारगुप्त ने सन् ४१३ ई० से लेकर सन् ४५५ ई० तक अर्थात् ४२ वर्ष तक राज्य किया।

यद्यपि कुमारगुप्त का शासन-काल शान्तिमय वातावरण से परिपूर्ण था परन्तु इसके शासन-काल के अन्तिम समय में पुष्यमित्र नामक किसी जाति ने कुमारगुप्त के राज्य पर आक्रमण किया था। उसका पुत्र स्कन्द कुछ कम शक्तिशाली नहीं था। उसने अपनी वीरता का परिचय शत्रुओं को दिया तथा उन्हें समर में परास्त किया। स्कन्दगुप्त के भितरीवाले स्तम्भ-लेख में इस विजय का वर्णन बड़ी ही सुन्दर तथा ललित भाषा में किया गया है‡।

पुष्यमित्र का आक्रमण

विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।
समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा
क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः॥

इससे ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त ने इस महाविपत्ति का दृढ़ता के साथ निवारण कर अपने पितृराज्य में शान्ति की स्थापना की। ये गुप्त राज्य पर आक्रमण करनेवाले पुष्यमित्र कौन थे? इस विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। फ्लीट इनको दक्षिण में नर्मदा के प्रदेश में स्थित एक जाति मानता है()। अलन फ्लीट के मत का समर्थन करता है[] तथा इनको (पुष्यमित्रों को) दक्षिण की एक जाति मानता है जो गुप्त-सत्ता का नाश कर उनके आधिपत्य का परित्याग करना चाहती थी।

इसी कारण से स्वतन्त्रता के इच्छुक पुष्यमित्रों| ने गुप्त-साम्राज्य में अशान्ति मचा दी थी। जो हो, यह निश्चित है कि पुष्यमित्र मध्यभारत की एक शासकजाति का नाम था जिसका वर्णन वायुपुराण§ तथा जैन कल्पसूत्र* में मिलता है। यह जाति अवन्ति में शासन करती थी ×।

---

‡ का० इ० इ० नं १३

() इ० ऐंटि० भा० १८ पृ० २२८।

[] गुप्त-सिक्के (भूमिका)

| दिवेकर ने फ्लीट महोदय के 'पुष्यमित्रांश्च' इस पाठ का संशोधन किया है। उनका कथन है कि 'पुष्यमित्रांश्च' का शुद्ध पाठ युद्धमित्रांश्च' होना चाहिए। दिवेकर के मत से भितरीवाले स्तम्भ-लेख में वर्णित आक्रमणकारी किसी साधारण शत्रु का वर्णन है, इसमें किसी जातिविशेष का उल्लेख नहीं है।—जरनल आफ़ भण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट् सन् १९१९-२०।

§ पुष्यमित्राः भविष्यन्ति पट्टमित्राः त्रयोदशाः।—वायुपुराण ९९। ३७४

* से० बु० आफ़ इ० भाग २२ पृ० २९२।

× जायसवाल—हिस्ट्री आफ़ इंडिया पृ० १०४।

प्रथम कुमारगुप्त का कोई ऐसा शिलालेख उपलब्ध नहीं है जिसमें उसके युद्ध अथवा राज्य-विस्तार का वर्णन किया गया हो। इसने अपने पितामह या पिता की भाँति कोई युद्ध नहीं किया और न किसी देश को जीतने के लिए विजय यात्रा ही की।

राज्य-विस्तार

परन्तु इसके शिला-लेखों के प्राप्ति-स्थान से पता चलता है कि इसने अपने पिता से प्राप्त राज्य का सुचारु रूप से प्रबन्ध करने के साथ ही साथ उसे सुरक्षित भी रक्खा। यद्यपि इसके राज्यकाल के अन्तिम समय में पुष्यमित्र नामक शत्रुओं ने आक्रमण किया था परन्तु इससे कुमारगुप्त की कुछ हानि नहीं हुई। इसके विपरीत शत्रुगण राजकुमार स्कन्दगुप्त के द्वारा मैदान में मारे गये तथा परास्त किये गये। इसका विस्तृत राज्य सुराष्ट्र से लेकर बङ्गाल तक फैला हुआ था। पुण्ड्रवर्धनभुक्ति (उत्तरी बङ्गाल) इसके द्वारा नियुक्त शाशक चिरातदत्त के अधीन था[] (सन् ४४८ ई०)। सन् ४३५ ई० के समीप घटोत्कच गुप्त एरण (पूर्वमालवा) पर साशन करता था|। प्रथम कुमारगुप्त का सामन्त बन्धुवर्मा सन् ४३६ ई० में दशपुर (पश्चिमी मालवा) पर राज्य करता था$\frac{\cdot}{\cdot}$। फैज़ाबाद ज़िले में स्थित करमदण्डा में पृथ्वीषेण सन् ४३६ ई० में शासन करता था। वह पीछे कुमारगुप्त के सेनापति पद पर नियुक्त किया गया ×। सुराष्ट्र में इसके चाँदी के सिक्के मिले हैं जो शकों का अनुकरण पर ढलवाये गये थे। उपरियुक्त उल्लेखों से विदित होता है कि महाराज प्रथम कुमारगुप्त का साम्राज्य काठियावाड़ से बङ्गाल तक विस्तृत था तथा अरब सागर और बङ्गाल की खाड़ी को स्पर्श कर रहा था।

प्राचीन भारत में अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान एकाधिपत्य तथा प्रभुता का सूचक था। इसी कारण जिस राजा ने अपनेको एक राट् तथा प्रतापी समझा उसने इस यज्ञ को किया। कुमारगुप्त से पहले इसके पितामह सम्राट् समुद्रगुप्त ने इस यज्ञ को किया था।

अश्वमेध-यज्ञ (?)

यह कहना सही न होगा कि कुमारगुप्त ने समुद्रगप्त की तरह अश्वमेध यज्ञ किया था। गुप्तों के सुवर्ण-सिक्कों में एक सिक्का* मिलता है जिस पर एक ओर घोड़े की मूर्ति है तथा दूसरी ओर चामर लिये एक स्त्री खड़ी है। इसके सिक्के सम्राट् समुद्रगुप्त के अश्वमेध यज्ञ वाले सिक्कों से भिन्न तथा बयाना ढेर के सिक्के के समान हैं। इसमें (कुमारगुप्त वाले सिक्के में) घोड़े पर ज़ीन कसा है तथा पशु का मुख विपरीत दिशा की ओर है। इस ओर कोई लेख भी नहीं मिलता। इन कारणों से यह सिक्का सम्राट् समुद्रगुप्त का नहीं माना जा सकता। सिक्के के दूसरी ओर कुमारगुप्त की उपाधि 'अश्वमेध महेन्द्रः' लिखा हुआ

[] दामोदरपुर का ताम्र-लेख गुप्त संवत् १२९

| तुमांयु का लेख गु० सं० ११६।

$\frac{\cdot}{\cdot}$ मन्दसोर की प्रशस्ति वि० सं० ४९३।

× करमदण्डा की प्रशस्ति गु० सं० ११७।

* जान एलन—गुप्त क्वायन्स प्लेट ७।

है। उपरियुक्त दो भिन्नताओं से तथा 'महेन्द्र' पदवी की समता से यह मान लिया गया है कि यह अश्वमेध का सिक्का प्रथम कुमार गुप्त का ही है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि महाराजा कुमारगुप्त का अश्वमेध यज्ञ किसी तरह का दिग्विजय या नये विजय के उपलक्ष्य में नहीं था वरन् पितृ परम्परा प्राप्त साम्राज्य के गौरव के लिये था।

धर्म-परायणता तथा सहिष्णुता

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समान ही प्रथम कुमारगुप्त के भी सिक्कों तथा लेखों पर 'परम भागवत※' की उपाधि उत्कीर्ण मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि प्रथम कुमारगुप्त भी वैष्णवधर्म का अनुयायी था तथा वैष्णवधर्मावलम्बी होते हुए भी उसने दूसरे धर्मों के प्रति अपनी 'धार्मिक सहिष्णुता' का पूर्ण परिचय दिया। उसके विशाल हृदय में अन्य धर्मों के प्रति लेशमात्र भी द्वेष नहीं था। इसके शासन-काल में बौद्ध बुद्धमित्र ने भगवान् बुद्ध की प्रतिमा की स्थापना की थी†। सातवीं शताब्दी के बौद्ध चीनी यात्री ह्वेन्साँग ने ऐसा लिखा है कि गुप्त राजा शक्रादित्य ने नालन्दा में बौद्ध विहार की स्थापना की‡। 'शक्रादित्य' को कुछ विद्वान् प्रथम कुमारगुप्त की उपाधि मानते हैं; क्योंकि शक्र तथा महेन्द्र पर्यायवाची शब्द हैं। 'महेन्द्रादित्य' कुमारगुप्त की सर्वप्रधान पदवी थी अतः इसी शब्द का पर्यायवाची 'शक्रादित्य' शब्द यदि इसी कुमारगुप्त की पदवी हो तो इसमें क्या आश्चर्य है। अतः इन दोनों उपाधियों की समानता को देखते हुए ह्वेन्साँग द्वारा वर्णित 'शक्रादित्य' यही कुमारगुप्त जान पड़ता है। अतएव यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि इसने नालन्दा में बौद्ध विहार का शिलान्यास किया। धार्मिक सहिष्णुता तथा अन्य धर्म के प्रोत्साहन का इससे अच्छा उदाहरण नहीं मिल सकता है।

पृथ्वीषेण करमदण्डा (उत्तर प्रदेश) में प्रथम कुमारगुप्त के द्वारा शासक नियुक्त किया गया था। इस करमदण्डा में प्राप्त एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि वह (पृथ्वीषेण) शिवोपासक था। उसके शैव धर्मावलम्बी होने के कारण प्रशस्ति शिवलिङ्ग के निचले भाग में खुदी है()। सामन्त बन्धुवर्मा ने दशपुर में भगवान् भास्कर के मन्दिर का निर्माण किया था[]। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि वैष्णव राजा के समय में भी अथवा राजा के वैष्णवधर्मावलम्बी होने पर भी उसके राज्य में बुद्ध, शिव तथा सूर्य की पूजा पूर्ण रूप से होती थी। उपरियुक्त उल्लेखों से कुमारगुप्त की वैष्णवधर्म-परायणता तथा 'धार्मिक सहिष्णुता' के साथ ही उसके उदार चरित्र का पूर्ण रूप से परिचय मिलता है।

※ परमभागवतमहाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तराज्ये।—गढ़वा का लेख।

† मनकुवार का लेख (का० इ० इ० नं० २)।

‡ वाटर भा० २ पृ० १६४-५,

() यह लेख इस समय लखनऊ म्यूज़ियम में है।

[] मन्दसोर की प्रशस्ति (का० इ० इ० नं० १८)

प्रथम कुमारगुप्त में उसके पिता के समान ही गुण-ग्राहकता का अभाव नहीं था। इसने भी अपने पूर्व-पुरुषों के सदृश विद्वानों को आश्रय दिया था। वामन ने अपने काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति में चन्द्रगुप्त के 'चन्द्रप्रकाश' नामवाले या उपाधिवाले पुत्र का उल्लेख किया है जो विद्वानों का आश्रय-दाता था। वह उल्लेख इस प्रकार है—

गुण-ग्राहकता

सोयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयः चन्द्रप्रकाशो युवा,
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः ॥

अलन का कथन है कि यह 'चन्द्रप्रकाश' की पदवी द्वितीय चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के ही लिए प्रयुक्त की गई है या यह विशेषण के रूप में उल्लिखित है। अतः उपरियुक्त कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुमारगुप्त विद्वानों का आश्रयदाता था। कुमारगुप्त के सोने के सिक्कों पर 'गुप्तकुलामलचन्द्रः' तथा 'गुप्तकुलव्योमशशी' आदि उपाधियाँ अंकित हैं। अतः इस चन्द्र की उपाधि तथा चन्द्रप्रकाश नाम में समता पाकर चन्द्रप्रकाश को प्रथम कुमारगुप्त मानना ही समुचित जान पड़ता है।

महाराजा प्रथम कुमारगुप्त अपने वीर पितामह तथा पिता की भाँति प्रतापी और पराक्रमी सम्राट् नहीं था। उनके समान न तो इसके हाथों किसी शत्रु के पराजित होने का वर्णन मिलता है और न दिग्विजय का विवरण। सच तो यह है कि इस काल तक गुप्तों का प्रताप-सूर्य अपने मध्याह्न स्थान पर पहुँच गया था। कुमारगुप्त ने अपने पूर्वजों के द्वारा उपार्जित श्री का उपभोग किया परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह किसी प्रकार अयोग्य हो। अपने पूर्वजों से प्राप्त विस्तृत साम्राज्य की पूर्णतः रक्षा करके इसने अपनी अलौकिक राज्य-संचालन-शक्ति का परिचय दिया था। इतने बड़े विस्तृत राज्य की रक्षा करना कुमारगुप्त जैसे वीर का ही काम था। स्कन्दगुप्त के भितरीवाले लेख में इसके प्रचण्ड प्रताप का वर्णन इस प्रकार दिया हुआ है—

वीरता

प्रथित—पृथुमति—स्वभाव—शक्तेः पृथु—यशसः पृथिवी—पतेः पृथु—श्रीः।

× × × × ×

इससे इसके महान् यश तथा प्रभुता की सूचना मिलती है। इसकी सर्वप्रधान उपाधि 'महेन्द्रादित्य' थी जो तत्कालीन साहित्य में भी मिलती है। इसके अतिरिक्त 'श्रीमहेन्द्र', 'अजितमहेन्द्र', सिंहमहेन्द्र, महेन्द्रकुमार, गुप्तकुलव्योमशशी आदि पदवियों से इसे विभूषित किया गया था। द्वितीय चन्द्रगुप्त की भाँति कुमारगुप्त के सिंह निहन्ता प्रकार के सिक्के मिलते हैं। जिस पर कुमारगुप्त सिंह का शिकार करता हुआ दिखलाया गया है। उसी सिक्के पर 'सिंहमहेन्द्रः' भी लिखा हुआ है। बयाना ढेर में गैंडा को मारते हुये प्रथम कुमारगुप्त सिक्कों पर अंकित है और खड्ग*-त्राता की उपाधि दी गई है। इससे कुमारगुप्त की अद्भुत वीरता का परिचय प्राप्त होता है।

---

* खड्ग का प्रयोग तलवार अथवा गैंड़ा के लिये किया गया है।

कुमारगुप्त का चित्त सदा सार्वजनिक उपकारिता में संलग्न रहता था। इसका राज्य वृत्ति के प्रदान, मन्दिर-निर्माण तथा अग्रहार के लिए प्रसिद्ध है। गढ़वा* की प्रशस्ति में वर्णित 'सदा सत्र सामान्यदत्ता दीनाराः १०, (दश)' इस कथन से दस दीनार के दान देने का वर्णन मिलता है। गढ़वा के दूसरे† लेख से बारह दीनार देने का वर्णन मिलता है। दशपुर में भी इसने एक मन्दिर का निर्माण कराया था तथा इसके प्रबन्ध का भार तन्तुवाय संघ के अधीन किया था। इसके शासन-काल में राज्य से अनेक वृत्तियाँ दी गईं तथा अन्य व्यक्तियों ने अग्रहार दान दिया। दशपुर (पश्चिम मालवा) के शासक का सूर्यमन्दिर के निर्माण का वर्णन मन्दसोर की प्रशस्ति में मिलता है‡।

दान तथा सार्वजनिक कार्य

अनेक व्यक्तियों ने भी इसी प्रकार की वृत्तियाँ दी थीं। कुमारगुप्त के राज्य में (ई० सन् ४१५) भिलसद स्थान में किसी सज्जन ने कार्त्तिकेय का मन्दिर बनवाया था। उसने मुनियों का निवास-स्थान भी तैयार करवाया था।

कृत्वा [—आ]भिरामां मुनिवसति...स्वर्गसोपानरूपां,

× × × ×

प्रासादाग्राभिरूपां गुणवरभवनं धर्मसत्रं यथावत्[]।

इसी के शासन-काल में बौद्ध भिक्षु बुद्धमित्र ने भगवान् की एक प्रतिमा स्थापित करवाई थी। इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

भगवतः सम्यक्सम्बुद्धस्य स्वमताविरुद्धस्य इयं प्रतिमा प्रतिष्ठापिता भिक्षु बुद्धमित्रेण()

इन सब उदाहरणों से ज्ञात होता है कि प्रथम कुमारगुप्त के शासन-काल में राजा से प्रजा तक सभी सार्वजनिक उपकारिता में संलग्न रहते थे। इसका मूल कारण कुमारगुप्त की दयालुता तथा विशालहृदयता है। ऐसे परोपकारयुक्त लौकिक कार्य में निरत राजा तथा प्रजा का मिश्रण अपूर्व है तथा शासनकर्ता के श्लाघनीय एवं अनुकरणीय चरित्र का द्योतक है।

कुमारगुप्त में यद्यपि अपने पूर्वजों के सदृश वीरता का अभाव था फिर भी वह वीर तथा सुशासक सम्राट् था। इसके समय में गुप्त-साम्राज्य का वैभव अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। इसे न राज्य-विस्तार की लिप्सा थी और न धन संग्रह का लोभ। अतः इसने निश्चिन्त होकर राज्यलक्ष्मी का खूब ही उपभोग किया। इसका शासन शान्तिपूर्ण था। अतः इसका शासनकाल सुखमय रहा। वस्तुतः यह एक प्रभावशाली शासक, परम वैष्णव, पर-धर्म-सहिष्णु, दान वीर तथा प्रजापालक सम्राट् था।

उपसंहार

---

* का० इ० इ० नं० ८।

† वही नं० ९। 'आत्मपुण्योपचयार्थम्'।

‡ श्रेण्यादेशेन भक्त्या च कारितं भवनं रवेः। फ्लीट नं० २८।

[] कुमारगुप्त का भिलसद का स्तम्भलेख।

() कुमारगुप्त का मनकुआर शिलालेख।
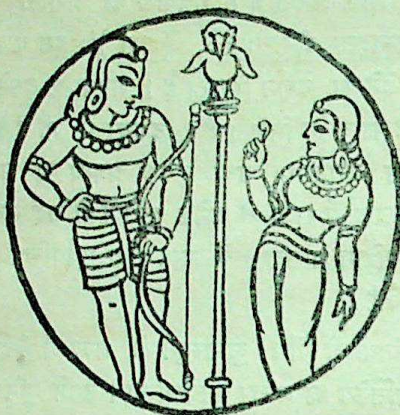
४ स्कन्दगुप्त

स्कन्दगुप्त—राजा तथा लक्ष्मी मुद्रा

राजकुमार-अवस्था से ही स्कन्दगुप्त राज्य-प्रबन्ध में सहयोग करने लग गया था। योग्य होने के कारण पिता प्रथम कुमारगुप्त के मरते ही वह राजसिंहासन पर बैठा। गुप्त-लेखों से ज्ञात होता है कि प्रथम कुमारगुप्त के तीन लड़के—स्कन्दगुप्त पुरगुप्त और बुधगुप्त थे। भितरी के मुद्रा लेख में पुरगुप्त की माता अनन्तदेवी का नाम उल्लिखित है* परन्तु स्कन्दगुप्त के लेख में उसकी माता का नाम नहीं मिलता†। इस कारण यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि स्कन्दगुप्त व पुरगुप्त सहोदर थे या सौतेले भाई। कुछ लोगों का मत है कि प्रथम कुमारगुप्त के बाद उत्तराधिकार का युद्ध हुआ और ज्येष्ठ भ्राता पुर को हटा कर स्कन्द राजा बन गया। राज्य के उत्तराधिकारी होने के कारण यह प्रतीत होता है कि स्कन्दगुप्त प्रथम कुमारगुप्त का जेठा पुत्र हो अथवा सब से योग्य होने के कारण राज्य सिंहासन पर बैठा हो। स्कन्दगुप्त की कोई संतान न थी जो उसके पश्चात् राजगद्दी का स्वामी हो सके अतएव स्कन्द के बाद शासन की बागडोर उसके भाई पुरगुप्त के वंशजों ने ले ली।

कौटुम्बिक वृत्त

गुप्त लेखों में ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी है अतएव इनका अध्ययन गुप्त इतिहास का एक प्रधान अंग बन जाता है। इसी विचार से प्रेरित होकर स्कन्दगुप्त के लेखों का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जायगा। स्कन्दगुप्त के छः लेख भिन्न-भिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं‡ जिनमें से कुछ पर गु० स० में तिथि का का उल्लेख मिलता है।

उपलब्ध लेख

---

*महाराजाधिराजकुमारगुप्तस्य तत्पादानुध्यातो महादेव्यां अनन्तदेव्यां उत्पन्नो महाराजाधिराज श्री पुरगुप्तस्य—(भितरी की राजमुद्रा का लेख. जे० ए० एस० बी० १८८९)

†परमभागवतो महाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातः परमभागवतो महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त।—(बिहार का लेख का० इ० इंडि० भा० ३ नं० १२)

‡का० इ० इंडि० भा० ३ नं० १२, १३, १४, १५, १६ व ६६।

(१) विहार का स्तम्भलेख

स्कन्दगुप्त का यह लेख एक स्तम्भ पर खुदा है जो बिहार प्रांत के पटना जिले के अन्तर्गत विहार नामक स्थान से प्राप्त हुआ था। इस लेख में तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। इसमें स्कन्दगुप्त तक गुप्त-वंशावली दी गई है तथा अनेक पदाधिकारियों—कुमारामात्य (मंत्री), अग्रहारिक, शौल्किक (चुंगी अफसर), गौल्मिक (जंगल के अफसर) आदि—के नाम दिये गये हैं।

(२) भितरी का स्तम्भलेख

यह स्तम्भलेख स्कन्दगुप्त के लेखों में बहुत प्रधान स्थान रखता है। यद्यपि इसमें तिथि नहीं मिलती परन्तु इसमें उल्लिखित विवरण से स्कन्दगुप्त की जीवन-सम्बन्धी प्रधान घटना का ज्ञान होता है। इस लेख के वर्णन से प्रकट होता है कि गुप्त नरेश ने विधर्मी हूणों को परास्त कर अपने साम्राज्य में शांति स्थापित की थी। यह लेख ग़ाज़ीपुर ज़िले में (उत्तर प्रदेश) स्थित भितरी स्थान से प्राप्त हुआ था।

(३) जूनागढ़ का शिलालेख

यह लेख काठियावाड़ में स्थित जूनागढ़ के समीप पर्वत पर खुदा हुआ है। इसकी तिथि गु० स० १३६ (ई० स० ४५५-६) है। यह भी एक बहुत प्रधान लेख है। यह निम्नलिखित बातों पर प्रकाश डालता है—

(अ) हूणों को परास्त करने के पश्चात् स्कन्दगुप्त ने सौराष्ट्र में अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया।

(ब) सौराष्ट्र में सुदर्शन नामक तालाब का जीर्णोद्धार किया गया, जिसको मौर्यों ने बनवाया था।

(स) इसी तालाब के किनारे विष्णु का मन्दिर बनवाया गया था।

(द) सबसे मुख्य बात यह है कि इस लेख में वर्णित 'गुप्तप्रकाले गणना विधाय' से ज्ञात होता था कि गुप्त संवत् में भी गणना होती थी।

(४) कहौम का स्तम्भ-लेख

स्कन्दगुप्त के समय का यह चौथा लेख है। इसकी तिथि गु० स० १४१ (ई० स० ४६०) है। यह स्तम्भ लेख गोरखपुर जिले में (उत्तर प्रदेश) कहौम स्थान से प्राप्त हुआ था। इस लेख में जैन तीर्थंकर की प्रतिमा स्थापित करने का वर्णन मिलता है।

(५) इन्दौर का ताम्रपत्र

स्कन्दगप्त के समय का यह ताम्रपत्र है जिसमें गु० स० १४६ (ई० स० ४६५) की तिथि मिलती है। इसमें भगवान् सूर्य के दीपक दिखलाने के निमित्त दान का वर्णन है जिसका प्रबंध इन्द्रपुर के तैलिक श्रेणी के हाथ में था। यह लेख बुलन्दशहर जिले से मिला है।

(६) गढ़वा का शिलालेख

स्कन्दगुप्त का सबसे अंतिम तिथियुक्त लेख गढ़वा का है जो प्रयाग ज़िले के गढ़वा से प्राप्त हुआ है। इसकी तिथि गु० स० १४८ (ई० स० ४६७) मिलती है।

राज्य-काल

स्कन्दगुप्त के पिता प्रथम कुमारगुप्त की अंतिम तिथि उसके सिक्के पर अंकित मिलती है। यह तिथि गु० स० १३६ है; अतएव यह निश्चित है कि स्कन्दगुप्त ने ई० स० ४५५ में ही राज्यसिंहासन को सुशोभित किया। इस बात की पुष्टि स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ के शिलालेख से भी होती है जिस पर गु० स० १३६ (ई० स० ४५५) उल्लिखित है। ऊपर कहा गया है कि स्कन्दगुप्त के प्रायः सभी लेखों पर तिथि का उल्लेख मिलता है। इस गुप्त-नरेश के गढ़वा के लेख पर गु० स० १४८ की तिथि मिलती है। यह तिथि उसके सिक्कों पर भी मिलती है जो उसकी अंतिम तिथि ज्ञात होती है। अतः इसी आधार पर स्कन्दगुप्त का राज्यकाल गु० स० १३६ से लेकर गु० स० १४८ (ई० स० ४५५–४६७) तक माना जाता है यानी स्कन्दगुप्त कुल बारह वर्ष तक सुचारु रूप से शासन करता रहा।

दायाधिकार के लिए युद्ध

कुछ विद्वानों का मत है कि स्कन्दगुप्त गुप्त-राज्य-सिंहासन का सुयोग्य उत्तराधिकारी नहीं था। उसने अपने प्रबल पराक्रम के द्वारा राज्य के सुयोग्य उत्तराधिकारी को हटाकर राज्यसिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। पहले कहा जा चुका है कि स्कन्दगुप्त तथा पुरगुप्त भाई थे। उनके सौतेले या सहोदर भाई होने के पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलते। डा० मजुमदार की यह धारणा है कि पुरगुप्त ही गुप्त-राज्य-सिंहासन का उचित अधिकारी था, क्योंकि इसकी माता अनन्तदेवी को महादेवी कहा गया है। स्कन्दगुप्त की माता का नाम नहीं मिलता। शायद स्कन्दगुप्त की माता महादेवी नहीं थीं अतएव उनके नाम का उल्लेख नहीं है। स्कन्दगुप्त ने पुरगुप्त को हटा कर राज्यसिंहासन को अपने अधीन कर लिया। भितरी के स्तम्भ-लेख पर एक श्लोक मिलता है जिससे दायाधिकार-युद्ध के समर्थक विद्वान् अपने प्रमाण की पुष्टि करते हैं—

> पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं
> भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।
> जितमिव परितोषान् मातरं साश्रुनेत्रां
> हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः॥

'पिता की मृत्यु के पश्चात् वंशलक्ष्मी चंचल हो गई। इसको अपनी भुजाओं के बल से फिर से प्रतिष्ठित किया। शत्रुओं का नाश कर यह अश्रुयुक्त अपनी माता के पास गया जिस प्रकार शत्रुओं का नाश करनेवाले कृष्ण अपनी माता देवकी के पास गये थे।' विद्वानों की यह धारणा है कि वंशलक्ष्मी को इस प्रकार चंचल करनेवाले गुप्तवंश के ही स्वजन थे जिन्होंने राज्यसिंहासन के लिए आपस में युद्ध किया था। इस गृहयुद्ध में स्कन्दगुप्त ही अपने प्रबल

पराक्रम के कारण विजयी हुआ। परन्तु डा० मजुमदार के प्रमाण कसौटी पर ठीक नहीं उतरते। स्कन्दगुप्त की माता के नाम के साथ 'महादेवी' शब्द न होने से यह सिद्धान्त नहीं निकाला जा सकता कि उसकी माता महारानी नहीं थी तथा वह सिंहासन का उचित अधिकारी नहीं था। इतिहास में ऐसे बहुत से प्रमाण मिलते हैं जहाँ एक महारानी का राजमहिषी होते हुए भी उसके नाम का उल्लेख तक उसके पति या पुत्र के लेखों में नहीं मिलता। यह विदित है कि नागकुल में उत्पन्न कुबेरनागा महाराज द्वितीय चन्द्रगुप्त की स्त्री थी। किन्तु इसके नाम के साथ महादेवी शब्द नहीं मिलता। इसका नाम केवल प्रभावती गुप्ता की पूना की प्रशस्ति में उल्लिखित है। छठी शताब्दी में कन्नौज पर राज्य करनेवाले महाराज हर्षवर्धन के बाँसखेड़ा* तथा मधुबन† के लेखों में उसकी माता यशोमती का नाम उल्लिखित नहीं है। अतः किसी राजा की माता के नाम की अनुपस्थिति में—राजमाता का कहीं नामोल्लेख न मिलने से—यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उस राजा की माता महादेवी नहीं थी अतः वह राज्य सिंहासन का अधिकारी नहीं माना जा सकता।

दूसरा भितरी के स्तम्भलेख में प्राप्त उपर्युक्त श्लोक का प्रमाण भी उनके मत की पुष्टि नहीं करता है। इस श्लोक के पौर्वापर्य पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्तों की वंशलक्ष्मी को नाश करनेवाले बाहरी शत्रु (पुष्यमित्र) थे, कोई राजघराने का पुरुष नहीं था। इन पुष्यमित्रों को स्कन्दगुप्त ने अपने पराक्रम से परास्त किया था तथा इन पराजित राजाओं की पीठ पर अपना बायाँ चरण रक्खा था‡। इसी लेख में हूणों के आक्रमण का भी वर्णन है। अतः स्कन्दगुप्त से युद्ध करनेवाले तथा राजलक्ष्मी को कुछ काल के लिए चञ्चल बना देनेवाले यही बाहरी शत्रु थे। गुप्तराज्य में गृहयुद्ध नहीं था। प्रथम कुमारगुप्त के पुत्रों में स्कन्दगुप्त ही सर्व-पराक्रमी तथा योग्य था, जो शासन की बागडोर को लेकर सुचारु रूप से कार्य चला सकता था। जूनागढ़वाली प्रशस्ति में वर्णित है :—

व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान् लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाञ्चकार।

इस कथन से ज्ञात होता है कि महाराज प्रथम कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् स्वयं राजलक्ष्मी ने स्कन्दको अपना पति वरण किया, इसके पास जाने का निश्चय किया। सब राजपुत्रों को छोड़कर राजश्री ने इसी को अपना स्वामी बनाया। स्कन्दगुप्त का एक सोने का सिक्का भी मिला है जिससे उपरियुक्त कथन की पुष्टि होती है। उस सिक्के में राजा तथा एक देवी का चित्र अंकित है जिसमें वह देवी राजा को कुछ दे रही है। विद्वानों की यह धारणा है कि यह सिक्का 'लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाञ्चकार' के भाव का द्योतक है तथा इस भाव का मूर्तिमान् स्वरूप है। स्कन्दगुप्त प्रपितामह सम्राट् समुद्रगुप्त की भाँति अपने पिता के द्वारा राजसिंहासन के लिए निर्वाचित नहीं किया गया था। स्कन्दगुप्त ने विदेशी शत्रुओं को हराया था अतः 'लक्ष्मी स्वयं यं वरयाञ्चकार'

---

* ए० इ० भाग ४ पृ० २०८।

† ए० इ० भा० ६

‡ क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः।—भितरी का स्तम्भलेख।

के कथन में कुछ भी सन्देह नहीं किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में इस योग्य तथा वीर पुरुष के अतिरिक्त राजसिंहासन के लिए अन्य कोई समुचित उत्तराधिकारी नहीं मिल सका*। फिर भी स्कन्दगुप्त तथा उसके भाई के बीच युद्ध का कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। उसी भितरीवाले लेख में स्कन्दगुप्त को 'अमलात्मा' कहा गया है जिससे उसके सरल, दयालु, द्वेषरहित तथा निर्मल चरित्र का परिचय मिलता है। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर डा० मजुमदार के दायाधिकार-युद्ध के मत को स्वीकार करना युक्तियुक्त तथा न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता।

स्कन्दगुप्त ने अपने पैतृक राज्य का संरक्षण करते हुए शत्रुओं के बढ़ते हुए बलप्रवाह को रोका। भितरी के लेख में स्कन्दगुप्त के लिए 'अवनीं विजित्य' का उल्लेख मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि इस गुप्त-नरेश ने अपने पितामह तथा प्रपितामह (द्वितीय चन्द्रगुप्त व समुद्रगुप्त) के सदृश कोई दिग्विजय किया होगा; परन्तु स्कन्दगुप्त की विजय-यात्रा का न तो कहीं वर्णन मिलता है और न इसका कहीं उल्लेख है। इसके भितरी तथा जूनागढ़ के लेख से प्रकट होता है कि इस पराक्रमी राजा ने हूणों को परास्त किया था†। इस युद्ध का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हूणों के विषय में कुछ परिचय दिया जाय।

हूण-विजय

हूण जाति मध्य-एशिया के मैदान तथा जंगलों में निवास करनेवाली एक जाति थी। इसके स्थान को चीन की एक जाति ने अपने वश में कर लिया अतएव हूण लोग अन्य स्थान की खोज में पश्चिम की तरफ बढ़े तथा वल्ख होते हुए इन्होंने ईरान पर अधिकार स्थापित कर लिया। वहाँ शासन करने से पूरब का मार्ग इनके लिए सरल हो गया और इन्होंने अपनी दृष्टि भारत पर डाली। इस हूण-जाति ने मार्ग में समस्त नगरों को नष्ट करते हुए भारत पर आक्रमण किया। तत्कालीन गुप्त शासक पर आक्रमण करने का बुरा परिणाम हूण लोगों को सहन करना पड़ा। स्कन्दगुप्त ने पिता के जीते जी पुष्यमित्रों को नष्ट कर अपने बल-पराक्रम का परिचय दिया था। सम्भवतः यह युद्ध उत्तर गंगा की घाटी में हुआ था‡।

---

*भारतीय नीतिशास्त्र में भी योग्य राजकुमार के लिए राजा होने का विधान है। 'न चैकपुत्रमविनीतं राज्ये स्थापयेत्'—अर्थशास्त्र १। ७७। विनीतमौरसं पुत्रं यौवराज्येऽभिषेचयेत्—कामंदक नीतिसार ६।७।

†हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता।—(भितरी का स्तम्भलेख)
रिपवोप्यामूलभग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छदेशेषु।
नरपतिभुजगानां मानदर्पोत्फणानाम्,
प्रतिकृतिगरुडाज्ञां निर्विषीं चावकर्त्ता॥—(जूनागढ़ का शिलालेख)

‡श्रोत्रेषु गंगाध्वनि—भितरी का स्तम्भ-लेख।

भितरी तथा जूनागढ़ के लेखों में स्कन्दगुप्त द्वारा हूणों के पराजय का वर्णन मिलता है। जूनागढ़ के लेख में म्लेच्छों का पराजय तथा गु० स० में तिथि १३६ या १३७ का उल्लेख मिलता है। अतएव भितरी के लेख में वर्णित हूणों के पराजय की तिथि इसी के समकालीन निश्चित की जा सकती है। सबसे प्रथम भारत पर हूणों के आक्रमण का वर्णन भितरी के लेख में मिलता है। इस आधार पर (जूनागढ़ का लेख) यह सुझाव रक्खा जा सकता है कि हूणों को स्कन्दगुप्त ने गु० स० १३६ यानी ई० ४५६ के लगभग परास्त किया होगा।

हूणों का पराजय-काल

इस हूण-विजय की पुष्टि लेखों के अतिरिक्त साहित्य द्वारा भी होती है। सोमदेवकृत कथासरित्सागर में उज्जयिनी के राजा महेन्द्रादित्य के पुत्र विक्रमादित्य के द्वारा म्लेच्छों (हूणों) के पराजय का वर्णन मिलता है। प्रथम कुमारगुप्त के सिक्कों से ज्ञात होता है कि 'महेन्द्रादित्य' उसकी सर्वप्रधान पदवी थी। उसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने भी विक्रमादित्य की पदवी धारण की थी जिसका उल्लेख सिक्कों तथा लेखों में मिलता है। अतएव कथासरित्सागर में वर्णित 'महेन्द्रादित्य' प्रथम कुमारगुप्त है तथा उसके पुत्र विक्रमादित्य स्कन्दगुप्त के लिए प्रयुक्त है*। अतएव लेखों में वर्णित हूणों के पराजय का समर्थन कथासरित्सागर से होता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि सर्वप्रथम हूणों ने ई० स० ४५६ के लगभग भारत पर आक्रमण किया। उस समय के गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त ने इनको परास्त कर शान्ति स्थापित की थी। स्कन्दगुप्त से पराजित होकर हूणों ने भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में शरण ली; जहाँ से वे पुनः भारत पर आक्रमण कर सकें। गुप्तों के उत्कर्ष काल का अन्तिम सम्राट् स्कन्दगुप्त था जिसके पश्चात् गुप्त-साम्राज्य की अवनति होने लगी। इसके पश्चात् कोई भी गुप्त राजा ऐसा बलशाली न हुआ जो शत्रुओं के प्रवाह को रोक सके। इस कारण स्कन्दगुप्त के पश्चात् हूणों ने पुनः अपना बल एकत्रित कर गुप्तराज्य के पश्चिमी प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। उन विवरणों से ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त की मृत्यु उपरान्त हूण लोगों ने पंजाब तथा मध्यभारत में अपना राज्य स्थापित कर लिया था तथा बहुत दिन तक वे शासन करते रहे। ई० स० ५१० में मध्यभारत में स्थित हूणों ने गुप्त सेनापति गोपराज को भी युद्ध में मार डाला‡।

हूणों का अधिकार-विस्तार

---

* डा० हार्नले का मत है कि कथासरित्सागर का विक्रमादित्य मालवा का राजा यशोवर्मन् है परन्तु जान अलन इसका खण्डन करते हैं और विक्रमादित्य की समता स्कन्दगुप्त से बतलाते हैं।—अलन—ब्रि० म्यू० कै० भूमिका पृ० ९९।

‡ एरण का स्तम्भ-लेख गु० स० १९१ (का० इ० इ० भा० ३ नं० २०)।

१४

भारत में हूणों के लेख* तथा सिक्के† मिले हैं जिनसे पंजाब से मध्यभारत तक उनकी स्थिति की पुष्टि होती है। सम्भवतः इनको ई० स० ५३३ के लगभग मालवा के राजा यशोधर्मन ने परास्त किया था।

यद्यपि गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त के जीवन-काल में बलवान् शत्रुओं (हूणों) का आक्रमण गुप्त-साम्राज्य पर हुआ था परन्तु इसका गुप्त प्रदेशों पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। शत्रुओं को इसके सम्मुख पीठ दिखानी पड़ी। स्कन्दगुप्त तथा उसके पिता प्रथम कुमारगुप्त के समय से ही युद्ध की वार्ता सुनने से यह संदेह उत्पन्न हो जाता है कि ये गुप्त नरेश समुद्रगुप्त व द्वितीय चन्द्रगुप्त द्वारा निर्मित साम्राज्य पर शासन करते रहे या नहीं। सम्भव था कि शत्रुओं के हाथ में कुछ प्रदेश चले जायँ। परन्तु यह संदेह निराधार है। स्कन्दगुप्त अपने पैतृक साम्राज्य पर सुचारु रूप से शासन करता रहा और समस्त प्रदेश—उत्तरी भारत, मध्यप्रदेश, मालवा तथा गुजरात—गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित थे। इस गुप्त नरेश के लेख‡ तथा सिक्के() इन प्रांतों में मिले हैं जिससे स्कन्दगुप्त के राज्य की अखण्डता का परिचय मिलता है।

राज्य-विस्तार व प्रतिनिधि

स्कन्दगुप्त ने अपने साम्राज्य के भिन्न भागों में अपना प्रतिनिधि स्थापित किया जो उसका शासन-प्रबन्ध करते थे[]। सौराष्ट्र में पर्णदत्त तथा अंतरवेदि में सर्वनाग प्रतिनिधि के रूप में शासक थे§। इस प्रकार स्कन्दगुप्त का विस्तृत राज्य सम्पन्न और सुचारु रूप से सुशासित था।

वीरता तथा पराक्रम

सम्राट् स्कन्दगुप्त अपने पितामह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा प्रपितामह समुद्रगुप्त के समान वीर तथा पराक्रमी था, इस कथन में कुछ भी अत्युक्ति नहीं है। स्कन्दगुप्त वीररस का मूर्तिमान् उदाहरण था। इन्हीं अलौकिक गुणों पर मुग्ध होकर राजलक्ष्मी ने इसे स्वयं वरण किया था। राजलक्ष्मी का यह वरण उचित ही था। जूनागढ़ की प्रशस्ति में लिखा है कि राजलक्ष्मी ने इसे निपुण

---

*एरण का शिलालेख (तोरमाण का) ग्वालियर का शिलालेख (मिहिरकुल का १५ वें वर्ष का) —(का० इ० इ० भा० ३ नं० ३६ व ३७)।

†हूणों के समस्त सिक्के दूसरों के अनुकरण में तैयार किये गये थे। यही इसकी विशेषता है। पंजाब में कुषाणों के समान सिक्के तथा मध्यभारत में गुप्तों के चाँदी के सिक्कों के सदृश हूण सिक्के मिले हैं जिनसे पंजाब से लेकर मध्यभारत तक उनका शासनाधिकार प्रकट होता है।

‡बिहार, भितरी व जूनागढ़ (सौराष्ट्र) का लेख आदि।

()काठियावाड़ तथा मध्यप्रदेश के सिक्के (देखिए सिक्कों का वर्णन)।

[]सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तॄन्, संचिंतमायास बहु प्रकारम्।—जूनागढ़ का लेख।

§सर्वेषु भृत्येष्वपि संहतेषु यो मे प्रशिष्यान्निखिलान् सुराष्ट्रान्।
आम् ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्तो भारस्य तस्योद्वहने समर्थः।—जूनागढ़ का लेख।
विषयपति सर्वनागस्य अन्तर्व्वेद्यां भोगाभिवृद्धये वर्त्तमाने।—इन्दौर ताम्रपत्र।

समझकर, इसके गुण-दोष का विचार कर इसे वृत किया*। यौवराज्यकाल में ही स्कन्द ने अपनी वीरता का परिचय दिया था। इसी काल में गुप्तराजलक्ष्मी को चंचल कर देनेवाले दुष्ट पुष्यमित्रों को हराकर इसने उनके सिर पर अपना पैर रक्खा था तथा सारी रात ज़मीन पर सोकर बिताई थी।

विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन

क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।

समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा,

क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः† ॥

इस प्रकार अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् विप्लुत राजलक्ष्मी की राजा ने फिर से प्रतिष्ठा की। यह पुष्यमित्रों को परास्त कर ही सन्तुष्ट नहीं हुआ परन्तु इसकी विश्वविजयिनी भुजाओं ने भयंकर तथा प्रचण्ड हूणों को भी अपनी तलवार का शिकार बनाया था। प्रबल विजेता हूणों से ऐसी गहरी मुठभेड़ हुई कि इसकी भुजाओं के प्रताप से समस्त पृथिवी काँपने लगी‡। अन्त में हूणों को समराङ्गण में पछाड़कर इसने अपनी वीरता का पुनः परिचय दिया। यह विजय-कार्य विजयी स्कन्दगुप्त के ही योग्य था। पिता की दुःखदायिनी मृत्यु के पश्चात् एक नहीं दो-दो प्रचण्ड तथा बलशाली शत्रुओं से राज्य की रक्षा करना तथा विप्लुत राजलक्ष्मी की पुनः प्रतिष्ठा करना सचमुच ही अद्भुत वीरता का कार्य है। यही नहीं, इसका बाल्यावस्था से लेकर समस्त पवित्र तथा शुक्ल चरित्र सन्तुष्ट मनुष्यों के द्वारा समस्त दिशाओं में गाया जाने लगा()। सचमुच ही स्कन्दगुप्त की कीर्ति सर्वत्र व्यापिनी थी। स्कन्दगुप्त के इन्हीं उपरियुक्त वीरता-पूर्ण कार्यों के कारण उसे 'भुजबल से प्रसिद्ध तथा गुप्त-वंश का एक वीर, कहा गया है[]। स्कन्दगुप्त को इसी कारण 'विक्रमादित्य' तथा 'क्रमादित्य' की उपाधि भी मिली थी|।

इसका यश विपुल था$। स्कन्दगुप्त में वीरता के अतिरिक्त अन्य भी अलौकिक गुण

---

* क्रमेण बुद्ध्या निपुणं प्रधार्य, ध्यात्वा च कृत्स्नान्गुणदोषहेतून्।
व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान्, लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाञ्चकार ॥

† भितरी का लेख।

‡ हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता।—भितरी का स्तम्भ-लेख।

() चरितममलकीर्तेर्गीयते यस्य शुभ्रं, दिशि दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः।—भितरी का लेख।

[] जगति भुजबलाढ्यो(ढ्यो) गुप्तवंशैकवीरः, प्रथितविपुलधामा नामतः स्कन्दगुप्तः॥—भितरी का लेख।

| विनयबलसुनीतैर्विक्रमेण क्रमेण।—वही।

$ पितृपरिगतपादपद्मवर्त्ती, प्रथितयशाः पृथिवीपतिः सुतोऽयम्।—वही।

थे। इसीलिये 'अमलात्मा' कहा गया है। यह सज्जनों के चरित्र का रक्षक था|। इसके पास विनय, बल तथा सुनीति‡ थी। इसके हृदय में करुणा तथा दया की नदी बहती थी। यह आतुर तथा दुःखी मनुष्यों पर दया करता था§। इसके शासन-काल में कोई विधर्मी, आर्त, दरिद्र, व्यसनी तथा कुत्सित पुरुष प्रजाओं में नहीं था()। यह भक्त था, प्रजा में अनुराग करता था, विशुद्ध बुद्धिवाला था तथा समस्त लोक के कल्याण में लगा रहता था[]। इसके व्यक्तित्व का वर्णन जूनागढ़ की प्रशस्ति में निम्न प्रकार किया गया है—

स्यात्कोनुरूपो मतिवान्विनीतः,
मेधास्मृतिभ्यामनपेतभावः।
सत्यार्ज्जवौदार्यनयोपपन्नो,
माधुर्य्यदाक्षिण्ययशोन्वितश्च ॥

इस वर्णन से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि सम्राट् स्कन्दगुप्त में केवल वीरता तथा पराक्रम ही नहीं था बल्कि मनुष्य को उन्नति की चोटी पर पहुँचानेवाले दया, धर्म, विनय, आर्जव, औदार्य आदि जितने गुण थे जिन्हें इसके शरीर में आश्रय मिला था। सम्राट स्कन्दगुप्त के इन्हीं सब प्रजापालिक तथा अलौकिक गुणों पर मुग्ध होकर म्लेच्छ देश में रहनेवाले तथा 'आमूलभग्नदर्प' इसके शत्रु भी इसकी प्रशंसा करते थे+। जूनागढ़ की प्रशस्ति में स्कन्दगुप्त का चरित्र वर्णन निम्न तरह से दिया गया है :—

तदनु जयति शश्वत्श्रीपरिक्षिप्त वक्षाः,
स्वभुजजनितवीर्य्यः राजराजाधिराजः।
नरपतिभुजगानां मानदर्पोत्फणानां,
प्रतिकृति गरुडाज्ञां निर्व्विषीं चावकर्त्ता ॥
नृपतिगुणनिकेतः स्कन्दगुप्तः पृथुश्रीः,
चतुरुदधिजलान्तां स्फीतपर्य्यन्तदेशाम्।
अवनिमवनतारिर्यश्चकारात्मसंस्थां,
पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्म्यशक्त्या ॥

| सुचरितचरितानां येन वृत्तेन वृत्तम्, न विहतममलात्मा तानधीदा (?) विनीतः।—वही।

‡ विनयबलसुनीतैः।—वहीं।

§ बाहुभ्यामवनों विजित्य हि जितेष्वार्तेषु कृत्वा दयाम्।—वही।

() तस्मिन्नृपे शासति नैव कश्चित्, धर्मादपेतो मनुजः प्रजासु। आर्त्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्य्यो दंड्यो न वा यो भृशपीडितः स्यात् ॥—जूनागढ का शिलालेख।

[] भक्ताऽनुरक्तो नृविशेषयुक्तः सर्वोपधाभिश्च विशेषबुद्धिः आनृण्यभावोपगतान्तरात्मा, सर्वस्य लोकस्य हिते प्रवृत्तः।—वही।

+ प्रथयन्ति यशांसि यस्य, रिपवोप्यामूलभग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छदेशेषु।—वही।

नोत्सिक्तो न च विस्मितः प्रतिदिनं संवर्द्धमानद्युतिः
गीतैश्च स्तुतिभिश्च वन्दकजनो यं प्रापयत्यार्य्यताम् ।

अपने पिता के सदृश स्कन्दगुप्त का चित्त भी सदा लौकिक उपकारिता में लग्न रहता था। इसने प्रजा के हित (समृद्धि के लिए) बहुत सा कार्य किया जो उसके प्रजा उपकार के सबल प्रमाण हैं। इसने पराक्रमी विदेशी शत्रुओं को परास्त कर प्रजा की रक्षा की तथा प्रदेशों पर शासन करने के लिए अपना प्रतिनिधि स्थापित किया था। इसके प्रान्तों में स्थापित प्रतिनिधि भी परोपकारिता के कार्य में सर्वदा लगे रहते थे। ऐसा ही एक प्रान्तीय प्रतिनिधि पर्णदत्त नामक पुरुष था जिसे सम्राट् स्कन्दगुप्त ने सौराष्ट्र में शासन करने के लिए नियुक्त किया था। इस पर्णदत्त ने एक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक सुदर्शन नामक कासार की मरम्मत कराई। इस प्राचीन कासार का पूर्वेतिहास कुछ कम मनोरञ्जक नहीं है। ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री पुष्यगुप्त ने इस सुप्रसिद्ध कासार का निर्माण किया था। तत्पश्चात् सुराष्ट्र में स्थित सम्राट् अशोक के यवन प्रतिनिधि 'तुषास्फ' ने भी इस जलाशय से जनता के उपकारार्थ नहर निकाली थी। सन् १५० ई० में महाक्षत्रप रुद्रदामन् ने अपनी निजी सम्पत्ति द्वारा इस कासार का जीर्णोद्धार कराया तथा दोनों किनारों पर बांध बँधवाया था*।

सुदर्शन कासार का जीर्णोद्धार

स्कन्दगुप्त के समय में भी इस लोकोपकारक सुदर्शन कासार की दुर्गति हो गई थी†। इसके जल से सिंचाई का काम होता था। अतः इससे मनुष्यों को पहले जितनी सहायता पहुँचती थी अब उतना ही कष्ट होने लगा। ग्रीष्म ऋतु में यह जलरहित हो जाता था जिससे जनता को जल मिलना कठिन हो गया था‡। लौकिक उपकारिता में संलग्न राजा स्कन्दगुप्त से प्रजा का यह कष्ट नहीं देखा गया। अतः बहुत सा धन व्यय करके इसने पुनः इसका जीर्णोद्धार करवाया। इस कासार के निर्माण का वर्णन स्कन्दगुप्त की जूनागढ़वाली प्रशस्ति में बड़ी ही ललित भाषा में दिया गया है। इसी सुदर्शन जलाशय के तट पर स्कन्दगुप्त के नियुक्त शासक चक्रपालित ने विष्णु भगवान् के मन्दिर का निर्माण किया था। इस जलाशय के निर्माण से प्रजा के लिए सम्राट् समुद्रगुप्त की सुख-कामना का पूर्ण परिचय मिलता है।

लोकोपकारिता के गुणों के साथ ही साथ स्कन्दगुप्त में धार्मिक सहिष्णुता का भाव भी

* मौर्य्यस्य राज्ञः चन्द्रगुप्तस्य राष्ट्रियेण वैश्तेन पुष्यगुप्तेन कारितमशोकमौर्य्यस्य कृते वनराजेन तुषास्फेनाधिष्ठाय.........स्वमात् शात् महता धनौघेनातिमहता च कालेन त्रिगुणदृढतरविस्तारायामं सेतुं विधाय सर्वतटे।—रुद्रदामन् की गिरनार की प्रशस्ति।

† जयीहलोके सकलं सुदर्शनं पुमान् हि दुर्दर्शनतां गतं क्षणात्।—जूनागढ़ का लेख।

‡ अथ क्रमेणाम्बुदकाल आगते, निदाघकालं प्रविदार्य तोयदैः।
ववर्ष तोयं बहुसंततं चिरं सुदर्शनं येन बिभेद चात्वरात्॥—वही।

पूर्ण मात्रा में विद्यमान था। अपने पूर्वजों की भाँति यह भी वैष्णवधर्मानुयायी था। इसने अपने पिता की स्मृति में भितरी (ज़िला ग़ाज़ीपुर यू० पी०) में भगवान् शार्ङ्गिण (विष्णु) की प्रतिमा स्थापित करवाई* थी। इसके शिलालेखों में 'परमभागवतो महाराजाधिराज-श्री स्कन्दगुप्तः' ऐसा उल्लेख मिलता है† जो उपर्युक्त कथन की पुष्टि कर रहा है। स्कन्दगुप्त के सुराष्ट्र के प्रतिनिधि चक्रपालित ने सुदर्शनकासार के तट पर विष्णु भगवान् की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की थी जिससे उसके स्वामी (स्कन्दगुप्त) के भी वैष्णवधर्मावलम्बी होने का प्रमाण मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्तरवेदी के विषयपति सर्वनाग की सीमा में सूर्य भगवान् के दीपक-निमित्त दान का वर्णन मिलता है‡। इस दीपक के व्यय के लिए राणायनीय शाखा वाले एक ब्राह्मण ने क्षत्रियवीर चलवर्मा तथा भ्रकुटिसिंह के द्वारा स्थापित मन्दिर में अग्रहार दान में दिया था जिसका प्रबन्ध इन्द्रपुर के तैलकार संघ के अधीन था। इस संघ का यह कर्तव्य था कि इस अग्रहार दान के लाभ को सूर्य भगवान् के दीपक के लिए व्यय किया करे()।

धार्मिक सहिष्णुता

वैष्णव धर्म के साथ ही साथ स्कन्दगुप्त के राज्य में दूसरे धर्म का भी प्रचार था तथा उसकी प्रजा उस धर्म का स्वतन्त्र रूप से पालन करती थी। स्कन्दगुप्त के शासनकाल में कहौम (ज़िला गोरखपुर) में मद्र नामधारी किसी पुरुष ने आदिकर्तृन् की मूर्ति की स्थापना की थी[]। भगवान्लाल इन्द्रजी का कथन है कि आदिकर्तृन् से जैनधर्म के पाँच तीर्थंकरों (आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर) का बोध होता है। अतएव आदिकर्तृन् की मूर्ति की स्थापना से स्पष्ट पता चलता है कि मद्र जैनधर्मावलम्बी था। जब राजा के हृदय में ही किसी अन्य के प्रति राग द्वेष नहीं है तो फिर उसकी प्रजा उसका अनुकरण क्यों न करे? मद्र के हृदय में ब्राह्मण, गुरु, संन्यासी (यति) आदि के प्रति श्रद्धा का भाव विद्यमान था तथा वह इनके प्रति आदर प्रकट करता था|।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त के शासनकाल में विष्णु, भगवान् सूर्य तथा जैन तीर्थंकरों की भी पूजा होती थी। किसी को किसी अन्य धर्म के प्रति द्वेष

---

*कर्तव्या प्रतिमा काचित् प्रतिमां तस्य शार्ङ्गिणः।

†बिहार का शिलालेख (१२)।

‡इन्दौर का ताम्रपत्र।—का० इ० इ० नं० १६।

()राणायनीयो वर्षगणसगोत्रइन्द्रापुरकविणग्भ्याम् क्षत्रियाचलवर्म्मभ्रुकुंठसिंहाभ्याम-धिस्थानस्य प्राच्यां दिशीन्द्रपुरांधिष्ठानमाडास्यातलग्नमेव प्रतिष्ठापितकभगवते सवित्रे दीपोपयोज्यमास्मयशोभिवृद्धये मूल्यं प्रयच्छति। इन्द्रपुरनिवासिन्यास्तैलिकश्रेण्याः...। —इन्दौर का ताम्रपत्र। का० इ० इ० नं० १६।

[]पुण्यस्कन्धं स चक्रे जगदिदमखिलं संसरद्वीक्ष्य भीतो,
श्रेयोऽर्थं भूतभूत्यै पथि नियमवतामर्हतामादिकर्तृन्।

| मद्रस्तस्यात्मजोऽभूत् द्विजगुरुयतिषु प्रायशः प्रीतिमान्यः।
—कोहम का शिलालेख। का० इ० इ० नं० १५।

नहीं था। इन विभिन्न धर्मों के एकत्र प्रचार तथा वृद्धि से महाराजा स्कन्दगुप्त की धार्मिक सहिष्णुता तथा विशालहृदयता का पूर्ण परिचय मिलता है।

उपसंहार

सम्राट् स्कन्दगुप्त एक वीर योद्धा तथा पराक्रमी विजेता था। इसका प्रताप सूर्य इसकी यौवराज्यावस्था में ही उग्र रूप से चमकने लगा था। प्रतिभा की नाईं प्रताप भी काल की प्रतीक्षा नहीं करता। अपने प्रबल पराक्रम तथा वर्द्धमान प्रताप से यह शीघ्र ही वीराग्रणी बन गया था। सम्राट् स्कन्दगुप्त केवल नाम ही से 'स्कन्द' नहीं था परन्तु इसने अपने अलौकिक कार्यों से भी 'स्कन्द' (स्वामी कार्तिकेय) की समानता प्राप्त की थी। यह 'स्कन्द' की भाँति जन्मना सेनानी था। रणाङ्गण में उतरकर मतवाली शत्रु-सेनाओं का क्षण में नाश करना तथा अपनी असंख्य सेना का संचालन करना इस जन्मतः सेनानी का ही काम था। इसमें समुद्रगुप्त के प्रताप तथा पराक्रम की छाया जान पड़ती है।

इस प्रकार से स्कन्दगुप्त ने राज्य की रक्षा की तथा राज्यलक्ष्मी को स्थिर किया। गुप्तवंश के इतिहास में स्कन्दगुप्त का स्थान महत्त्वपूर्ण है। साम्राज्य-काल के गुप्तों में यह अन्तिम नरेश था। इसके बाद ही गुप्त-साम्राज्य की अवनति प्रारम्भ होती है। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपने पराक्रम से जिस गुप्त-साम्राज्य की स्थापना की थी अक्षुण्ण रीति से अब तक स्थिर रहा। जिस राजलक्ष्मी की समुद्रगुप्त ने प्रतिष्ठा की थी वह स्कन्दगुप्त तक स्थिर रह सकी। परन्तु इसके बाद के राजाओं में इतना बल नहीं था कि वे शत्रुओं के आक्रमण को रोक सकते। वे निर्बल थे अतः शत्रुओं ने आक्रमण कर गुप्त-साम्राज्य को क्षीण कर दिया। कहने का तात्पर्य है कि स्कन्दगुप्त ही के बाद गुप्त-साम्राज्य की अवनति प्रारम्भ होती है। यही अन्तिम सम्राट् था जिसमें गुप्त-साम्राज्य को स्थिर रखने की क्षमता थी।

———

अवनति-काल

उपक्रम

सम्राट् स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य का कौन उत्तराधिकारी हुआ इस विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। यह कहा गया है कि प्रथम कुमार गुप्त के अंतिम वर्ष अशांतिमय थे और पुष्यमित्र नामक जाति ने आक्रमण किया था। उस संकट को टालने में स्कन्दगुप्त ने प्रशंसनीय कार्य किया। उसको शक्तिशाली भुजाओं ने हूण आदि विदेशी जातियों को हरा कर राज्य में शांति स्थापित की। स्कन्द के सिक्के तथा लेख इस घटना की पुष्टि करते हैं। सन् ४६७ ई० में स्कन्दगुप्त की मृत्यु हो गई और पुत्रहीन होने के कारण गुप्त साम्राज्य का शासन उसके भ्राता पुरु गुप्त* के हाथों में आ गया। पुरु के वंशज तथा बाद में बुद्ध-गुप्त आदि नरेशों ने शासन किया। किन्तु इनका क्रम अभी तक निश्चित न हो सका है। निम्नलिखित वंशवृक्ष से उनका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।
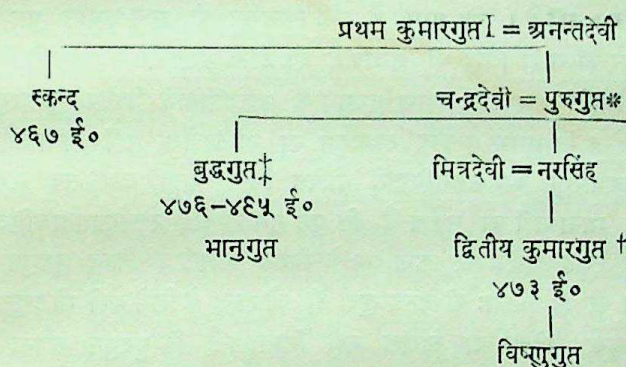
इसके देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सन् ४६७–४७५ ई० तक पुरु, नरसिंह तथा कुमारगुप्त ने राज्य किये जिसके पश्चात् बुद्धगुप्त गद्दी पर आया।

प्रथम कुमारगुप्त के मृत्यु-पश्चात् गुप्त शासकों का कैसा क्रम था, यह विषय अभी तक अंतिम रूप से निर्णय न हो पाया है। विद्वानों ने पृथक्-पृथक् तीन मत व्यक्त किये हैं।

(१) स्कन्दगुप्त ही प्रथम कुमारगुप्त का वास्तविक उत्तराधिकारी था। पुरुगुप्त का नाम जो भितरी मुद्रा में उल्लिखित है, वह स्कन्द से भिन्न राजा नहीं है। स्कन्द का दूसरा नाम पुरु था।

(२) स्कन्द तथा पुरु दोनों भाई थे। इसलिये गद्दी के लिये झगड़ा खड़ा हो गया जिसमें विजय लक्ष्मी स्कन्द के हाथों लगी। पुरु को थोड़ा पूर्वी बंगाल का भाग दे दिया गया। यानी साम्राज्य का बँटवारा हुआ।

---

* भितरीमुद्रा (जे० ए० एस० बी० भा० ५८)

† सारनाथ का बुद्धप्रतिमा लेख १५४ गु० स० (आ० स० इ० ए० रि० १९१४–१५ पृ० १२४ (वही)।

‡ वही लेख १५७ गु० स०।

(३) स्कन्दगुप्त के मृत्यु पश्चात् पुरु राजसिंहासन पर बैठा यद्यपि वह अत्यन्त वृद्ध हो गया था। उसी के वंशज स्कन्द के बाद राज्य करते रहे।

पहले मत के अनुसार स्कन्दगुप्त का दूसरा नाम पुरु था। इस मत की पुष्टि में यह कहा जाता है कि विहार शिलालेख* में स्कन्दगुप्त कुमारगुप्त का उत्तराधिकारी (तत्पादानुद्ध्यात:†) कहा गया है और वही वाक्य पुरुगुप्त के लिये भी प्रयुक्त मिलता है‡। ऐसी परिस्थिति में यह कैसे माना जा सकता है कि प्रथम कुमार के बाद दो उत्तराधिकारी एक साथ शासन करने लगे। यदि स्कन्द और पुरु एक ही व्यक्ति मान लिये जायँ तो संदेह मिट जाता है। दूसरा प्रमाण सिक्का का भी उपस्थित किया गया है। अब तक जिस सिक्का पर अलन ने पुरु पढ़ा था() उस मुद्रालेख को श्री चक्रवर्ती ने बुध पढ़ा है[]। इस नये लेख को अन्य विद्वानों का भी समर्थन प्राप्त है। परन्तु तत्पादानुद्धयात् के उल्लेख के आधार पर स्कन्द और पुरु को एक ही व्यक्ति मानना युक्तिसंगत नहीं है। यह सम्भव है कि स्कन्दगुप्त की मृत्यु-पश्चात् पुरु थोड़े समय के लिये गद्दी पर आया हो। यह भी सम्भव है कि दोनों भ्राताओं में पहले से ही राज-सिंहासन के लिये मनोमालिन्य था, इस कारण पुरुगुप्त के उत्तराधिकारी द्वितीय कुमारगुप्त ने अपने भितरी के मुद्रालेख में समझ-बुझकर स्कन्दगुप्त का नामोल्लेख नहीं किया और पुरु को ही सीधा प्रथम कुमारगुप्त का उत्तराधिकारी घोषित किया था। जहाँ तक सिक्का का सम्बन्ध है यह कदापि माना नहीं जा सकता है कि पुरु गुप्त ने कोई स्वर्णमुद्रा प्रचलित नहीं किया। स्कन्दगुप्त की स्वर्ण मुद्राओं पर क्रमादित्य के विरुद्ध मिलती है किन्तु पुरुगुप्त के जो सिक्के कहे जाते हैं उन पर श्री विक्रमः की विरुद्ध खुदी है, जो स्कन्द के लिये कहीं भी प्रयुक्त नहीं मिलती। अतएव सम्पूर्ण विवेचन का सारांश यही निकलता है कि पुरुगुप्त अपना पृथक् अस्तित्व रखता था। इस प्रसंग में यह कहना उचित होगा कि यदि स्कन्द का दूसरा नाम पुरु था (जिसका प्रयोग सिक्के पर किया गया) तो इस तरह का प्रयोग गुप्तवंश में कहीं भी नहीं पाया जाता। द्वितीय चन्द्रगुप्त का भी देवराज नाम लेखों में मिला है किन्तु सिक्के पर उसका उल्लेख नहीं मिलता।

---

* फ्लीट गुप्तलेख पृ० ४९ महाराजाधिराज कुमार गुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुद्धयातः महाराजाधिराज स्कन्दगुप्तः।

† लेखों में उल्लिखित तत्पादानुद्धयात् का प्रयोग शासक के बाद उत्तराधिकारी के लिये किया गया है।

‡ जे० ए० एस० बी० भा० ५८ ख० १ पृ० ८९–महाराजाधिराज कुमार गुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुद्धयातो महादेव्यामनन्त देव्या मुत्पन्नो महाराजाधिराज श्री पुरुगुप्तः।

() ब्रि० म्यू० के० (गु० वं०) फलक २१,२३।

[] इ० क० भा० १ पृ० ६९२।

कुछ विद्वानों ने यह व्यक्त किया है कि प्रथम कुमारगुप्त के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य दो भागों में विभक्त कर दिया गया। दो शाखायें निम्नप्रकार बतलाई जाती हैं—

पहली शाखा	दूसरी शाखा
[१] स्कन्द गुप्त	[१] पुरुगुप्त
[२] द्वितीय कुमार गुप्त (सारनाथ लेख गु० स० १५४)*	[२] नरसिंह गुप्त
	[३] तृतीय कुमारगुप्त‖
[३] बुधगुप्त (सारनाथ लेख गु० स० १५७† एरण का लेख‡ दामोदर पुर का ताम्रपत्र[])	[४] विष्णुगुप्त ×
	[५] वैन्यगुप्त +
[४] भानु गुप्त (एरण का लेख() तथा पाँचवा दामोदर पुर ताम्रपत्र§)	

श्री बसाक के इस नतीजे पर पहुँचने का कारण यह है कि स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ वाले लेख में वर्णन आता है कि राज्यलक्ष्मी ने सभी पुत्रों को छोड़कर स्कन्द को ही अपना वर (पति) चुना ÷। इसका अर्थ यह समझा जाता है कि स्कन्दगुप्त ही सबसे योग्य व्यक्ति था, और गुप्त-साम्राज्य का वास्तविक सम्राट् वही घोषित किया गया। स्कन्दगुप्त ने पुरुगुप्त को राज्य का पूर्वी भाग (दक्षिणी विहार) देकर राज्य करने तथा सिक्के प्रचलन का भी अधिकार दे दिया था। किन्तु राज्य के बँटवारे का सिद्धान्त मानने में अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। यदि बुध गुप्त के सभी लेखों✦ पर ध्यान दिया जाय तो पता लगता है कि वह मालवा से उत्तरी बंगाल तक शासन

* आ० स० इ० वा० रि० १९१४-१५ पृ० १२४

† वही।

‡ फ्लीट गुप्तलेख नं० १६ पृ० ९०

() ए० इ० भा० १५ पृ० ११५

[] फ्लीट गुप्तलेख नं० २० पृ० ९३

‖ ए० इ० भा० १५ पृ० ११५

§ भितरी मुद्रालेख।

× नालंदा मुद्रालेख।

+ ग्रनैघर ताम्रपत्र।

÷ व्यपेत्य सर्व्वान्मनुजेन्द्र पुत्रां, लक्ष्मीः स्वयं य वरयांचकार (फ्लीट—गुप्त लेख पृ० ५८)

✦ सारनाथ का लेख उत्तर प्रदेश।
एरण का लेख मध्यभारत।
नालंदा मुद्रालेख—दक्षिणी विहार।
दामोदर पुर ताम्रपत्र—उत्तरी बंगाल।

करता रहा। उसके लेख में "परम दैवत परमभट्टारक महाराजाधिराज" की पदवी मिलती है जो उसके चक्रवर्ती सम्राट् होने का द्योतक है। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव नहीं है कि चार पीढ़ियों तक लगातार दो समानान्तर राज्य शासित होते रहे। बुधगुप्त के चक्रवर्ती राजा होने पर कमजोर राजशाखा की स्थिति दक्षिणी बिहार में सम्भव नहीं प्रकट होती जब कि दूसरी शाखा विरोधी मानी जा चुकी थी। नालंदा में नरसिंह के मंदिर तैयार करने का वर्णन मिलता है। नरसिंह के पुत्र कुमारगुप्त की मुद्रा सारनाथ (काशी) के समीप भितरी नामक स्थान से मिली है। कोई ऐसा सबल प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया है जिससे सारनाथ प्रतिमा लेख [गु० स० १५४] के कुमारगुप्त और भितरी मुद्रा के कुमारगुप्त को पृथक् व्यक्ति माना जाय। श्री बसाक स्कन्दगुप्त, सारनाथ लेखवाले कुमारगुप्त तथा बुधगुप्त में कोई नजदीकी सम्बन्ध भी निश्चित न कर सके हैं। इस परिस्थिति में प्रथम कुमारगुप्त के बाद गुप्तराज के बँटवारे का सिद्धान्त अमान्य हो जाता है।

सबसे अधिक स्वीकृत मत यह रहा है कि प्रथम कुमारगुप्त के पश्चात् स्कन्दगुप्त गद्दी पर बैठा। वह संतानहीन राजा था, इसलिये उसके मृत्यु-पश्चात् छोटे भाई पुरुगुप्त को राजसिंहासन मिला। उसके बाद पुरु के उत्तराधिकारी—नरसिंह और द्वितीय कुमारगुप्त राज्य करते रहे। सम्भवतः इन तीनों का शासनकाल थोड़े दिनों तक रहा। स्कन्दगुप्त की मृत्यु सन् ४६७ ई० में हुई थी और बुधगुप्त ४७६ ई० से ४९५ ई० तक राज्य करता रहा। इसलिये पुरु से द्वितीय कुमारगुप्त तक का शासन इस थोड़े से काल में (४६७-४७६ ई०) सीमित हो जाता है। इस मत के मानने में भी कुछ कठिनाई सामने आती है। जैसा कहा गया है कि तत्पादानुद्ध्यात पद का विशेष महत्त्व था और वास्तविक उत्तराधिकारी के लिये ही गुप्त लेखों में इसका प्रयोग मिलता है। बिहार लेख में स्कन्दगुप्त के लिये तत्पादानुद्ध्यात् का पाठ भ्रमात्मक है। मजूमदार फ्लीट के पाठ को असत्य मानते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह मान लिया गया है कि स्कन्दगुप्त के लिये किसी भी लेख में 'तत्पादानुद्ध्यात' पद का प्रयोग नहीं मिलता। स्यात् वह गुप्त सिंहासन का वास्तविक अधिकारी न था। पुरुगुप्त ही प्रथम कुमारगुप्त का नियमानुसार उत्तराधिकारी था। जिसके लिये भितरी मुद्रा में उस पद का प्रयोग मिलता है। दूसरी कठिनाई यह है कि लेखों में स्कन्दगुप्त की माता का नाम उल्लिखित नहीं है और इसके विपरीत पुरु गुप्त की माता अनन्त देवी महादेवी कही गई है। इसका तो अर्थ यह होता है कि स्कन्द की माता महादेवी (वास्तविक रानी) नहीं थी। वह किसी अन्य स्त्री के गर्भ से पैदा हुआ था। इस कारणों से स्कन्द प्रथम कुमारगुप्त का कानूनी उत्तराधिकारी नहीं माना जा सकता। जो कुछ भी वास्तविक तथ्य हो पर यह मानना उचित होगा कि स्कन्द ने पुरु के पहले शासन किया। स्यात् उसे गद्दी झगड़े के फलस्वरूप मिल गई हो जिससे पुरुगुप्त को पृथक् रहना पड़ा।

स्कन्दगुप्त के मृत्यु काल तक पुरु अत्यन्त वृद्ध हो गया था और कुछ महीने राज्य करने के बाद ही मर गया हो। उसका पुत्र नरसिंह भी कुछ ही वर्ष शासन करने के बाद स्वर्गलोक सिधारा। उसी के बाद द्वितीय कुमारगुप्त ने राज्यभार सँभाला हो जिसकी तिथि (गु० स० १५४) सारनाथ के लेख से हमें ज्ञात है। इसे मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि यह ४७५ ई० तक शासन करता रहा उसके बाद ही ४७६ ई० में बुधगुप्त गुप्तसाम्राज्य का स्वामी बन

बैठा। यह कहना सम्भव नहीं है कि बुधगुप्त द्वितीय कुमार के मृत्यु-पश्चात् ही गद्दी पर आया। कुछ विद्वान् यह मानने लगे हैं कि ४७५ ई० के आस-पास बुधगुप्त की प्रधानता के कारण अथवा संकट कालीन स्थिति की वजह से द्वितीय कुमारगुप्त को पूर्वी बंगाल में अपना शासन सीमित करना पड़ा और मालवा से उत्तरी बंगाल बुधगुप्त के अधिकारी में आ गया। सारनाथ तथा भितरी के लेखों से मध्यदेश में द्वितीय कुमारगुप्त का शासन प्रमाणित होता है किन्तु उसका सिक्का केवल कालीघाट ढेर (पूर्वी बंगाल) में ही पाया गया है। सिक्कों के परीक्षण से प्रकट होता है कि वे सभी पूर्वी बंगाल में ही प्रचलित रहे तथा कालीघाट ढेर में पाये भी गये हैं। यदि यह मान लिया जाय कि बुधगुप्त ने द्वितीय कुमारगुप्त से अधिकांश राज्य लेकर शासन आरम्भ किया और कुमारगुप्त पूर्वी भाग में ही राज्य करता रहा तो समस्या का हल निकल जाता है। यह कहना कदापि सत्य न होगा कि द्वितीय कुमार गद्दी से उतार दिया गया क्योंकि उसके अनेक स्वर्ण-मुद्राएँ मिली हैं जो उसके शासन के द्योतक है। बुधगुप्त के लेखों तथा सिक्कों के आधार पर उसके राज्य की सीमा (मालवा से उत्तरी बंगाल) स्वतः सिद्ध है। उसकी तिथि (४७६-४९५ ई०) भी निश्चित ही है। अतएव यह मानना युक्ति-संगत होगा कि बुधगुप्त तथा द्वितीय कुमारगुप्त में ४७५ ई० के समीप शांतिपूर्ण समझौता हुआ जिसके कारण कुमारगुप्त का शासन पूर्वी बंगाल में सीमित हो गया। इसका दूसरा हल यह हो सकता है कि द्वितीय कुमार तथा उसका पुत्र विष्णु ई० सन् ४७६ तक शासन समाप्त कर चुके थे तब बुधगुप्त ने शासन की बागडोर अपने हाथों में ली। इस परिस्थिति में नव वर्षों के अन्दर (४६७-४७६ ई०) पुरु से लेकर विष्णुगुप्त का शासन काल स्थिर करना पड़ेगा।

इस प्रकार के शासन परिवर्तन का कारण यह हो सकता है कि हूण जाति के आक्रमण का पुरुगुप्त के उत्तराधिकारी सामना न कर सके हों, इसलिये बुधगुप्त के हाथों में शासन आ गया। इसे ऐसा भी कहा जा सकता है कि मालवा से उत्तरी बंगाल तक बुधगुप्त के अधीन कर दिया गया और द्वितीय कुमारगुप्त पूर्वी बंगाल में शासन करता रहा। उसका पुत्र विष्णु-गुप्त भी उस भाग का शासक रहा। यह भी माना जा सकता है कि बुधगुप्त के शासनकाल में विष्णुगुप्त पूर्वी बंगाल का शासक था। पूर्वी बंगाल में विष्णु गुप्त के बाद वैन्यगुप्त ने राज्य किया जिसका गुणैघर का लेख* (५०७ ई०) उसी भाग में मिला है। इसके सिक्के भी कालीघाट के सिक्के की तरह हैं। उनका तौल सुवर्णमाप के समान था तथा मिश्रित धातु के बने थे। कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त भद्दे हैं।

डा० राधाकुमुद मुकुर्जी ने वैन्यगुप्त तथा ह्वेनसांग के वज्र को एक ही व्यक्ति माना है और उसी कारण पुरुगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त को बुधगुप्त के बाद का शासक मानते हैं। किन्तु वेन तथा वज्र को इन्द्र का पर्यायवाची मानने से ऐतिहासिक तथ्य पर नहीं पहुँचा जा सकता।

सम्भव है कि बुधगुप्त का शासन ४९५ ई० में समाप्त हो गया हो जिसके पश्चात् भानुगुप्त राज्य करने लगा। इसका एक लेख एरण से प्राप्त हुआ है जिससे पता चलता है कि ५१० ई० में भानुगुप्त का सेनापति गोपराज हूणों से युद्ध करते समय मारा गया† था।

* इ० हि० क्वा० भा० ६ पृ० ५३।

† फ्लीट–गुप्तलेख पृ० ९२।

इसके अतिरिक्त दामोदर पुर ताम्रपत्र| से भी भानुगुप्त के शक्तिशाली राजा होने का आभास मिलता है। मालवा तथा मध्यभारत बुधगुप्त के बाद ही हूण लोगों के हाथों में चला गया था। जिस कथन की पुष्टि लेखों से की जाती है। बुधगुप्त के एरण वाले लेख* में जिस मातृविष्णु तथा धान्यविष्णु के गुप्तों के अधीन होने की चर्चा की गई है, वही व्यक्ति प्रायः ५०० ई० में तोरमाण के अधीन शासन करने लगे थे†। तोरमाण ने गुप्त चाँदी के सिक्कों की नकल पर अपनी मुद्रा तैयार कराई। बहुत सम्भव है कि ५१० ई० के समीप मगध से भानुगुप्त की सेना ने हूणों पर आक्रमण किया हो जिसमें गोपराज मारा गया था।

इस प्रकार क्रमशः गुप्त साम्राज्य की क्षति होती गई। स्कन्द के बाद कोई ऐसा गुप्त शासक न रहा जो सम्पूर्ण साम्राज्य पर अधिकार रख सका। मालवा तथा काठियावाड़ शीघ्र ही गुप्त शासन से पृथक हो गये। मध्यभारत (ग्वालियर का प्रदेश) हूणों ने ले लिया। अब पाँचवीं सदी के बाद मगध में गुप्त शासन सीमित हो गया। जहाँ पर पिछले गुप्त नरेश राज्य करते रहे। कुछ काल तक बघेलखंड का भाग गुप्तों के अधिकार में रहा जहाँ पर ५११ ई० के समीप परिव्राजक महाराज हस्तिन गुप्तों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। बेतूल (मध्यप्रदेश) ताम्रपत्र से (५१८ ई०) तथा खोह के ताम्रपत्र (५२८ ई०) से ज्ञात होता है कि हस्तिन का पुत्र संक्षोभ गुप्तों के आश्रित था‡। अतएव यह प्रकट होता है कि मगध के अतिरिक्त उन भागों (बघेलखण्ड तथा मध्यप्रदेश) पर भी गुप्त नरेशों का प्रभाव रहा।

(१) पुरुगुप्त§

जैसा कहा गया है कि प्रथम कुमारगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य के उत्तराधिकार का प्रश्न अभी तक विवादास्पद है। विद्वानों में मतभेद होने का कारण भी स्पष्ट है कि स्कन्दगुप्त की माता का नाम लेखों में नहीं मिलता। पुरुगुप्त की माया अनन्तदेवी महादेवी कही गई है और वही प्रथम कुमार गुप्त का कानूनी उत्तराधिकारी (तत्पादानुद्धयात) भी कहा गया है। इस परिस्थिति में यह कहा जा सकता है कि प्रथम कुमारगुप्त के पश्चात् पुरुगुप्त ही गद्दी पर आया किन्तु हूण आदि विदेशी जातियों के आक्रमण के समय पुरुगुप्त पूरी तरह से राज्य का संरक्षण न कर सका। स्कन्दगुप्त उन युद्धों में अपने बाहु बल का परिचय दे चुका था इसलिये उसी ने

| ए० इ० भा० १५ पृ० १४२।

*फ्लीट गुप्त लेख पृ० ८९।

†वही पृ० १५९ (महाराजाधिराज श्री तोरमाणे प्रशासति)।

‡फ्लीट-गुप्त लेख पृ० ११४ (गुप्त नृप राज्य भुक्तौ)।

§विद्वानों में इस राजा के नाम के विषय में मतभेद रहा है। अनेक पश्चिमी विद्वानों ने भितरी लेख में पुर पढ़ा है। (जे० ए० एस० बी० भा० ५५ तथा इ० ए० भा० १९ पृ० २१०) नालंदा से प्राप्त मुद्रा में इस राजा का नाम पूरु पढ़ा गया है (ए० इ० भा० २६ पृ० २३५) एक दूसरे मुद्रा में उसका नाम पुरु पढ़ा जाता है (मे० आर० स० इ० भा० ६६ पृ० ६४) अधिकतर पुरु शब्द को ही मान्यता दी गई है। जिसका पालन यहाँ किया गया है।

पुरुगुप्त को हटाकर गुप्त शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली। इस सिद्धान्त के विरोध में यह उल्लेखनीय है कि गु० स० १३६ प्रथम कुमारगुप्त की अन्तिम तिथि मानी जाती है और स्कन्दगुप्त ने इसी वर्ष (४५५ ई = १३६ गु० स०) में राज्य-शासन सम्भाला। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि कुमारगुप्त के निधन वर्ष में ही स्कन्दगुप्त गद्दी पर आया। यदि स्कन्द तथा पुरुगुप्त में शासन के लिये झगड़ा खड़ा होता तो स्कन्दगुप्त के लिये उसी वर्ष (ई० स० ४५५) सिंहासन पर बैठना सम्भव नहीं था। अतएव स्कन्दगुप्त से पूर्व पुरुगुप्त की राजसत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। सारांश यह है कि प्रथम कुमारगुप्त के बाद स्कन्दगुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ। उसकी मृत्यु ई० स० ४६७ में हुई जब पुरुगुप्त को राज्य मिला। स्कन्द संतानहीन था अतएव शासन का भार पुरुगुप्त के हाथों चला आया।

भीतरी मुद्रा में पुरुगुप्त की वंशावली मिलती है* जिससे पता चलता है कि पुरुगुप्त प्रथम कुमारगुप्त का पुत्र था और उसका जन्म महादेवी अनन्तदेवी के गर्भ से हुआ था। इस प्रकार वह स्कन्दगुप्त का भाई ठहरता है परन्तु वह सहोदर भ्राता था या सौतेला, इसके विषय में कोई भी निश्चित प्रमाण अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

पुरुगुप्त का कोई स्वतंत्र लेख नहीं मिलता है परन्तु इसके पौत्र द्वितीय कुमारगुप्त की भीतरी राजमुद्रा में, (पूरे वंश-वृत्त में) इसका नाम मिलता है। सम्राट् स्कन्दगुप्त की मृत्यु

लेख तथा राज्यकाल

(ई० स० ४६७) के पश्चात् गुप्त-शासन-प्रबंध पुरुगुप्त के हाथ में आया। स्कन्दगुप्त के भाई होने के कारण ई० स० ४६७ तक पुरुगुप्त की युवावस्था समाप्त हो गई होगी। अतएव वृद्धा-वस्था में शासन की बागडोर पुरुगुप्त के हाथ लगी। यह बहुत सम्भव है कि राज्य-प्रबंध बहुत समय तक उसके हाथ में नहीं रह सका। पुरुगुप्त के पौत्र द्वितीय कुमारगुप्त का गु० स० १५४ का लेख सारनाथ में मिला है† जिससे पता चलता है कि द्वितीय कुमारगुप्त ई० स० ४७३ में शासन करता था। इसी आधार पर यह प्रकट होता है कि इसके (द्वितीय कुमारगुप्त) पिता नरसिंहगुप्त तथा पितामह पुरुगुप्त का शासन काल ई० स० ४६७ से लेकर ४७३ ई० पर्य्यन्त समाप्त हो गया होगा। राज्य प्रबन्ध लेते समय पुरुगुप्त की वृद्धावस्था थी अतएव यह अनुमान हो जाता है कि पुरुगुप्त का शासन बहुत ही लघु काल में समाप्त हुआ।

भीतरी की राजमुद्रा में पुरुगुप्त के लिए 'कुमारगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यात' यह पद प्रयुक्त मिलता है। इस लेख में कुमारगुप्त के पश्चात् स्कन्दगुप्त का उल्लेख नहीं मिलता।

---

* भीतरी का राजमुद्रा-लेख (जे० ए० एस० बी० भा० ५८ पृ० ९०) महाराजाधिराजकुमारगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्यां अनन्तदेव्यां उत्पन्नो महाराजाधिराजश्रीपुरुगुप्तस्य तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्रीवत्सदेव्यां उत्पन्नो महाराजाधिराजश्रीनरसिंहगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्रीमतीदेव्यां उत्पन्नो परमभागवतो महाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तः।

† आर० सर्वे० रिपोर्ट १९१४-१५।

इस कारण कुछ विद्वान अनुमान करते हैं कि प्रथम कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् पुरुगुप्त भी विशाल गुप्त-साम्राज्य के किसी प्रांत पर स्वतंत्र रूप से शासन करता था। परन्तु यह मत मानना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त के सिक्कों तथा लेखों से ज्ञात होता है कि वह सौराष्ट्र से बंगाल पर्य्यन्त समस्त गुप्त-सम्राट् पर स्वयं शासन करता था। अतः इस राज्य के अन्तर्गत किसी प्रतिस्पर्धी का शासन करना नितांत असम्भव प्रतीत होता है। अतः राजमुद्रा के लेख में पुरुगुप्त के नाम के साथ 'तत्पादानुध्यातो' विशेषण से तथा स्कन्दगुप्त के नाम की अनुपस्थिति में यह सिद्धान्त नहीं निकाला जा सकता कि पुरुगुप्त अपने भाई स्कन्दगुप्त का समकालीन प्रतिस्पर्धी राजा था। ऐसे बहुत से ऐतिहासिक स्थल हैं जहाँ पर शासकों के लेखों में अपने पूर्व-शासनकर्ता भाई का नाम नहीं मिलता। दक्षिण भारत में चालुक्य राजा पुलकेशी द्वितीय का नाम उसके भ्राता चालुक्य नरेश विष्णुवर्धन के लेखों में नहीं मिलता। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि विष्णुवर्धन से पहले द्वितीय पुलकेशी ने राज्य नहीं किया। बंगाल क पालवंशीय मनहली के लेख में पाल राजा मदनपाल के लिए 'श्रीरामापालदेवपादानुध्यातो' का उल्लेख मिलता है। परन्तु इसके पहले मदनपाल के जेठे भाई कुमारपाल ने शासन किया। पुरुगुप्त के लिए 'तत्पादानुध्यातो' पद के प्रयोग ने विद्वानों में मतभेद पैदा कर दिया था। परन्तु इससे पुरुगुप्त का प्रथम कुमारगुप्त के बाद शासन करना नहीं प्रकट होता। इस विवेचन से यही ज्ञात होता है कि पुरुगुप्त ने कुमारगुप्त के अनन्तर नहीं बल्कि अपने भाई स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त-सिंहासन को सुशोभित किया था।

स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य की अवनति प्रारम्भ हो गई थी। उसी अवस्था में पुरुगुप्त ने कुछ समय के लिए शासन किया। परमार्थ-कृत वसुबन्धु के जीवन वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि पुरुगुप्त बौद्धधर्मानुयायी था। उसने वसुबन्धु से बौद्धधर्म की शिक्षा ली थी। इन सब कारणों से पुरुगुप्त की प्रवृत्ति बौद्धधर्म की ओर प्रकट होती है। द्वितीय कुमारगुप्त की भीतरी राजमुद्रा में इस नरेश के लिए वैष्णवों की पदवी 'परमभागवत' नहीं मिलती जहाँ पर द्वितीय कुमारगुप्त के लिए उल्लिखित है।

(२) नरसिंह गुप्त

भीतरी राजमुद्रा के लेख से यह प्रकट होता है कि नरसिंह गुप्त पुरुगुप्त के बाद ही सिंहासन पर आया। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि पुरुगुप्त के पश्चात् सारनाथ लेख (गु० स० १५४ = ४७३ ई०) वाला कुमारगुप्त शासन करता रहा। यह कुमारगुप्त (द्वितीय) भीतरी मुद्रा तथा नालंदा मुद्रा के कुमारगुप्त से भिन्न है। पूर्व लेखवाले राजा को द्वितीय कुमारगुप्त तथा पिछले को तृतीय कुमारगुप्त के नाम से उल्लिखित किया गया है[†]। इस कारण पुरुगुप्त के

† दि० गुप्त इम्पायर पृ० १०७–११०।

डिक्लाइन आफ दि किंगडम आफ मगध पृ० ६४।

बाद द्वितीय कुमार गुप्त का शासन माना गया है। किन्तु यदि भितरी मुद्रा का अध्ययन किया जाय तो पता लगता है कि नरसिंह गुप्त के लिए 'तत्पादानुध्यात' पद का प्रयोग किया है‡। यह परिपाटी गुप्त प्रशस्तियों में सर्वत्र पायी जाती है कानूनी उत्तराधिकारी के लिये 'तत्पादानुध्यात' का प्रयोग किया जाता था। इसी आधार पर तो स्कन्द तथा पुरु का एकीकरण तथा प्रथम कुमारगुप्त के बाद उत्तराधिकार के झगड़े का सिद्धान्त खड़ा हुआ है। वह सिद्धान्त नरसिंह गुप्त के बारे में क्यों नहीं प्रयुक्त किया जाय। इसकी माता चन्द्रदेवी महादेवी कही गई है। सारनाथ के लेख (गु० स० १५४) में केवल कुमारगुप्त का नाम आया। उसके वंश के विषय में किसी को कुछ पता भी नहीं है। यदि उसे भीतरी मुद्रा के कुमारगुप्त से पृथक व्यक्ति माना जाय तो यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि कुमारगुप्त पुरुगुप्त का पुत्र था अथवा किसी प्रकार का सम्बन्ध रखता था। वास्तव में विवाद यह है कि सन् ४६७ (स्कन्दगुप्त की अंतिम तिथि) से लेकर ४७६ ई० (बुधगुप्त की प्रारम्भिक तिथि) यानी नव वर्षों में पुरु, नरसिंह तथा कुमारगुप्त (भीतरी राजमुद्रा वाले) का शासन किस तरह स्थिर किया जा सकता है। सारनाथ लेख कुमारगुप्त की तिथि ४७३ ई० निश्चित है। इस कारण पुरु के बाद कुमार (सारनाथ लेख वाला गु० स० १५४) का शासन डा० मुकुर्जी ने माना है। परन्तु भीतरी राजमुद्रा के परीक्षण से दूसरे मत के मानने में आपत्ति नहीं हो सकती कि पुरु के बाद नरसिंहगुप्त गद्दी पर आया। बहुत सम्भव है कि इसने अल्पकाल तक शासन किया और कुछ ही वर्षों बाद परलोक सिधारा।

पहले मत के माननेवाले पुरुगुप्त के बाद सारनाथ लेखवाले कुमारगुप्त और तत्पश्चात् बुधगुप्त का शासन क्रम स्थिर करते हैं। किन्तु इसकी पुष्टि में अकाट्य प्रमाण उपस्थित नहीं कर सके हैं। आर्यमंजुश्री मूलकल्प में वर्णित 'बाल', चीनयात्री ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित बालादित्य तथा परमार्थ कथित बालदित्य की एकता नरसिंह गुप्त से स्थिर करने* पर भी बुधगुप्त (ई० स० ४६५) के बाद इसका राज्य शासन नहीं माना जा सकता†।

इस स्थान पर यह कहना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि ह्वेनसांग कथित बालादित्य तथा नरसिंह गुप्त बालादित्य के वंशावली समानता नहीं है।

(१) नरसिंहगुप्त बालादित्य (भीतरी लेख) का वंश वृक्ष इस प्रकार है।

पुरुगुप्त
|
नरसिंहगुप्त बालादित्य
|
द्वितीयकुमारगुप्त क्रमादित्य
|
विष्णुगुप्त

‡ महाराजाधिराज श्री पुरुगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्री देव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराज श्री नरसिंह गुप्तः (भीतरी लेख)

* डिक्लाइन आफ दी किंगडम आफ मगध पृ० ८१-४

† प्रकटादित्य के सारनाथवाले लेख से प्रकट होता है कि मध्यदेश में अनेक बालादित्य नामधारी राजा शासन करते थे (गुप्तलेख नं० ७९ पृ० २८४)

(२) ह्वेनसांग के बालादित्य की बंशावली निम्न प्रकार हैं।

बुधगुप्त
|
तथागत
|
बालादित्य
|
वज्र

वज्र तथा वैन्यगुप्त का एकीकरण डा० मुकर्जी ने उपस्थित किया है। यदि वैन्यगुप्त गुनैघर प्रशस्ति का शासक माना जाय और बालादित्य को पुरु के पुत्र नरसिंहगुप्त से एकता स्थापित की जाय तो वैन्यगुप्त नरसिंहगुप्त का पुत्र होना चाहिये। परन्तु ऐसा सम्बन्ध किसी लेख में उल्लिखित नहीं है। वज्र तथा तृतीय कुमारगुप्त [?] को एक व्यक्ति मान लेना, ऐतिहासिक सत्य नहीं होगा।

पुरुगुप्त के मृत्यु-पश्चात् नरसिंहगुप्त ने शासन भार सम्भाला जिसका उल्लेख साहित्यिक ग्रंथों में भी मिलता है। वसुबन्धु के जीवनवृत्तान्त में वर्णित विक्रमादित्य की समता पुरुगुप्त से की जा सकती है जिसके पुत्र बालादित्य [नरसिंह] ने वसुबन्धु को अयोध्या में निमंत्रित किया था। नरसिंहगुप्त के मुद्रालेख में बालादित्य की पदवी उल्लिखित है। नरसिंहगुप्त का कोई लेख नहीं मिला है किन्तु वह द्वितीय कुमारगुप्त [सन् ४७३] ‡ से पहले अपनी जीवन लीला समाप्त कर चुका था। नरसिंहगुप्त के सिक्के सुवर्णमाप के अनुकूल मिश्रित धातु के मिले हैं। अवध तथा कालीघाट ढेर में इसकी स्वर्णमुद्रा मिली है। इससे प्रकट होता है कि यह अवध से बंगाल तक शासन करता रहा।

(३) द्वितीय कुमारगुप्त

द्वितीय कुमारगुप्त पुरुगुप्त वंश का तीसरा राजा था। इसके पिता का नाम नरसिंह गुप्त था। यह 'श्री देवी' के गर्भ से पैदा हुआ था। इसने अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त गुप्त-सिंहासन को सुशोभित किया। कुछ गुप्त सिक्के हैं जिन पर 'कु' लिखा हुआ है। इस पर उल्लिखित पदवी से पता लगता है कि द्वितीय कुमारगुप्त ने 'विक्रमादित्य' की पदवी धारण की थी।

पुरुगुप्त के वंशजों में द्वितीय कुमारगुप्त ही के लेख मिले हैं जिससे उसके विषय में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी ये लेख विशेष उल्लेखनीय हैं।

(१) भीतरी राजमुद्रा का लेख

यह लेख एक धातु की मुहर पर खुदा हुआ है तथा उत्तरप्रदेश में ग़ाज़ीपुर ज़िले के अन्तर्गत भीतरी नामक स्थान से प्राप्त हुआ था। इसमें तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। केवल

‡ आ० सर्वे० इ० रिपोर्ट १९१४–१५ पृ० १२४

इसमें पूरा वंशवृक्ष मिलता है। पुरु से लेकर कुमारगुप्त तक के नाम इससे मिले हैं। इस मुहर पर अंकित गरुड़ की मूर्ति से प्रकट होता है कि द्वितीय कुमारगुप्त वैष्णव धर्मानुयायी था*।

(२) सारनाथ का लेख

द्वितीय कुमारगुप्त का दूसरा लेख वाराणसी के समीप सारनाथ से प्राप्त हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह लेख महत्वपूर्ण है। इसकी तिथि गु० स० १५० से इसके वंश के शासन-काल का अनुमान किया जाता है। यह लेख बुद्ध-प्रतिमा के अधोभाग में खुदा हुआ है†।

(३) नालंदा की मुद्रा‡

इस मुद्रा लेख में कुमारगुप्त नरसिंहगुप्त का पुत्र कहा गया है।

भट्टशाली तथा बसाक सारनाथ लेख में उल्लिखित कुमारगुप्त तथा भीतरी की राजमुद्रा के कुमारगुप्त को दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। भट्टशाली नरसिंह गुप्त के पुत्र कुमारगुप्त को पाँचवी सदी के बाद का शासनकर्त्ता मानते हैं। सारनाथ लेख वाला कुमारगुप्त ई० स० ४७३ में शासन करता था। इस आधार पर भट्टशाली दोनों का एकीकरण नहीं मानते। इस परिणाम तक पहुँचने का कारण यह है कि भट्टशाली नरसिंह बालादित्य और ह्वेनसांग के बालादित्य को एक ही व्यक्ति मानते हैं। नरसिंह के चित्रण में यह दिखलाया गया है कि उपरियुक्त दोनों बालादित्य दो विभिन्न व्यक्ति थे, उनको एक नहीं माना जा सकता। अतः इसी आधार पर अवलम्बित भट्टशाली कथित कुमारगुप्त को एक भिन्न व्यक्ति मानना स्वीकार नहीं किया जा सकता। बसाक का कथन कुछ और ही है। उनके मतानुसार सारनाथ लेख में उल्लिखित कुमारगुप्त स्कन्दगुप्त के बाद ही राज्य का उत्तराधिकारी हो गया और उसके पश्चात् बुधगुप्त सिंहासन पर बैठा। इसके अनुसार गुप्त राज्य दो प्रतिस्पर्धी भागों में विभाजित हो गया था। पहले वंश में स्कन्द, कुमारगुप्त (सारनाथ लेख वाले) तथा बुधगुप्त को मानते हैं। भीतरी लेख में उल्लिखित पुरु, नरसिंह तथा कुमारगुप्त उनके प्रतिस्पर्धी थे। अतएव बसाक ने सारनाथ लेख वाले कुमारगुप्त को भीतरी की राजमुद्रा वाले कुमारगुप्त से भिन्न व्यक्ति माना है। गुप्त लेखों तथा मुद्राओं से कुछ पता नहीं चलता कि पाँचवी सदी में गुप्त राज्य दो भागों में बँट गया था। इसके विपरीत बुधगुप्त के लेखों से प्रमाणित होता है कि बंगाल से मालवा तक गुप्त राजा शासन करते थे। ऐसी परिस्थिति में गुप्त साम्राज्य के दो भाग तथा दो भिन्न-भिन्न कुमारगुप्त की स्थिति मानना युक्ति संगत न होगा। सारनाथ तथा भीतरी राजमुद्रा लेखों में उल्लिखित कुमारगुप्त एक ही व्यक्ति थे।

---

* जे० ए० एस० बी० १८८९ भा १ पृ० ८९।

† वर्षशते गुप्तानां चतुःपञ्चाशत उत्तरे भूमि रक्षति कुमारगुप्त मासे—(आ० स० रि० १९१४—१५ पृ० १२४)।

‡ मे० आ० स० इ० नं० ६६ पृ० ६।

द्वितीय कुमार गुप्त के सारनाथ लेख की तिथि गु० स० १५४ अंकित है। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वह गुप्त शासक ई० स० ४७३ में राज्य करता था। इसके उत्तराधिकारी बुधगुप्त का एक लेख सारनाथ प्रतिमा के अधोभाग पर खुदा है जिसमें गु० स० १५७ की तिथि मिलती है। इससे यह सिद्ध होता है कि द्वितीय कुमारगुप्त का शासन ई० स० ४७३ तथा ई० स० ४७७ के मध्य में समाप्त हुआ होगा। इस तिथि पर पहुँचने में मंदसोर के एक लेख से भी सहायता मिलती है जिसकी तिथि वि० स० ५२६ (४७२ ई०) है। उसी समय में सूर्य मंदिर का पुनरुद्धार हुआ था। उस लेख में वर्णन है कि संस्कार का काम कुमार गुप्त के शासन काल में समाप्त हुआ था। स्कन्दगुप्त की मृत्यु ई० स० ४६७ में हुई थी और बुधगुप्त का शासन ई० स० ४७७ में आरम्भ हुआ था। इसलिये इन तिथियों के मध्यकाल में तीन राजाओं—पुरु, नरसिंह तथा द्वितीय कुमार गुप्त ने शासन किया जो अवधि (दश वर्ष की) तीन राजाओं के लिए थोड़ी मालूम पड़ती है। परन्तु यह कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं है। सम्भवतः पुरु वृद्धावस्था में राज्य सिंहासन पर बैठा तथा उसके पुत्र नरसिंह की भी शासन-अवधि कम ही थी। स्यात् अपने वंश में द्वितीय कुमार गुप्त ने ही सबसे अधिक शासन किया हो।

राज्यकाल

अपने पूर्वजों की तरह द्वितीय कुमारगुप्त भी वैष्णवधर्मावलम्बी था जो राजमुद्रा पर अंकित गरुड़ की आकृति से स्पष्ट हो जाता है। गरुड़ विष्णु का वाहन माना जाता है। इतना ही नहीं, उस लेख में केवल द्वितीय कुमार गुप्त के लिये 'परमभागवत' की वैष्णव पदवी उल्लिखित है। मंदसोर के एक लेख से (जिसकी तिथि ५२६ मालव-सम्वत् में अंकित है) पता चलता है कि इस कुमारगुप्त के शासन काल में रेशम के जुलाहों की श्रेणी ने दशपुर के सूर्य-मंदिर का पुनरूद्धार कराया। मूलमंदिर तो प्रथम कुमार गुप्त (सन् ४३६ ई०) के शासन काल में बना था।

(४) बुधगुप्त

भीतरी की राजमुद्रा में उल्लिखित तीनों राजाओं का शासन स्वल्प ही रहा। द्वितीय कुमारगुप्त का राज्य सन् ४७५ ई० तक समाप्त हो गया था। इसके बाद गुप्त वंश में बुधगुप्त राजा हुआ जो सबसे शक्तिशाली तथा प्रतापी नरेश था। सारनाथ के एक लेख से विदित होता है कि गुप्त सम्वत् १५७ (ई० स० ४७६-७७) में यह नृपति राज कर रहा था। भीतरी वाली मुहर पर खुदे नाम वाले गुप्त राजाओं से बुधगुप्त का क्या सम्बन्ध था, यह कहना कठिन है। परन्तु ह्वेनसांग के कथनानुसार यह पुरुगुप्त का भाई था। ह्वेनसांग ने बुधगुप्त को शक्रादित्य का पुत्र लिखा है। शक्रादित्य में महेन्द्रादित्य के समान (महेन्द्र तथा शक्र पर्यायवाची होने के कारण) प्रथम कुमारगुप्त की विरुद्ध हो सकती है। सम्भव है यह प्रथम कुमारगुप्त का पुत्र और स्कन्द तथा पुरुगुप्त का भाई रहा हो। पिता के बाद तीन राजाओं के शासन पश्चात् बुधगुप्त का राज्यारोहण आश्चर्यजनक न समझना चाहिए क्योंकि इससे पूर्व के तीन राजाओं की शासन-अवधि तो कुल ८ वर्षों की थी। स्कन्द ने बारह वर्षों तक (४५५-४६७ ई०) शासन किया। इसलिये प्रथम कुमारगुप्त के बीस वर्ष बाद बुधगुप्त राज करने लगा। बुधगुप्त के लेख

तथा सिक्कों से यह प्रमाणित होता है कि वह दूरवर्ती प्रान्तों पर भी अपना शासन बनाए रहा और उसका राज्य विस्तार पूर्ववत् था। इस बात का निश्चित प्रमाण मिला है कि द्वितीय कुमारगुप्त के बाद उसका पुत्र विष्णुगुप्त सिंहासन पर बैठा था और महाराजाधिराज* की पदवी से विभूषित किया गया था। इसलिए यह अनुमान करना उचित न होगा कि कुमारगुप्त का राज्य ४७६ ई० में बुधगुप्त के सिंहासन पर आने पर समाप्त हो गया। सम्भवतः बुधगुप्त तथा द्वितीय कुमार से इस तरह का समझौता हो गया होगा कि बुधगुप्त को राज्य का अधिक भाग मिले, क्योंकि दोनों में वह अधिक शक्तिशाली था। कुमारगुप्त ने पूर्वी बंगाल में एक छोटे राज्य से संतोष कर लिया।

बुधगुप्त के राज्यकाल में उत्कीर्ण चार लेख अभी तक प्राप्त हुए हैं। एक स्तम्भ पर, दो ताम्रपत्र पर तथा चौथा भगवान बुद्ध की प्रतिमा के आधार शिला पर। ये लेख तिथियुक्त हैं।

(१) सारनाथ का लेख

यह लेख प्रतिमा के आधार शिला पर खुदा है। यह लेख यद्यपि छोटा है परन्तु बुधगुप्त की शासन तिथि पर प्रकाश डालता है। तिथि गु० स० १५७ मिलती है†।

(२) दामोदरपुर ताम्रपत्र

यह ताम्रपत्र उत्तरी बंगाल के दामोदरपुर नामक स्थान से मिला था‡। इससे गुप्त-शासन पर अधिक प्रकाश पड़ता है। इसमें विषयपति तथा सभासदों के नाम उल्लिखित हैं। गुप्त सम्वत् में इसकी तिथि १६३ अंकित है।

(३) पहाड़पुर का ताम्रपत्र

यह ताम्रपत्र उत्तरी बंगाल के राजशाही जिले के अन्तर्गत पहाड़पुर के प्रसिद्ध स्थान से मिला था। यह दामोदरपुर ताम्रपत्र के सदृश महत्त्वपूर्ण है। इसमें भूमि विक्रय का वर्णन मिलता है। इसकी तिथि गु० स० १५६ अंकित है। इस तिथि के आधार पर प्रकट होता है कि यह ताम्रपत्र बुधगुप्त के शासनकाल में तैयार किया गया होगा। ताम्रपत्र में शासक की पदवी 'परमभट्टारक' का उल्लेख मिलता है परन्तु राजा का नाम नहीं मिलता। इसके वर्णन से पता चलता है कि बुधगुप्त के शासन में किसी ब्राह्मण दम्पत्ति ने जैन विहार के लिए भूमि दान में दी थी।

(४) एरण का स्तम्भ लेख

यह स्तम्भ मध्यप्रदेश के सागर जिले के एरण नामक स्थान पर स्थित है। इससे बुधगुप्त के शासन की अनेक बातें ज्ञात होती हैं। इसमें राजा के प्रतिनिधि सुरश्मिचन्द्र के (यमुना

---

* परमभागवतो महाराजाधिराज श्री विष्णुगुप्तः—नालंदा की मुहर।

† गुप्तानां समतिक्रान्ते सप्त पञ्चाशत् उत्तरे शते समानां पृथ्वीं बुधगुप्ते प्रशासति (आ० स० रि० १९१४–१५)।

‡ ए० इ० भा० १५ नं० ४ पृ० ११३।

तथा नर्वदा के मध्यभाग में) शासन की बातें लिखी हैं। इस ध्वजस्तम्भ को बुधगुप्त के सामन्त मातृ विष्णु तथा धान्यविष्णु ने स्थापित किया था। इसकी तिथि गु० स० में १६५ अंकित है।

बुधगुप्त के समय के तीन लेखों में गुप्त सम्वत् का उल्लेख मिलता है। पहले लेख से (सारनाथ वाला गु० स० १५७) यह प्रकट होता है कि ई० स० ४७७ में बुधगुप्त शासन करता था। इस राजा की अंतिम तिथि उसके चांदी के सिक्कों से मिलती है। उन पर १७५ (ई० स० ४६५) अंकित मिला है। इसके अनुसार बुधगुप्त लगभग बीस वर्षों तक (ई० स० ४७७-४६५) शासन करता रहा। प्रथम कुमारगुप्त के पश्चात् बुधगुप्त ने ही स्कन्द या पुरु आदि से अधिक काल तक शासन किया था।

राज्यकाल

बुधगुप्त के राज्यविस्तार की जानकारी में लेख तथा सिक्कों से सहायता मिलती है। एरण वाले लेख से पता चलता है कि नर्वदा की घाटी तक बुधगुप्त का सामन्त सुरश्मिचन्द्र शासन करता रहा*। दामोदरपुर का ताम्रपत्र यह बतलाता है कि गु० स० १६३ (ई० स० ४८२) में इसका नायक पुन्ड्रवर्धन भुक्ति पर शासन करता था। गुप्तवंश के मध्यदेशीय चाँदी के सिक्कों के समान बुधगुप्त ने चाँदी का सिक्का निकाला जिससे उस प्रदेश (मध्यप्रदेश) पर बुधगुप्त का शासनाधिकार प्रकट होता है। अतः बुधगुप्त का राज्य-एरण, काशी दामोदरपुर यानी बंगाल से मध्यप्रदेश तक विस्तृत था।

राज्य-विस्तार

ह्वेनसांग के वर्णन से पता चलता है कि बुधगुप्त ने नालंदा में बौद्ध विहार की उन्नति की। परन्तु यह कहना कठिन है कि वह राजा किस मत का मानने वाला था। 'परमभागवत' की उपाधि भी बुधगुप्त के लिए नहीं मिलती हैं अतएव यह कहा जा सकता है कि बुद्धधर्म की ओर इसका स्नेह था। स्कन्दगुप्त के बाद बुधगुप्त ही गुप्तवंश का प्रभावशाली शासक हुआ। जिसका विस्तृत राज्य था। यद्यपि सौराष्ट्र बुधगुप्त के शासन से बाहर हो गया था तो भी इसका राज्य मध्यदेश तक फैला था।

इसमें सन्देह नहीं कि बुधगुप्त के शासन काल में गुप्त साम्राज्य की प्रतिष्ठा पुनः वापस आ गई। इसने सोने तथा चाँदी के सिक्के चलाया था। ब्रिटिश संग्रहालय में जिस सिक्के पर पुरु पढ़ा गया था वह अब 'बुध' माना गया है। १६१४ ई० में नये सिक्कों पर भी 'बुध' का ही नाम लिखा है, पुरु नहीं। बुधगुप्त के सभी सोने के सिक्कों पर 'श्रीविक्रमः' का विरुद पाया जाता है। इसने एक धनुर्धारी प्रकार का सिक्का निकाला। सबसे प्रधान बात यह है कि स्कन्द के पश्चात् बुधगुप्त ने ही रजत मुद्राएँ निकाली जो मध्यदेश शैली के हैं। प्रथम कुमारगुप्त के समान ही ये सिक्के हैं।

सिक्के

---

* कालिन्दी नर्वदयोर्मध्यं पालयति लोकपाल गुर्णेर्जगति। महाराज श्री यमुनभवति सुरश्मिचन्द्रे च (का० इ० इ० भा० ३ नं० १९)

† ए० इ० भा० १५ नं० ४ (उपरिक महाराज ब्रह्मदत्त-पुण्ड्रवर्धन का शासक)

५ विष्णुगुप्त

बुधगुप्त के पश्चात् गुप्त राज्य का कौन शासक हुआ यह वास्तविक रूप में ज्ञात नहीं है। नालंदा से प्राप्त एक मुहर से विष्णुगुप्त नामक व्यक्ति का पता चलता है जो कुमार गुप्त का पुत्र कहा गया है*। कुमारगुप्त निसंदेह द्वितीय कुमार गुप्त है जिसका लेख सारनाथ तथा भितरी से मिला है। अतः इसमें तनिक संदेह नहीं कि विष्णुगुप्त का सीधा सम्बन्ध पुरुगुप्त के वंश से था। डा० अलतेकर ने यह सुझाव रक्खा है कि विष्णुगुप्त अपने पिता (द्वितीय) कुमार गुप्त के पश्चात् पूर्वी बंगाल में शासन करता रहा जहाँ कालीघाट ढेर में उनकी स्वर्ण-मुद्रा में मिली हैं। इस ढेर के आधार पर यह कल्पना की जाती है कि द्वितीय कुमार गुप्त ने पूर्वी बंगाल में बुधगुप्त के सामंत के रूप में अधिक समय तक शासन किया जिसके बाद ही विष्णु गुप्त उत्तराधिकारी हुआ।

विष्णु का शासन-काल स्थिर करना कठिन है। यदि यह माना जाय की बुधगुप्त से पूर्व (यानी ई० स० ४७६ से) द्वितीय कुमार तथा विष्णु गुप्त का शासन समाप्त हो गया था तो विष्णु गुप्त की अंतिम तिथि ४७६ ई० से पूर्व ही निश्चित करनी पड़ेगी। यदि डा० अलतेकर का सुझाव माना जाय तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है। ई० स० ४७६ के समीप तक द्वितीय कुमार गुप्त पूर्वी बंगाल का शासक रहा और उसके बाद ही विष्णु गुप्त उस भाग में शासन करने लगा। इस कल्पना के अनुसार बुधगुप्त के समकालीन विष्णु गुप्त का शासन हो जाता है।

जैसा कहा गया है विष्णु गुप्त ने धनुर्धारी प्रकार के स्वर्णमुद्राएँ प्रचलित किया था जो तौल में १५१ ग्रेन तक हैं किन्तु आकार छोटा है। पुरोभाग में विष्णु तथा पृष्ठभाग में 'श्री चन्द्रादित्य' की विरूद खुदी है।

६ वैन्यगुप्त

ई० स० ४९५ में बुधगुप्त का शासन समाप्त हो गया। लेखों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि उसका राज्य किसी एक गुप्त शासक के हाथ में नहीं रहा। पूर्वी बंगाल के गुणैधर ताम्रपत्र से पता लगता है कि गु० स० १८८ (ई० स० ५०७) में वैन्यगुप्त शासन कर रहा था। एरण के शिलालेख से प्रकट होता है कि गु० स० १९१ (ई० स० ५१०) में भानुगुप्त मध्यप्रदेश में राज्य करता था। अतएव इस दोनों लेखों के आधार पर यह मत प्रकट करना यथार्थ होगा कि बुधगुप्त के मृत्यु पश्चात् मध्यभारत से पाटलिपुत्र तक भानुगुप्त राज्य कर रहा था और पूर्वी सीमा पर (पूर्वी बंगाल में) विष्णु गुप्त

---

* विष्णु गुप्त मंगरांव लेख में उल्लिखित विष्णु गुप्त से भिन्न व्यक्ति है। यद्यपि मंगरांव लेख की विषय में विवाद है किन्तु लिपि (कुटिल लिपि) के आधार पर उसकी तिथि छठीं सदी के बाद ही निश्चित की जानी चाहिये। पिछला विष्णु गुप्त सम्भवतः ७२३ ई० के समीप राज्य करता था। पूर्व विष्णु गुप्त का शासन ४८० ई० के समीप आरम्भ हुआ। एलन इनकी तिथि ई० स० ५४० के लगभग मानते हैं। ब्रि० म्यू० कै० गु० व० द० १४५

के बाद वैन्यगुप्त शासक हो गया था। नालंदा में भी वैन्यगुप्त की एक मुहर मिली है।* जिसमें उसके लिए महाराजधिराज की विरुद का उल्लेख मिलता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि दक्षिण पूर्वी बंगाल (पूर्वी पाकिस्तान) में बुधगुप्त का उत्तराधिकारी वैन्यगुप्त था। महा सामंत महाराज विजयसेन और रुद्रदत्त उसके अधीन होकर शासन करते थे।

गुणधर ताम्रपत्र

यह लेख एक ताम्रपत्र पर खुदा है जो बङ्गाल के कोमिल्ला जिले में स्थित गुनैघर नामक स्थान से प्राप्त हुआ है†। यह एक बड़ा लेख है जिसमें कुछ भूमि दान में देने का वर्णन मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि महाराजा वैन्यगुप्त ने बौद्ध विहार के लिए कन्तेड़दक ग्राम में कुछ भूमि दान में दी थी। इस लेख में इसके प्रतिनिधि महाराज रुद्रदत्त तथा विषयपति महा-सामन्त विजयसेन का नाम मिलता है। इस कारण यह लेख गुप्तों की शासन-प्रणाली पर विशेष रूप से प्रकाश डालता है। इस लेख में वैन्यगुप्त का नाम उल्लिखित है तथा इसकी तिथि गु० स० १८८ (ई० स० ५०७) है। यह लेख पूर्वी बङ्गाल में समतट प्रान्त से प्राप्त हुआ है जिसके राजा को समुद्रगुप्त ने परास्त किया था।

लेख

वैन्यगुप्त के तिथि युक्त लेख से (गु० स० १८८) प्रकट होता है कि वैन्यगुप्त ई० स० ५०७-८ में शासन करता था। बुधगुप्त के चाँदी के सिक्कों से उसकी अन्तिम तिथि गु० स० १७५ (ई० स० ४९४—५) ज्ञात है। अतएव वैन्यगुप्त का राज्य-काल बुधगुप्त के उत्तर-काल में होगा। सम्भवतः इसका शासन-काल ५०० ई० के कुछ पूर्व से आरम्भ होकर ई० स० ५०८ पर्यन्त रहा।

राज्य काल

गुप्तों के सोने के सिक्कों में तीन ऐसे सिक्के हैं‡ जिनकी बनावट गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा प्रथम कुमारगुप्त के सोने के धनुर्धारी सिक्कों के समान है। अभी तक इन सिक्कों पर चन्द्र पढ़ा जाता था। इस चन्द्र नामक राजा का पूरा नाम चन्द्रगुप्त मानते थे। इस कारण पाँचवी शताब्दी में शासन करनेवाले इस चन्द्रगुप्त नामधारी राजा को चन्द्रगुप्त तृतीय के नाम से पुकारते थे। सिक्कों में इसकी उपाधि 'द्वादशादित्य' मिलती है। परन्तु हाल ही में इस (चन्द्र) का पाठ अशुद्ध समझकर शुद्ध रीति से वैन्य पढ़ा गया है। इसलिए ये सिक्के चन्द्रगुप्त तृतीय के न मानकर वैन्यगुप्त द्वादशादित्य के माने गये हैं§।

चन्द्रगुप्त तृतीय ?

*मे० आ० स० इ० नं० ६६ पृ० ६७

†इ० हि० का० १९३० भा० ६ पृ० ४५।

‡का० इ० इ० भा० ३ नं० २०।

§एलन—गुप्तक्वायन प्लेट २३ नं० ६, ७ व ८।

φइ० हि० का० भा० ९ पृ० ७८५।

वैन्यगुप्त के गुनैघर लेख के अतिरिक्त उसके सिक्के भी ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ये सोने के सिक्के सुवर्ण तौल के हैं। इनकी बनावट तो उतनी अच्छी नहीं है जैसी कि प्रथम कुमारगुप्त से पूर्व सम्राटों में सिक्कों की थी। पुरोभाग में प्रभायुक्त राजा की मूर्ति है। आभूषण धारण किये राजा बायें हाथ में धनुष तथा दाहिने में बाण लिये है। राजा के एक ओर गरुड़स्तम्भ है और बायें हाथ से नीचे गुप्त लिपि में वैन्य लिखा है जो स्पष्ट नहीं है। पृष्ठ भाग में कमलासन पर बैठी लक्ष्मी की मूर्ति है। दाहिने हाथ में कमल है तथा बायाँ हाथ कमर पर अवलम्बित है। लक्ष्मी के शरीर में भिन्न आभूषण दिखलाई पड़ते हैं। बाईं ओर राजा की पदवी 'द्वादशादित्य' उल्लिखित है।

वैन्यगुप्त के सिक्के

वैन्यगुप्त के धर्म के विषय में कुछ बातें कही जा सकती हैं। गुप्तों की प्रधान पदवी 'परमभागवत' का प्रयोग उसके नालंदा की मुहर में मिलता है। गुणैघर लेख से ज्ञात होता है कि वैन्यगुप्त शैव था। वह विष्णु का भी पुजारी था। उस लेख के वर्णन से ज्ञात होता है कि वैन्यगुप्त ने बौद्ध विहार के लिए कुछ भूमि दान में दी थी। ये सब उदाहरण उसकी धार्मिक सहिष्णुता के द्योतक हैं। वैन्यगुप्त के सिक्के पर 'गरुड़ध्वज' मिलता है; अतएव सम्भवतः वह वैष्णवधर्मावलम्बी था।

धर्म

सबसे प्रथम गुणैघर के लेख में इस राजा का नाम मिला जिससे पता चलता है कि वैन्यगुप्त नामक भी कोई गुप्त नरेश था। इस लेख के पश्चात् विद्वानों ने तृतीय चन्द्रगुप्त के मुद्रालेख के पाठ को संशोधन करके इसे वैन्य पढ़ा है। वैन्यगुप्त एक प्रतापी नरेश ज्ञात होता है। पहले के गुप्त सम्राटों के सदृश इस राजा ने भी अपना प्रतिनिधि स्थापित किया जो गुप्तप्रांतों पर शासन करता था। किन्तु बसाक का मत है कि इन सब प्रमाणों के आधार पर वैन्यगुप्त को पूर्वी बंगाल (समतट) का शासक नहीं मान सकते*। लेख, मुहर तथा सिक्कों के आधार पर वैन्यगुप्त को गुप्त साम्राज्य का एक प्रतापी राजा मानना ही पड़ेगा।

परिचय

७ भानुगुप्त

गुप्त लेखों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि उत्तरी बंगाल से मध्य प्रदेश तक भानुगुप्त गुप्त-राज्य का उत्तराधिकारी था। इस गुप्त नरेश तथा वैन्यगुप्त से क्या सम्बन्ध था, इस विषय में अभी तक कोई ऐतिहासिक तथ्य का पता नहीं है। बालादित्य भानुगुप्त की उपाधि थी इसलिए चीनी यात्री ह्वेनसाँग के वर्णित बुधगुप्त के पौत्र बालादित्य तथा भानुगुप्त में समता का सुझाव रक्खा जा सकता है। ह्वेनसाँग का बालादित्य तथागत गुप्त का पुत्र कहा गया है अतएव यह अनुमान किया जाता है कि बुधगुप्त के पश्चात् उसके पुत्र तथागत गुप्त का शासन होगा। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि बालादित्य का पिता तथागत गुप्त कौन था? क्या

---

*बसाक-हिस्ट्री आफ् नार्दर्न ईस्टर्न इंडिया पृ० १८२।

यह कोई स्वतंत्र व्यक्ति था या गुप्त शासक ?* ह्वेनसाँग के वर्णन के अतिरिक्त उसके विषय में कोई ऐतिहासिक बात उपलब्ध नहीं है। उपर्युक्त विवेचनों के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि गुप्त नरेश भानुगुप्त (बालादित्य) वैन्यगुप्त के बाद गुप्त सिंहासन को सुशोभित किया। अथवा उसका समकालीन नरेश था। इसके कौटुम्बिक वृत्त के विषय में अधिक कुछ विश्वसनीय बातें नहीं कही जा सकतीं।

भानुगुप्त के दो लेख मिलते हैं जिनसे इसके शासन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। ये

लेख — लेख भानुगुप्त (बालादित्य) की सत्ता के द्योतक हैं। इसके लेखों में गुप्त संवत् में तिथि मिलती है।

(१) एरण का स्तम्भलेख

यह लेख जिला सागर जिला (मध्य-प्रदेश) के एरण नामक प्रसिद्ध स्थान से मिला है। यह एक छोटा सा लेख स्तम्भ पर खुदा है जिसकी तिथि गु० स० १९१ है।† इसके वर्णन से पता चलता है कि भानुगुप्त नामक राजा के साथ उसके सहकारी गोपराज ने एरण प्रांत में घनघोर युद्ध किया। इस लड़ाई में गोपराज मारा गया और उसकी स्त्री सती हो गई। भानुगुप्त व गोपराज के शत्रु सम्भवतः मध्यभारत के हूण शासक थे।

(२) दामोदरपुर ताम्रपत्र

गुप्त नरेशों के दामोदरपुर ताम्रपत्र के सदृश भानुगुप्त का भी एक ताम्रपत्र उसी स्थान से प्राप्त हुआ है। यह ताम्रपत्र उत्तरी बंगाल के दीनाजपुर जिले के अन्तर्गत दामोदरपुर ग्राम में मिला था‡। इस लेख से गुप्तों की शासन-प्रणाली पर प्रकाश पड़ता है। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि भानुगुप्त का, बंगाल का प्रतिनिधि, कोई राजपुत्र था। स्वयंभूदेव राजपुत्र के अधीनस्थ कोटिवर्ष का विषयपति था। विषयपति के सभासदों के नाम भी मिलते हैं। इस ताम्रपत्र में अयोध्या-निवासी अमृतदेव के द्वारा कुछ भूमि खरीदने का वर्णन मिलता है। लेख की तिथि गु० स० २२४ है। इसकी विचित्रता यह है कि इस लेख में गुप्तनरेश भानुगुप्त का पूरा नाम नहीं मिलता, परन्तु विद्वानों की यह धारणा है कि यह लेख भानुगुप्त का ही है।§

भानुगुप्त के इन लेखों के आधार पर उसकी शासन-अवधि का पता लगता है। गुनैघर

राज्य-काल — लेख से यह ज्ञात होता है कि वैन्यगुप्त गु० स० १८८ (ई० स० ५०७) में शासन कर रहा था¢। एरण के लेख की तिथि से प्रकट होता है कि भानुगुप्त गु० स० १९१ (५१० ई०) में राज्य करता था△।

---

*तथागत गुप्त तथा वैन्यगुप्त एक ही व्यक्ति थे यह सुझाव डा० सिनहा ने रक्खा है किन्तु धार्मिक कल्पना पर कोई ऐतिहासिक तथ्य स्थिर नहीं किया जा सकता। डिक्लाइन आफ किंगडम आफ मगध पृ० १००।

†का० इ० इ० भा० ३ नं० २०

‡ए० इ० भा० १५ पृ० १४१-४।

§ बेनर्जी—गुप्त लेक्चर पृ० ६१।

¢ इ० हि० क्वा० १९३०।

△ का० इ० इ० भा० ३ नं० २०।

इसकी अंतिम तिथि दामोदरपुर ताम्रपत्र से मिलती है जिसमें गु० स० २२४ का उल्लेख मिलता है।* अतएव यह मालूम पड़ता है कि भानुगुप्त गु० स० १९१-२२४ (ई० स० ५१०-५४४) तक राज्य करता रहा।

राज्य-विस्तार

यह तो पहले कहा जा चुका है कि गुप्तों के उत्कर्ष-काल के पश्चात् सौराष्ट्र तथा पश्चिमी मालवा गुप्त-साम्राज्य से हट गये थे। इसके अनन्तर सारे प्रदेशों पर बुधगुप्त शासन करता था। बुधगुप्त एक बलशाली राजा था जिसके बाद भी उन प्रदेशों पर गुप्त नरेश शासन करते रहे। गुप्त-नरेश भानुगुप्त के भी लेख एरण (मध्यप्रांत) तथा दामोदरपुर (उत्तरी बङ्गाल) में मिले हैं। अतएव यह ज्ञात होता है कि भानुगुप्त मध्यप्रदेश से बङ्गाल तक शासन करता था। इसका विस्तृत राज्य प्रतिनिधियों द्वारा शासित होता रहा।

गुप्तों तथा हूणों में संघर्ष

भानुगुप्त के राज्यकाल की सबसे विशेष घटना हूणों से युद्ध है। सबसे प्रथम हूणों ने उत्कर्ष-काल के अन्तिम सम्राट स्कन्दगुप्त के समय में गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किया था, परन्तु स्कन्दगुप्त ने उन्हें इतनी बुरी तरह पराजित किया कि हूणों को कुछ समय तक फिर आक्रमण करने का साहस न हो सका। एरण स्थान से दो लेख प्राप्त हुए हैं।† जिनके अध्ययन से स्पष्ट प्रकट होता है कि बुधगुप्त के पश्चात् एरण प्रान्त में हूणों का अधिकार हो गया था। बुधगुप्त के आश्रित शासक मातृविष्णु व उसके अनुज धन्यविष्णु ने ई० स० ४८५ के बाद हूणों के सरदार तोरमाण की अधीनता स्वीकार कर ली थी। मध्य भारत में इन हूण सर-सरदारों (तोरमाण व मिहिरकुल) के सिक्के‡ तथा लेख§ भी मिले हैं जिससे ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी के पूर्वभाग में हूणों का अधिकार मध्यभारत पर हो गया था।

इसी स्थान में स्थित हूणों के सरदार गुप्तों को निर्बल पाकर युद्ध करने पर उद्यत हुए थे। यद्यपि गुप्तों का प्रताप शनैः शनैः क्षीण हो रहा था तथा उनके प्रदेश हाथ से निकले जा रहे थे, तथापि इन विदेशी हूणों के सम्मुख गुप्त नरेशों ने सिर नहीं झुकाया। गुप्त नरेश बालादित्य (भानुगुप्त) ने हूणों को परास्त करने का सङ्कल्प किया। इस युद्ध की घटना को दो बातों से प्रमाणित कर सकते हैं। ह्वेनसाँग ने वर्णन किया है कि बालादित्य की सेना ने मिहिरकुल (हूण-सरदार) को कैद कर लिया परन्तु राजमाता की आज्ञा से उसे मुक्त करना पड़ा। इस कथन की पुष्टि गोपराज के एरणवाले लेख से होता है[¶]। इस लेख में हूणों के

* ए० इ० भा० १५ पृ० १४१।

† एरण का लेख (का० इ० इ० भा० ३ नं० १६) गु० स० १६५।
वही, नं० ३६।

‡ रैपसन इंडियन क्वायन प्लेट ४ नं० १६।

§ का० इ० इ० भा० ३ नं० ३६ व ३७।

¶ श्रीभानुगुप्तो जगति प्रवीरो राजा महान् पार्थसमोऽतिशूरः।
तेनाथ सार्धन्त्विह गोपराजो मित्रानु (गत्येन) किलानुयातः॥
(का० इ० इ० भा० ३ नं० २०)

युद्ध का उल्लेख मिलता है कि गोपराज ने गुप्तनरेश-भानुगुप्त (बालादित्य) के पक्ष में होकर ई० स० ५११ में हूणों से घोर युद्ध किया था। यद्यपि गोपराज मारा गया किन्तु विजयलक्ष्मी भानुगुप्त के हाथ लगी।

'बालादित्य' उपाधिधारी कौन गुप्त नरेश था, इसके विषय में गहरा मतभेद है। कुछ विद्वान् बालादित्य उपाधिधारी गुप्त राजा की समता पुरगुप्त के लड़के नरसिंह गुप्त से करते हैं; क्योंकि उनसे (नरसिंह गुप्त) भी बालादित्य की उपाधि धारण की थी। नरसिंह गुप्त के सोने के सिक्कों पर यह उपाधि उल्लिखित है। परन्तु हूणों के विजेता ह्वेनसाँग-वर्णित बालादित्य का समीकरण नरसिंह गुप्त से नहीं किया जा सकता। नरसिंह गुप्त ने अपने जीवन-काल में कभी हूणों का सामना नहीं किया और न कहीं उसका उल्लेख मिलता है। गुप्त-नरेश भानुगुप्त से हूणों के युद्ध का वर्णन ह्वेनसाँग के अतिरिक्त गोपराज के एरणवाले लेख में मिलता है। अतएव ह्वेनसाँग-वर्णित बालादित्य तथा भानुगुप्त को एक ही व्यक्ति मानना युक्तियुक्त होगा। बहुत सम्भव है कि भानुगुप्त की पदवी बालादित्य हो जिसका उल्लेख ह्वेनसाँग ने किया था।

'बालादित्य'

जिस समय गुप्त-नरेश भानुगुप्त (बालादित्य) शासन कर रहा था उसी समय मालवा में एक प्रतापी राजा यशोधर्मा का उदय हुआ। इसी यशोधर्मा के साथ मिलकर बालादित्य ने हूणों पर विजय प्राप्त की थी।

यशोधर्मा

यशोधर्मा मध्यभारत का एक प्रभावशाली राजा था। इसके अतुल वीर्य का वर्णन दो लेखों के सिवा और कहीं नहीं मिलता। इसके ये दोनों लेख मंदसोर से मिले हैं* जिनमें इसके विजय का वर्णन सुन्दर शब्दों में किया गया है। पहले मंदसोर के लेख में यशोधर्मा द्वारा हूण सरदार मिहिरकुल के पराजय का वर्णन है। इसकी तिथि ज्ञात नहीं है। परन्तु इसी का दूसरा लेख उसी मंदसोर स्थान से मिला है; जिसमें तिथि का उल्लेख मालव संवत् ५८९ (ई० स० ५३२) में उल्लिखित है।

लेख

लेखों के आधार-पर यह ज्ञात होता है कि यशोधर्मा ने सूदूर देशों तक अपनी विजय-पताका फहराई थी। जो देश गुप्तों के अधिकार में नहीं थे, उसको भी इसने जीता। इसमें अधिक अत्युक्ति है। कहा गया है कि इसने लौहित्र (ब्रह्मपुत्र नदी) से लेकर पूर्वी घाट तक तथा हिमालय से लेकर पश्चिमी घाट तक के समस्त राजाओं को परास्त किया था। यशोधर्मा का प्रताप इतना

यशोधर्मा का विजय

---

२. का० इ० इ० भा० ३ नं० ३३ व ३५।

१. यह लेख यशोधर्मा तथा विष्णुवर्धन के नाम से उल्लिखित है। यशोधर्मा तथा विष्णुवर्धन एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं।

बढ़ गया था कि हूणों के राजा मिहिरकुल ने उसके पैरों की पूजा की*। मध्यभारत के शासन-कर्त्ता यशोधर्मा के इस विजय का वर्णन और कहीं नहीं मिलता; इसलिए यह प्रकट होता है कि यशोधर्मा सम्बन्धी वर्णन ऐतिहासिक तथ्य से दूर था। इस विजय-यात्रा में संदेह का मुख्य कारण यह है कि सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने ऐसे प्रतापी नरेश का वर्णन नहीं किया है। जो हो, यह तो निश्चित है कि यशोधर्मा ने हूण सरदार मिहिरकुल को परास्त किया था। मंदसोर के दूसरे लेख की तिथि (विक्रम ५८९) के आधार पर यह पता चलता है कि हूणों को ई० स० ५३२ के लगभग परास्त होना पड़ा था।

मध्यभारत के हूण शासक

यह कहा जा चुका है कि स्कन्दगुप्त के पश्चात् पुनः हूणों ने छठीं सदी के मध्य में मध्यभारत पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। बुधगुप्त के आश्रित सामन्तों ने तोरमाण की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इन्हीं मध्यभारत के हूण-शासकों को भानुगुप्त ने यशोधर्मा के साथ पराजित किया था।

तोरमाण

भारत में शासन करनेवाले सबसे पहले हूण सरदार तोरमाण का नाम एरण के वराह-मूर्ति के लेख तथा पंजाब के कुरा लेख से मिलता है। उसके अनेक सिक्के भी मिलते हैं। हूण सिक्कों पर कोई नवीनता नहीं पाई जाती। ये हूण जिस देश के शासक हुए वहीं के ढङ्ग पर इन्होंने अपनी मुद्रा का निर्माण किया। अतएव विशिष्ट ढङ्ग के सिक्कों को देखने से स्पष्ट प्रकट होता है कि हूण उस विशेष प्रदेश पर शासन करते थे।

हूण राजा तोरमाण के राज्य-काल से परिचित होने के लिए उसके उपरियुक्त लेख तथा सिक्कों का अध्ययन करना परमावश्यक है। तोरमाण के दो प्रकार के सिक्के मिलते हैं—

(१) ससैनियन ढङ्ग के सिक्के

तोरमाण ने ससैनियन ढङ्ग के सिक्के फ़ारस के शासकों के अनुकरण पर तैयार किये। ये सिक्के पतले पतले पत्तर के बने होते थे। इन पर एक ओर रक्षक-युक्त अग्निकुण्ड का चित्र रहता है तथा दूसरी ओर ससैनियन ढङ्ग के ताज पहने राजा की मूर्त्ति अंकित रहती है। इसी ओर गुप्त लिपि में शाही जबुला† लिखा मिलता है।

---

* ये भुक्ता गुप्तनाथैर्न सकलवसुधाक्क्रांतिदृष्टप्रतापै
नाज्ञा हूणाधिपानां क्षितिपतिमुकुटाद्ध्यासिनी यान् प्रविष्टा।
आलौहित्योपकंठात्तलवनगहनोपत्यकादामहेन्द्रा-
दा गङ्गाश्लिष्टसानोस्तुहिनशिखरिणः पश्चिमादा पयोधेः
सामंतैर्यस्य बाहुद्रविणहृतमदैः पादयोरानमद्भि-
श्चूडारत्नांशुराजिव्यतिकरशबला भूमिभागाः क्रियन्ते।
चूडापुष्पोपहारैर्म्मिहिरकुलनृपेणार्चितं पादयुग्मम्।
—का० इ० इ० भा० ३ नं० ३३।

† कुरा के लेख से पता लगता है कि जबुल तोरमाण की पदवी है। इसलिए ये सिक्के राजा तोरमाण के माने जाते हैं।

(२) गुप्त मध्यभारतीय ढङ्ग के सिक्के

तोरमाण को चाँदी के सिक्के मिले हैं जो मध्यभारत में प्रचलित गुप्त चाँदी के सिक्कों के अनुकरण पर तैयार हुए थे। इन सिक्कों पर एक ओर पङ्ख फैलाये मोर की मूर्त्ति है, दूसरी ओर राजा के सिर का चित्र है तथा उसके चारों ओर 'विजितावनिरवनिपति श्री तोरमाण' लिखा रहता है*।

इन सिक्कों के प्रचलित प्रदेश में ही (एरण) तोरमाण का एक लेख मिला है† जिसमें तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि बुधगुप्त के आश्रित एरण प्रान्त के महाराजा मातृविष्णु व उसके अनुज धन्यविष्णु ने (ई० स० ४८५ के पश्चात्) तोरमाण की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इन सिक्को तथा लेख के आधार पर यह पता चलता है कि हूण सरदार तोरमाण का राज्य उत्तर-पश्चिम भारत से लेकर मध्यभारत तक विस्तृत था; परन्तु हूणों ने मध्यभारत को ही अपना केन्द्रस्थान बनाया था।

तोरमाण के पश्चात् उसके पुत्र‡ मिहिरकुल ने हूण राज्य पर शासन किया। यह भी अपने पिता के सदृश प्रतापी राजा था तथा भारत में हूणों का द्वितीय शासक समझा जाता है। ह्वेनसाँग के वर्णन से ज्ञात होता है कि इसकी राजधानी पंजाब में स्थित साकल (सियालकोट) नामक नगर था। मिहिरकुल के सिक्कों तथा लेख के प्राप्ति-स्थान से ज्ञात होता है कि इसका राज्य भी मध्यभारत तक विस्तृत था।

मिहिरकुल

मिहिरकुल के कुषाण ढंग के अनेक सिक्के मिलते हैं जो पंजाब में विशेष रूप से पाये जाते हैं। ये सिक्के आकार की वजह से तीन भिन्न श्रेणियों में विभाजित किये गये हैं। ये सिक्के बड़े, मध्यम तथा छोटे आकार के हैं। इन सिक्कों पर एक ओर नन्दि की मूर्ति मिलती है तथा उसके अधोभाग में 'जयतु वृष' लिखा मिलता है§। दूसरी ओर घोड़े पर सवार राजा की मूर्ति है तथा 'मिहिरकुल' या 'मिहिरकुल' लिखा मिला है॥।

मिहिरकुल के सिक्के तथा लेख

इसी हूण राजा मिहिरकुल का एक शिलालेख ग्वालियर में मिला है△। जिससे प्रकट होता है कि मिहिरकुल भी पंजाब से लेकर मध्यभारत तक शासन करता था। इस लेख की तिथि मिहिरकुल के राज्यकाल की १५वें वर्ष की है+। इन सिक्कों तथा लेख से मिहिरकुल

---

* रैपसन—इंडियन क्वायन प्लेट ४ नं० १६।

† का० इ० भा० ३ नं० ३६।

‡ श्रीतोरमाण इति यः प्रथितो भूचक्रपः प्रतभूगुणः × × तस्योदितकुलकीर्तेः पुत्रोतुलविक्रमः पतिः पृथिव्या मिहिरकुलेति ख्यातो भङ्गोयः पशुपतिं।—ग्वालियर का शिलालेख।

§ इंडियन म्यूजियम कैटलाग प्लेट २५।

॥ कनिंघम—लेटर इंडो सिथियन प्लेट ८, ९, १०।

△ का० इ० इ० भा० ३ नं० ३७।

+ तस्मिन् राजनि शासति पृथिवीं पृथुविमललोचनैंतिहरे अभिवर्धमानराज्ये पंचदशाब्दे नृप वृषष्या।—ग्वालियर का लेख।

के राज्य-विस्तार (पंजाब से मध्यभारत तक) तथा शासनकाल (पंद्रह वर्ष) का ज्ञात होता है।

हूण सिक्कों तथा लेखों के अध्ययन से पता लगता है कि भारत में शासन करनेवाले दो हूण राजा हुए—तोरमाण और उसका पुत्र मिहिरकुल। इन दोनों राजाओं ने कितने वर्षों तक राज्य किया, इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। एरण से प्राप्त दो लेखों (बुधगुप्त तथा तोरमरण) के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि ई० स० ४६५ के बाद मध्यभारत पर हूण राजा तोरमाण अवश्य शासन करता होगा। मिहिरकुल के ग्वालियर के शिलालेख से पता चलता है कि कम से कम उसने पंद्रह वर्ष तो निश्चय ही शासन किया और उसी से हूणों के शासन की अंतिम तिथि ई० स० ५१० ज्ञात होती है। इसी समय भानुगुप्त ने गोपराज के साथ एरण प्रदेश में हूणों से युद्ध किया था*। अतएव हूणों की मध्यभारत में शासन-अवधि ई० स० ४६५ से लेकर† ई० स० ५१० तक प्रकट हो जाती है।

हूणों की शासन-अवधि

गुप्तनरेश भानुगुप्त (बालादित्य) के एरण वाले लेख से प्रकट होता है कि मध्य भारात में हूणों को ई० स० ५१० में भानुगुप्त ने (गोपराज के साथ) पराजित किया। इस तिथि के पश्चात् मध्यभारत से हूण-अधिकार सदा के लिए समाप्त हो गया। एरण प्रांत में परास्त होकर हूण नरेश ने सियालकोट को अपनी राजधानी बनाया। उस प्रांत (पंजाब) में हूणों का शासन कुछ और वर्षों (ई० स० ५१२—५३२) तक रहा। सम्भवतः इसी प्रांत में इनका अंतिम पराजय हुआ, जिसका वर्णन यशोधर्मा के मंदसोर के लेख में मिलता है। मंदसोर के उस लेख की तिथि (विक्रम ५८६) से अनुमान किया जाता है कि ई० स० ५३२ के लगभग यशोधर्मा ने मिहिरकुल को परास्त किया था।

हूणों का भारत में अंतिम पराजय

यशोधर्मा ने अकेले या गुप्त नरेश भानुगुप्त (बालादित्य) के साथ मिहिरकुल को परास्त किया; इस विषय में मतभेद है। स्मिथ का कहना है कि यशोधर्मा और बालादित्य ने सम्मिलित रूप से हूणों को पराजित किया। फ्लीट अनुमान करते हैं कि दोनों ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर मिहिरकुल को परास्त किया—यशोधर्मा ने पश्चिम की ओर तथा बालादित्य ने मगध में। इन राजाओं की एकता के विषय में ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। बहुत सम्भव है कि बालादित्य ने ई० स० ५११ में हूणों पर विजय प्राप्त किया और यशोधर्मा ने ई० स० ५३२ में मिहिरकुल को पञ्जाब में परास्त किया हो। यह अनुमान करना युक्तिसंगत होगा कि हूणों के अन्तिम पराजय में गुप्तों ने यशोधर्मा की सहायता की।

भानुगुप्त (बालादित्य) एक कुशल शासक तथा वीर योद्धा था। उसकी दयालुता तथा उदारता का परिचय एक प्रशास्ति से मिलता है। वह लेख शाहाबाद जिले में स्थित

* का० इ० इ० भा० ३ नं० २०।

† यह तिथि बुध गुप्त के चांदी के सिक्कों के आधार पर निश्चित की जाती है। गु० स० १७५ = ई० ४६५ इसके बाद ही तोरमाण का राज्य माना जा सकता है।

१८

भानुगुप्त की उदारता

देव-बरनार्क स्थान से मिला है*। उसके वर्णन से ज्ञात होता है कि कुशली भुक्ति व बालवी विषय में स्थित किशोरवाटक नामक ग्राम को बालादित्य ने अग्रहार (दानस्वरूप) ब्राह्मणों को दिया था†। यह दान-पत्र छठीं शताब्दी के अन्तिम समय तक इसी अवस्था में था जब कि मगध के पाँचवें राजा दामोदर गुप्त को परास्त कर कन्नौज के मौखरि शासक राजा सर्ववर्मन् ने अपनी राजाज्ञा से पुनः प्रमाणित किया। कुछ काल यह स्थान उन मौखरियों के अधिकार में रहा फिर गुप्त नरेशों ने अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। अतएव देवबरनार्क लेख. के आधार पर यह ज्ञात होता है कि बालादित्य ने भी अग्रहार दान दिया था

गुप्तों के सामंत

यह कहा जा चुका है कि गुप्त नरेश भानुगुप्त ने ई० स० ५११ में हूणों पर विजय प्राप्त की, इस कारण मध्य भारत में पुनः हूण-अधिकार स्थापित न हो सका। इस समय से बहुत काल तक यह प्रान्त गुप्तों के अधिकार में था तथा उनके सामंत उन देशों पर शासन करते रहे। इन सामंतों के अनेक लेख मिलते हैं जिनसे उपरियुक्त कथन की पुष्टि होती है। ये लेख उच्चकल्प तथा परिव्राजक महाराजाओं के हैं जिनमें तिथि का उल्लेख गुप्त संवत् में सर्वत्र मिलता है। इनमें 'गुप्तनृपराज्यभुक्तौ श्रीमति प्रवर्धमान' वाक्य का उल्लेख किया गया है जिससे प्रकट होता है कि ये सब परिव्राजक महाराजा गुप्तों के सामंत थे। इन लेखों को तिथिक्रम के अनुसार नीचे लिखा गया है।

(१) खोह ताम्रपत्र

यह ताम्रपत्र परिव्राजक महाराजा हस्तिन् का पहला लेख है जिसकी तिथि गु० स० १५६ मिलती है।

(२) खोह ताम्रपत्र गु० स० १६३
(३) मझगवाँ ताम्रपत्र गु० स० १९१

ये सब लेख महाराजा हस्तिन् के हैं‡ जिनमें सब प्रकार के कर से मुक्त करके परिव्राजक सामंत के द्वारा भूमिदान का वर्णन मिलता है।

(४) बेतूल ताम्रपत्र()

यह परिव्राजक महाराजा हस्तिन् के पुत्र संक्षोभ का प्रथम लेख है जिसकी तिथि गु० स० १९९ है। इससे प्रकट होता है कि गुप्तों का प्रभाव मध्यप्रदेश के दभाल त्रिपुरी विषय (जबलपुर[]) तक फैला हुआ था।

---

* का० इ० इ० भा० ३ नं० ४६।

† श्री वरुणवासिभट्टारकपतिवद्धभोककसूर्यमित्रेण उपरिलिखित—ग्रामधिसंयुक्त-परमेश्वरश्रीबालदित्यदेवेन स्वशासनेन—देव-वरनार्क की प्रशस्ति।

‡ का० इ० इ० भा० ३ नं० २१, २२ व २३।

() ए० इ० भा० ८ पृ० २८४।

[] डा० हीरालाल—इन्सक्रपशन फ्राम सी० पी० एंड बरार पृ० ७५।

(५) खोह ताम्रपत्र

सामंत महाराजा संक्षोभ का यह दूसरा लेख है* जिसकी तिथि गु० स० २०६ है।

इसी खोह स्थान से उच्चकल्प महाराजाओं के कई लेख प्राप्त हुए हैं जिनकी तिथि गुप्त संवत् में मिलती है। ये सामन्त उच्चकल्प महाराजा परिव्राजक महाराजाओं के समकालीन थे।

(६) खोह ताम्रपत्र गु० स० १७७

यह ताम्रपत्र उच्चकल्प महाराजा जयन्त का है† ।

(७) खोह ताम्रपत्र गु० स० १९३
(८) ,, ,, ,, ,, १९७
(९) ,, ,, ,, ,, २१४

ये लेख उच्चकल्प महाराज सर्वनाथ के हैं‡। इन सब महाराजाओं के ताम्रपत्रों में भूमिदान का वर्णन मिलता है। इन लेखों के अध्ययन से स्पष्ट प्रकट होता है कि मध्य प्रदेश में गुप्तों के अधीनस्थ परिव्राजक व उच्चकल्प महाराजा ई० स० ५३४ तक शासन करते रहे। उन्होंने अपने राज्य-काल में गुप्त संवत् का प्रयोग किया था। उस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि छठी सदी के मध्य तक गुप्तों के सामंत मध्यप्रदेश में राज्य करते रहे।

वज्र

गुप्त साम्राज्य के अवनतिकालीन शासकों में वज्र का नाम सबसे अंतिम स्थान पर लिया जाता है। सम्भवतः भानुगुप्त (बालादित्य) के बाद इसने शासन किया। ह्वेनसाँग के वर्णन से पता चलता है कि वज्र बालादित्य का पुत्र था। वज्र ने किसके पश्चात् शासन का प्रबंध अपने हाथ में लिया तथा वह कब तक राज्य करता रहा, इस विषय में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं है। डा० रायचौधरी का अनुमान है कि मालवा के राजा यशोधर्मा ने अपनी लौहित्य की विजय यात्रा में वज्र को मार डाला जिससे गुप्त नरेश बुधगुप्त के वंश का नाश हो गया()। डा० मुकुर्जी वज्र तथा वैन्यगुप्त को एक ही व्यक्ति मानते हैं किन्तु वज्र का किसी लेख में उल्लेख नहीं मिलता[]। इस मत के मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनका उल्लेख यथा स्थान किया जा चुका है।

इस प्रकार छठी शताब्दी के मध्यभाग से गुप्त वंश का सूर्य शनैः शनैः अस्ताचल की ओर द्रुतगति से बढ़ने लगा। इनके संकुचित होने के साथ सामंत भी धीरे-धीरे स्वतन्त्र होने लगे। इस अवनति-काल में पुरगुप्त के वंशजों ने बहुत थोड़े समय तक शासन किया। ह्वेनसाँग के वर्णन से पता चलता है कि बुधगुप्त से लेकर वज्र तक सभी गुप्त राजाओं ने नालन्दा के बौद्ध महाविहार की वृद्धि की। इससे प्रकट होता है कि सब की प्रवृत्ति बौद्ध धर्म की तरफ थी। इस प्रकार गुप्त साम्राज्य का अंत हो गया; यद्यपि पिछले गुप्त नरेश जहाँ तहाँ लम्बी अवधि तक शासन करते रहे।

---

* का० इ० इ० भा० ३ नं० २५।
† वही २७।
‡ वही २८, ३० व ३१।
() रायचौधरी—पोलिटिक हिस्ट्री आफ् एंशेंट पृ० ४०३।
[] दि गुप्त इम्पायर पृ ४०९

गुप्त-साम्राज्य की अवनति के कारण

चौथी तथा पाँचवीं शताब्दियों में गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त और द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सतत परिश्रम तथा कार्यकुशलता के कारण गुप्त-साम्राज्य उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया था। इस उत्कर्ष युग में गुप्तों की समता करनेवाला भारत में अन्य कोई सम्राट न था। स्कन्दगुप्त इसे स्वर्णयुग का अंतिम नरेश था; जिसके प्रताप का सूर्य समस्त उत्तरी भारत पर चमकता रहा। विदेशी आततायी हूणों ने इसको निर्बल समझ कर गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण किया, परन्तु उनको स्कन्दगुप्त ने पूर्ण रीति से परास्त किया। ई० स० ४६७ (स्कन्दगुप्त की मृत्यु-तिथि) के उपरान्त गुप्त साम्राज्य की अवनति प्रारम्भ हो गई। इस अवनति-काल में भी बुधगुप्त व भानुगुप्त के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। परन्तु उनके समय में भी गुप्तों को वह गौरव नहीं प्राप्त हो सका। जो उत्कर्ष-काल में सुलभ था।

पाँचवीं सदी के मध्य (ई० स० ४६७) में गुप्तों के सुविस्तृत साम्राज्य की प्रभा क्षीण होने लगी। यहाँ तक कि गुप्त सम्राटों के वंशज अपने साम्राज्य को खो बैठे।

अवनति के कारण

अंतिम समय में उनका राज्य मगध में सीमित रह गया। ऐसे बलहीन तथा अकर्मण्य राजाओं का नाश स्वाभाविक ही है। गुप्त-साम्राज्य की अवनति ही नही हुई परन्तु एक समय उसका अंत हो गया। अतएव उन कारणों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। गुप्त-साम्राज्य के अंत के प्रायः मुख्य पाँच कारण बतलाये जाते हैं—

(१) बाह्य-आक्रमण, (२) आंतरिक-दौर्बल्य, (३) पर-राष्ट्र नीति का त्याग, (४) प्राचीन संस्कृति का असंरक्षण तथा (५) सामंत और प्रतिनिधियों की स्वतंत्रता।

राजनीति का यह साधारण सिद्धान्त है कि शत्रु किसी शासक पर उसी समय आक्रमण करता है जब उसे बलहीन देखता है। शक्तिशाली राज्य पर चढ़ाई कर अपना ही पराजय कौन

बाह्य आक्रमण

मोल लेगा ? इस नीति के अनुसार बाहरी शत्रुओं का आक्रमण उस राज्य की निर्बलता का सूचक है। ऊपर बतलाया गया है कि सर्व प्रथम ई० स० ४५५ के लगभग गुप्त-साम्राज्य पर हूणों ने आक्रमण किया था।* परन्तु उस वैभव तथा शक्ति-सम्पन्न गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण कर हूणों ने भूल की। वीर तथा प्रतापी स्कन्दगुप्त के सम्मुख उनको पराजित होना पड़ा। हूणों ने जिनके कालान्तर में गुप्तों पर धावा किया। अधिकार का परिचय उनके लेखों तथा सिक्कों से मिलता है। बुधगुप्त व हूण सरदार तोरमाण के लेखों से ज्ञात होता है कि ई०

*भितरी का लेख—का० इ० इ० भा० ३ नं० १३।

स० ४९५ के पश्चात् मध्यभारत में हूणों का अधिकार स्थापित हो गया था।† ई० स० ५१० में गुप्त नरेश भानुगुप्त बालादित्य तथा हूणों के मध्य घोर युद्ध हुआ। गुप्तों की क्षीण दशा होने पर भी बालादित्य की विजय हुई परन्तु गुप्त सेनापति गोपराज मारा गया‡। इन सब कथनों से यह ज्ञात होता है कि हूणों तथा गुप्तों में सर्वदा शत्रुता का भाव बना रहा। इसको सत्य मानने में तनिक भी सन्देह नहीं कि हूणों की शक्ति शनैः-शनैः बढ़ती गई और उनके अधिकार की वृद्धि भी होती गई थी। पिछले अध्यायों में हूणों का विस्तृत विवरण दिया गया है जिसकी पुनरावृत्ति करना उचित नहीं प्रतीत होता। यहाँ इतना ही व्यक्त करना आवश्यक है कि बाहरी शत्रुओं के आक्रमण ने गुप्तों की अवनति में हाथ बँटाया।

आन्तरिक दौर्बल्य

मनुष्य की शारीरिक शक्ति, आन्तरिक बल तथा आचरण की निर्भीकता उसको उन्नति के पथ पर ले जाने में सहायता करती हैं। वह मनुष्य इन गुणों के कारण प्रतापी तथा यश का भागी हो सकता है। गुप्त सम्राट् प्रथम ही से शूर-वीर थे तथा उनका प्रताप सर्वत्र व्याप्त था। सम्राट् समुद्रगुप्त तथा द्वितीय चन्द्रगुप्त के दिग्विजय के कारण समस्त भारत के शासकों को उनका लोहा मानना पड़ा था। कुमारगुप्त के शासन के अंतिम समय में राजकुमार स्कन्दगुप्त ने छोटी अवस्था में ही अपने बल का परिचय दिया था जिसकी शक्ति के सम्मुख पुष्यमित्रों तथा हूणों को पीठ दिखानी पड़ी थी। इन राजाओं के सिक्कों पर अंकित चित्र आज भी उनकी वीरता के जीते-जागते उदाहरण हैं। ऐसे वंश में उत्पन्न होने पर भी स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों की अवस्था में सर्वथा परिवर्तन दीख पड़ता है। उनमें वह वीरता न थी जो शत्रुओं के हृदय में आतंक पैदा कर दे। पिछले गुप्त-सम्राटों की शक्ति तो सदा के लिए विलुप्त हो गई। जिस धैर्य तथा साहस से स्कन्दगुप्त ने शत्रुओं का सामना किया था उसका अभाव ही पीछे दिखलाई पड़ता है। ह्वेनसाँग के वर्णन से ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी में यद्यपि हूणों के आक्रमण से देश जर्जर हो रहा था परन्तु स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों में इतनी शक्ति नहीं थी कि वे उनका सामना करते। इस निर्बलता का परिणाम वही हुआ जो साधारणतया देखने में आता है। गुप्त नरेशों की शक्तिक्षीणता शत्रुओं पर अभिव्यक्त हो गई थी अतः उन लोगों ने बारम्बार आक्रमण किया। गुप्त नरेशों की अवस्था ऐसी क्षीण होती गई कि वे पुनः सम्भल न सके। इस बढ़ती हुई दुर्बलता से शत्रुओं ने लाभ उठाया और गुप्तसाम्राज्य का अंत हो गया।

पर-राष्ट्रनीति का त्याग

राजनैतिक क्षेत्र के शासक को नीति में निपुण होना अनिवार्य समझा जाता है। नीति के आचार्य चाणक्य ने बालकपन में राजकुमारों के लिए राजनीतिको शिक्षा का एक परम आवश्यक अंग बतलाया है। प्राचीन भारत में राजाओं को गृह तथा पर-राष्ट्र नीति में परिपक्व होना राज्य-संचालन के लिए अत्यन्त आवश्यक था। गुप्त सम्राटों ने इस नीति का समुचित रूप से पालन किया था। सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपने शासन-काल में पर-राष्ट्रनीति का

† एरण का लेख—वही नं० १९ व ३६। बुधगुप्त के चाँदी के सिक्के की तिथि गु० स० १७५ है।

‡ वही नं० २०।

प्रयोग भिन्न-भिन्न प्रकार से किया था। दक्षिणापथ के राजाओं को विजय कर समुद्र ने उनको अपने साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया परन्तु उन समस्त नरेशों को मुक्त कर दिया तथा उनके राज्य उन्हीं को सौंप दिये। कितने नष्ट राज्यों को उसने पुनः स्थापित किया। इस नीति के कारण समुद्रगुप्त का प्रभाव सदूर देशों तक विस्तृत हुआ। सिंहल आदि द्वीपों तथा पश्चिम की विदेशी जातियों ने मित्रता स्थापित की। इन सब कारणों से समस्त भारत के राजा उसके सहायक बन गये तथा उसकी छत्रछाया में रहकर शासन करते रहे। द्वितीय चन्द्रगुप्त ने भी पर-राष्ट्रनीति का पालन सुचारु रूप से किया। मालवा व सौराष्ट्र के शकों को जीतकर उसने दक्षिण के राजाओं से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित गिया। नाग, वाकाटक तथा कुंतल नरेशों से सम्बन्ध स्थापित कर गुप्त-साम्राज्य को उसने सुरक्षित किया। इन सबका परिणाम यही हुआ कि गुप्तसाम्राज्य उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। इनके उत्तराधिकारी कुमार तथा स्कन्दगुप्त ने अपने पूर्वपुरुषों की नीति का अवलम्बन किया जिस पर चलते हुए इन लोगों ने पैतृक साम्रज्य की रक्षा की। परन्तु स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों में इन सब गुणों का अभाव था। वे न तो पर्याप्त शक्तिशाली थे और न नीति में कुशल। यदि बलहीन अवस्था में भी नीति का सदुपयोग किया जाय तो राज्य सञ्चालन में कुछ सरलता होती है परन्तु शक्ति तथा नीति दोनों के अभाव में गुप्तों की शासन-प्रणाली बिलकुल सारहीन हो गई थी। यही कारण है कि बाहरी शत्रुओं के आक्रमण होने लगे, जिससे पैतृक राज्य की रक्षा करना कठिन हो गया। अपने पूर्वजों के संबंध को स्थायी रखना तो पृथक् रहा—पीछे के गुप्त राजाओं ने उनसे शत्रुता मोल ले ली। नरेन्द्रसेन वाकाटक द्वितीय चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती गुप्ता का पौत्र था। इसके तथा मालव-नरेश के साथ शत्रुता का व्यवहार हो गया था। अन्य वाकाटक राजाओं ने मालवा पर विजय प्राप्त की जिस प्रदेश का शासक सम्भवतः गुप्त-वंशज था। इस वर्णन से स्पष्टतया प्रकट होता है कि पीछे के गुप्तों ने अपने प्राचीन सम्बन्धियों तथा मित्रों से शत्रुता कर ली थी।

हिंदू-संस्कृति का असंरक्षण

भारतीय इतिहास में गुप्त-साम्राज्य एक विशेष महत्त्व रखता है। इस साम्राज्य में हिन्दू संस्कृति की उन्नति चरम सीमा को पहुँच गई थी। गुप्त सम्राटों ने प्राचीन वैदिक धर्म को पुनः जागृत किया था। विदेशी आततायी शकों को पराजित कर द्वितीय चन्द्रगुप्त ने 'विक्रमादित्य' के प्राचीन विरुद को ग्रहण किया था। वैदिक मार्ग के अनुकूल अश्वमेध यज्ञ भी हो रहे थे। सम्राट् समुद्रगुप्त तथा प्रथम कुमारगुप्त के अश्वमेध सिक्के उस यज्ञ के जीते-जागते उदाहरण हैं। इन्हीं सब कारणों से गुप्त काल भारत-इतिहास में 'स्वर्णयुग' के नाम से प्रसिद्ध है। गुप्त सम्राटों की महान् विशेषता यह थी कि वे वैष्णवधर्मानुयायी थे। गुप्त-लेखों में उनके लिए 'परम भागवत' की उपाधि मिलती है। वैष्णवधर्मावलम्बी होते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता का बर्ताव गुप्तों ने रक्खा जिससे इन नरेशों की उदारचरित्रता का ज्ञान होता है।

स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् भागवतधर्म राजधर्म न रह गया। भितरी-राजमुद्रा में उल्लिखित वैष्णव उपाधि 'परम भागवत' के अनन्तर किसी भी लेख में इस पदवी का प्रयोग नहीं

मिलता। द्वितीय कुमारगुप्त के शासन के उपरान्त गुप्त नरेशों ने बौद्ध धर्म को अपनाया। यदि ह्वेनसाँग के वर्णन पर विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रकट होता है कि शक्रादित्य से लेकर वज्र पर्य्यन्त समस्त नरेशों ने नालंदा महाविहार की वृद्धि की। नालंदा ऐसे विशाल बौद्ध महाविहार के संस्थापन का श्रेय इन्हीं को है। ऐसी ही दशा पीछे के गुप्त राजाओं की भी थी। इनकी निर्बलता के कारण विदेशी जातियों ने भारत पर आक्रमण किया जिससे हिन्दू संस्कृति की हानि हुई। गुप्तों का ऐसा कोई राजा न था जो आर्य सभ्यता को पुनर्जीवित करता। साम्राज्य के नष्ट हो जाने से प्रजा का संघ के प्रति प्रेम विलुप्त हो गया।

सामंत तथा प्रतिनिधियों की स्वतन्त्रता

गुप्तों की शासन-प्रणाली एक आदर्श मार्ग की थी। सारा साम्राज्य प्रांतो (भुक्ति) तथा प्रांत छोटे छोटे प्रदेश (विषय) में बँटा हुआ था। गुप्त सम्राटों ने अपने समस्त विजित प्रदेशों पर प्रतिनिधि स्थापित किये थे। उन नियुक्त प्रतिनिधियों को उस प्रांत के शासन में पर्याप्त मात्रा में अधिकार भी दिये गये थे। गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त शासकों की निर्बलता का ज्ञान समस्त सामंतों तथा प्रतिनिधियों पर व्यक्त हो गया था। इन राजाओं को बाहरी शत्रुओं से अपने राज्य की रक्षा करना कठिन हो गया था और सुदूर प्रांतों के शासकों का नियन्त्रण करना असम्भव ही था। ऐसी परिस्थिति में गुप्त सामंतों ने इस अवसर से लाभ उठाया। वे शनैः शनैः स्वतंत्रता की ओर अग्रसर होने लगे। मध्य-प्रदेश के परिव्राजक व उच्चकल्प राजाओं के लेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे गुप्त सत्ता को परित्याग करने लगे। उन्होंने सामंत की अवस्था में होते हुए 'महाराजा' की पदवियाँ धारण की थीं*। वैन्यगुप्त का सामंत विजयसेन गुनैघर के ताम्रपत्र में 'महाराज महासामन्त विजयसेन' कहा गया है।†

इस प्रकार जितने सामंत तथा प्रतिनिधि थे सभी ने स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी तथा समयान्तर में राजा बन बैठे। पश्चिम में वलभी, मालवा; उत्तर में थानेश्वर व कन्नौज तथा पूर्वी भारत में गौड़ के शासक पूर्ण स्वतन्त्र बन बैठे। इन्हीं शासकों ने अपने राज्य-विस्तार की अभिलाषा से गुप्त राज्य पर गहरी चोट पहुँचाई, जिससे सर्वदा के लिए गुप्त साम्राज्य का अंत हो गया।

जिस गुप्त साम्राज्य का प्रभाव शताब्दियों तक समस्त भारत पर फैला था उसकी अवनति छठीं शताब्दी के मध्य भाग में पूर्ण रूप से हो गई। इसके मुख्य कारणों का वर्णन ऊपर हो चुका है परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य भी छोटे-छोटे कारण हैं जिन्होंने इस कार्य में सहयोग दिया। गुप्तों में गृह-कलह तथा राजद्रोह के कारण भी भेद पैदा होने लगा जिससे भारतभूमि में उस 'स्वर्णयुग' का नाम भी शेष न रहा।

———

*का० इ० इ० भा, ३नं० २२, २३, २५ आदि।

†इ० हि० क्वा० १९३० पृ० ४५—६०।

गुप्त-साम्राज्य के पश्चात् उत्तरी भारत की राजनैतिक अवस्था

छठीं शताब्दी के मध्य भाग में गुप्त-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। ऐसा कोई भी गुप्त शासक शक्तिशाली नहीं था जो समस्त प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थिर रखता। इस कारण अनेक छोटे-छोटे राज्य स्वतंत्र होने लगे जिन्होंने कालान्तर में विस्तृत रूपधारण कर लिया अतएव उन राज्यों का संक्षिप्त वर्णन करने का प्रयत्न किया जायगा।

सबसे प्रथम गुप्त-साम्राज्य से सौराष्ट्र तथा मालवा पृथक् हो गये। यही गुप्तों का पश्चिमी प्रान्त था जहाँ उनके नियुक्त प्रतिनिधि शासन करते थे। सम्राट् स्कन्दगुप्त के समय में ई० स० ४५७ के लगभग पर्णदत्त सौराष्ट्र का शासक था। इस

वलभी

गुप्त नरेश की मृत्यु के पश्चात् गुप्तों का एक भी लेख या सिक्का पश्चिमी भारत में नहीं मिलता जिससे प्रकट होता है कि वहाँ (काठियावाड़ और मालवा) से गुप्तों का अधिकार हट गया था। ई० स० ४७५ के लगभग वलभी में भट्टारक नामक व्यक्ति सेनापति के पद पर नियुक्त था*। परन्तु वह राजा के समान शासन करता था। उसके पुत्र को भी उपाधि सेनापति की थी जिससे अनुमान किया जाता है कि वे स्वतन्त्र होने से पूर्व गुप्त-छत्रछाया में शासन करते थे। सर्वप्रथम मैत्रकों के तीसरे राजा द्रोणसिंह ने 'महाराजा' की पदवी धारण की जो पूर्ण स्वतन्त्रता की सूचना देता है। इसके उत्तराधिकारी तथा सेनापति भट्टारक के तीसरे पुत्र ध्रुवसेन प्रथम का एक लेख गु० स० २०६ (ई० स० ५२६) का मिला है जिसमें 'महाराजा' पदवी का उल्लेख मिलता है†। तिथि के आधार पर यह मालूम होता है कि ई० स० ५२६ के लगभग वलभी में मैत्रकों ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था। महाराजा ध्रुवसेन प्रथम की चौथी पीढ़ी में द्वितीय ध्रुवसेन ने राज्य किया। यह कन्नौज के राजा हर्षवर्धन का समकालीन था। भड़ौच के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि वहाँ के राजा द्वितीय दिद्दा ने (ई० स० ६२९-६४१) वलभी के राजा की रक्षा की जिसे कन्नौज के परमेश्वर हर्षदेव ने पराजित किया था‡। सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने भी इस घटना का वर्णन किया है। उसके कथनानुसार वलभी के राजा ध्रुवभट्ट (ध्रुवसेन द्वितीय) ने हर्ष से सन्धि की प्रार्थना की। सन्धि समाप्त होने पर हर्षवर्धन ने सम्बन्ध को स्थायी करने के लिए अपनी पुत्री का विवाह उस राजा के साथ कर दिया। द्वितीत ध्रुवसेन हर्षवर्धन के अधीन

*ई० हि० क्वा० भा० ४ पृ० ४६०।

†का० इ० इ० भा० ३ पृ० ७१; इ० ए० भा० ३।

‡इ० ए० भा० १३।

होकर शासन करता था। परन्तु उसका उत्तराधिकारी चतुर्थ धरसेन ने 'परम भट्टारक महाराजाधिराज चक्रवर्ती' महान् उपाधि धारण की थी। इसी के समान तृतीय शिलादित्य ने (ई० स० ६७०) 'परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' की पदवी ग्रहण की। इस महान् पदवी से अनुमान लगाया जाता है कि वलभी के नरेशों का प्रभाव सुचारु रूप से विस्तृत हो गया था। मैत्रकों का राज्य बड़ौदा, सूरत तथा पश्चिमी मालवा तक फैला था। उस वंश के अन्तिम राजा शिलादित्य सप्तम का शासन ई० स० ७६६ के लगभग समाप्त हुआ*। अतएव इस विवरण से ज्ञात होता है कि वलभी के मैत्रकों का शासन छठीं सदी के मध्यभाग से लेकर आठवीं शताब्दी के अन्तिम भाग पर्य्यन्त था। इस तरह वे ढाई सौ वर्षों तक राज्य करते रहे।

मालवा

मालवा से यहाँ पश्चिमी मालवा से तात्पर्य है जिसका प्रधान नगर मंदसोर (प्राचीन दशपुर) था। मालवा प्रायः सौराष्ट्र के साथ ही गुप्तों के अधिकार से निकल गया। ई० स० ४३६ में प्रथम कुमारगुप्त का प्रतिनिधि बन्धुवर्मा मंदसोर में शासन करता था†। पश्चिमी मालवा में अवनति-काल के गुप्त-नरेशों का एक लेख या सिक्का नहीं मिला है जिससे वहाँ गुप्तों का अधिकार ज्ञात हो। छठीं सदी के प्रारम्भ में समस्त मालवा पर हूणों का अधिकार था और ई० स० ५१० में एरण (पूर्वी मालवा) के समीप गुप्तों व हूणों में युद्ध भी हुआ‡। परन्तु इस युद्ध में पराजित होने पर भी हूणों की सत्ता नष्ट न हुई। इसी शताब्दी के मंदसोर की प्रशस्ति में प्रतापी मालव नरेश यशोधर्मा के विजय का वृत्तान्त वर्णित है()। यद्यपि यह वर्णन कुछ अत्युक्तिपूर्ण ज्ञात होता है परन्तु यह सत्य है कि ई० स० ५३३ के लगभग यशोधर्मा ने हूणों के सरदार मिहिरकुल को परास्त किया था। इसका प्रभाव अधिक समय तक स्थायी न रह सका क्योंकि नगवा के ताम्रपत्र से ई० स० ५४० में मालवा पर वलभी-राजा द्वितीय ध्रुवसेन का अधिकार[] ज्ञात होता है। इससे यह स्पष्ट है कि छठीं शताब्दी के मध्यभाग में (गुप्तों की अवनति के समय) मालवा गुप्त-साम्राज्य से पृथक हो गया और वहाँ एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हो चुकी थी।

कन्नौज

बहुत प्राचीन काल से उत्तरी भारत के समस्त नगरों में पाटलिपुत्र की ही प्रधानता थी। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर गुप्त साम्राज्य के अंत (ईसा की छठीं सदी) तक समस्त सम्राटों की राजधानी पाटलिपुत्र ही थी। व्यापारिक दृष्टि से भी पाटलिपुत्र का स्थान महत्त्वपूर्ण था। परन्तु छठीं शताब्दी में पाटलिपुत्र का स्थान कन्नौज ने ग्रहण कर लिया। इसकी गणना प्रधान नगरों में होने लगी। यही कारण है कि गुप्त साम्राज्य के नष्ट होने पर कन्नौज में एक नये राज्य की स्थापना हुई जिसके शासक मौखरि नाम से पुकारे जाते हैं।

---

†इ० हि० क्वा' भा० ४ पृ० ४६६।

‡का० इ० इ० भा० ३ नं १८।

()वही २०

[]वही २३।

*ए० इ० भा० ८ पृ० १८८।

इस वंश का नाम मौखरि क्यों पड़ा, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। इस वंश के प्राप्त लेखों से ज्ञात होता है कि आदि पुरुष का नाम मुखर था जिससे इस वंश का नाम मौखरि हुआ। मौखरियों का आदि-स्थान गया ज़िला (बिहार प्रान्त) में था। उस स्थान पर इनके लेख तथा मुद्रा भी मिलती हैं*। बराबर तथा नागार्जुनी गुहालेख के मौखरि राजाओं के लिए सामंत शब्दों का प्रयोग मिलता है। इस आधार पर यह प्रकट होता है कि सामंत शार्दूलवर्मन् तथा अनन्तवर्मन गुप्त नरेशों के आश्रित थे। गया से प्रस्थान कर किस समय मौखरियों ने कन्नौज में राज्य स्थापित किया, यह नहीं कहा जा सकता। गया के मौखरि तथा कन्नौज के मौखरि वंश में किसी प्रकार का सम्बन्ध ज्ञात नहीं है परन्तु छठीं शताब्दी के मध्यभाग में कन्नौज में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हो गई थी।

मौखरि वंश के सबसे पहले राजा का नाम हरिवर्मन् है जिसका उल्लेख मौखरि-लेखों में मिलता है। यह वंश मगध के शासन करनेवाले पिछले गुप्त नरेशों का समकालीन था। इस समकालीनता का ज्ञान हो जाने पर अन्य ऐतिहासिक बातें सरल हो जाती हैं। अतएव उससे परिचित होने के लिए उनकी समकालीनता यहाँ दी जाती है।

मागध गुप्त वंश	कन्नौज का मौखरि वंश
कृष्णगुप्त	हरिवर्मन्
हर्षगुप्त	आदित्यवर्मन्
जीवितगुप्त	ईश्वरवर्मन्
कुमारगुप्त	ईशानवर्मन्
दामोदरगुप्त	सर्ववर्मन्
महासेनगुप्त	अवन्तिवर्मन
माधवगुप्त	ग्रहवर्मन्

मौखरि वंश में प्रथम तीन राजाओं की पदवी महाराजा थी जिसके कारण किसी न किसी रूप में वे आश्रित ज्ञात होते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि वे गुप्तों के अधीन थे। दूसरे मागध गुप्त नरेश ने अपनी बहन हर्षगुप्ता का विवाह आदित्यवर्मन् के साथ किया था। मौखरि शासक ईशानवर्मन् के समय से इस वंश की उन्नति हुई। इसने आंध्र, शूलिकान् (चालुक्य) तथा गौड़ राजाओं को परास्त किया था, जिसकी विजय-वार्ता हरहा की प्रशस्ति में उल्लिखित है। इस लेख की तिथि (वि० स० ६११) से प्रकट होता है कि ई० स० ५५४ के लगभग ईशानवर्मन् का प्रताप विस्तृत हो गया था। सबसे प्रथम इसी ने 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की जिससे मौखरियों के पूर्ण स्वतन्त्रता का परिचय मिलता है†। इसके पश्चात् सर्ववर्मन् मौखरि राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। इन दोनों राजाओं के साथ मागधगुप्तों ने घनघोर युद्ध किया था। कुमारगुप्त ने ईशानवर्मन् को परास्त किया था परन्तु सर्ववर्मन् मौखरि ने कुमारगुप्त के पुत्र दामोदरगुप्त को मार डाला। इस परम्परागत शत्रुता के कारण गुप्तों तथा मौखरियों में युद्ध होते रहे। उसी समय थानेश्वर में भी वर्धन वंशी राजा शासन करते थे। प्रभाकरवर्धन

*का० इ० इ० भा० ३ नं० ४८, ४९।

†हरहा की प्रशस्ति— ए० इ० भा० १४ पृ० ११५।

की पुत्री राजश्री का विवाह मौखरियों के अंतिम राजा ग्रहवर्मन् के साथ हुआ था। गुप्तों से यह मित्रता का बर्ताव देखा न गया अतएव गुप्तनामधारी देवगुप्त राजकुमार ने गौड़ राजा शशांक की सहायता से ग्रहवर्मन् की हत्या कर दी, जिसके बाद मौखरि वंश का नाश हो गया।

छठीं शताब्दी में गंगा की घाटी में मौखरियों के समान कोई शक्तिशाली नरेश न था। गया*, आसीरगढ़† (मध्यप्रदेश), जौनपुर‡, हरहा() (बाराबंकी, उत्तर प्रदेश) के लेखों तथा सिक्कों[] से ज्ञात होता है कि मौखरियों का राज्य विहार, उत्तर प्रदेश तथा मध्यप्रदेश तक विस्तृत था। कन्नोज का अंतिम मोखरि शासक ग्रहवर्मा ही था। इस प्रकार हरिवर्मन् से लेकर ग्रहवर्मन् तक सात राजाओं ने कन्नौज में शासन किया। मौखरियों के संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि छठीं शताब्दी में गुप्त साम्राज्य का अंत होने पर उत्तरी भारत में इनकी कीर्ति फैली। गुप्तों के आश्रित सामंत स्वतन्त्र शासक बन बैठे तथा उन्होंने महाराजाधिराज की पदवी धारण की।

कन्नौज राज्य के साथ साथ उत्तरी भारत में वर्धन नामक एक शासक वंश का उदय हुआ जिनका प्रधान स्थान देहली के समीप थानेश्वर में स्थापित हुआ था। पहले तो वर्धन नरेश एक सीमित राज्य पर शासन करते थे परन्तु कालान्तर में यह राज्य साम्राज्य के रूप में परिणत हो गया। इनके पूर्वपुरुष का नाम पुष्पभूति था जिसका उल्लेख हर्षचरित में मिलता है। वर्धन लेख के आधार पर सर्वप्रथम राजा का नाम नरवर्धन था।+ इनके दो उत्तराधिकारी ऐसे थे जिनकी उपाधि महाराजा थी। वर्धन के तीसरे राजा आदित्यवर्धन का विवाह मागध गुप्तों की वंशजा महासेन गुप्ता के साथ हुआ था। आदित्यवर्धन का पुत्र प्रभाकरवर्धन बहुत ही शक्तिशाली नरेश था। इसने दक्षिण तथा पश्चिम के अनेक राज्यों को विजय किया था जिसका वर्णन बाणकृत हर्षचरित में मिलता है।× लेखों तथा हर्षचरित के आधार पर ज्ञात होता है कि प्रभाकरवर्धन ने 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' की पदवी धारण की थी। इस महान् उपाधि तथा विजय-वर्णन से पता चलता है कि प्रभाकर ने छठीं शताब्दी के अंतिम भाग में पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी। उत्तर-प्रदेश में फैजाबाद जिले में भिटौरा नामक स्थान से सिक्कों की एक निधि मिली है।÷ जिसमें कुछ सिक्के प्रभाकरवर्धन (प्रतापशील) के भी हैं। इन सिक्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि

थानेश्वर

---

*का० इ० इ० भा० ३ नं० ४८, ४९।

†वही ४७।

‡वही ५१।

()ए० इ० भा० १४ पृ० ११५।

[]जे० ए० एस० बी० १९०६ पृ० ८४५।

+बाँसखेड़ा ताम्रपत्र—ए० इ० भा० ४ पृ० २०८।

×हूणहरिणकेसरी सिन्धुराजज्वरो गुर्जरप्रजागरो गान्धराधिपगन्धद्विपकूटपाकलो लाटपाटवपाटच्चरो मालवलक्ष्मीलतापरशुः प्रतापशील इति प्रथितापरनामा प्रभाकरवर्धनो नाम राजाधिराजः।

—हर्षचरित, उच्छ्वास ४।

÷जे० ए० एस० बी० १९०६ पृ० ८४५

प्रभाकर पूर्ण स्वतंत्र शासक था। बाण के वर्णन से ज्ञात होता है कि इस नरेश ने अपनी पुत्री राज्यश्री का विवाह कन्नौज के अंतिम मौखरि राजा ग्रहवर्मा के साथ किया था।*

प्रभाकर की मृत्यु के पश्चात् इसका ज्येष्ठ पुत्र द्वितीय राज्यवर्धन राज्य का उत्तराधिकारी हुआ, परन्तु प्रभाकर की मृत्यु और बाहरी शत्रुओं के आक्रमण के समय मालवा के राजा देवगुप्त ने शशांक के साथ प्रभाकर के जामाता ग्रहवर्मा को मार डाला। इन शत्रुओं ने राज्यश्री को कारागार में बन्द कर दिया। इस विपत्ति का संवाद सुनकर राज्यवर्धन अपनी बहन के सहायतार्थ कन्नौज आया, परन्तु उन शत्रुओं ने उसे भी मार डाला × उसके पश्चात् हर्षवर्धन थानेश्वर का उत्तराधिकारी हुआ। राज्यश्री के कहने पर मौखरि तथा थानेश्वर राज्य एक में सम्मिलित कर दिये गये। अतएव इस विस्तृत राज्य के सुप्रबंध के लिए हर्ष ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया।

सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् हर्षवर्धन ने समस्त उत्तरी भारत के राजाओं को पराजित कर गुजरात के वलभी नरेश द्वितीय ध्रुवसेन को भी पराजित किया था।† अन्त में संधि हुई। हर्ष ने इस मित्रता को सुदृढ़ करने के लिए अपनी पुत्री का विवाह द्वितीय ध्रुवसेन से किया था। पूर्वीय भारत में हर्षवर्धन ने अपने शत्रु गौड़ राजा शशांक पर भी विजय प्राप्त की। इस प्रकार हर्षवर्धन का राज्य विस्तृत हो गया था और कामरूप के राजा भास्करवर्मन् को भी उससे मित्रता स्थापित करनी पड़ी। उत्तरी भारत में इस साम्राज्य पर हर्षवर्धन ने ई० स० ६०६-६४८ तक शासन किया, जिसका विवरण प्रशस्तियों तथा चीनी यात्री के विवरण में पाया जाता है।

यह कहा जा चुका है कि चौथी शताब्दी से गुप्त सम्राटों का शासन बंगाल पर निरंतर चला आ रहा था। सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति में समतट तथा उवाक के नाम भी प्रत्यन्त नृपतियों की नामावली में मिलता है। दामोदरपुर के ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि गु० स० २२४ तक उत्तरी बंगाल गुप्तों के अधिकार में था।‡ गुणैधर के लेख से भी प्रकट होता है कि पूर्वी बंगाल गुप्त प्रतिनिधियों द्वारा शासित होता था।() सारांश यह है कि ईसा की छठीं सदी के मध्य तक गुप्त शासन बंगाल में बना रहा।

गौड़

छठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बंगाल की राजनैतिक परिस्थिति में अकस्मात् परिवर्तन हुआ। गुप्त साम्राज्य का अंत होने पर गौड़ में एक नये राज्य की स्थापना हुई। ईशानवर्मा मौखरि के हरहा वाले लेख से पता चलता है कि ई० स० ५५४ में इस कन्नौज के महाराजाधिराज ने गौड़ों को परास्त किया था।[] अतएव उस समय गङ्गा की निचली घाटी में गौड़ राज्य की स्थापना की सूचना मिलती है।

---

*हर्षचरित उच्छ्‌वास ४।

× बीसखेड़ा का ताम्रपत्र

† ए० इ० भा० १३—भरौच का ताम्रपत्र।

‡ ए० इ० भा० १५।

() इ० हि० क्वा० भा० ६ पृ० ४५।

[] ए० इ० भा० १४ पृ० ११५।

गौड़ देश की स्थिति बहुत प्राचीन काल से ज्ञात है। अर्थशास्त्र तथा पुराणों में इसका नाम मिलता है। छठीं सदी में वराहमिहिर ने गौड़ देश को पूर्वी भारत में स्थित बतलाया है। गुप्त साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर गौड़ में ही शशांक ने एक राज्य स्थापित किया। शशांक के सिक्कों के समान एक सिक्के पर नरेन्द्रगुप्त लिखा मिलता है।* राखालदास बैनर्जी का मत है कि नरेन्द्रगुप्त शशांक का दूसरा नाम था तथा इसी आधार पर उसे गुप्त वंशज मानते हैं। किन्तु उसके वंश के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

सम्भवतः राज्य स्थापित करने पर भी शशांक किसी राजा के आश्रित होकर शासन करता था। रोहतासगढ़ के लेख में 'श्रीमहासामंत शशांकदेवस्य' लिखा मिलता है†। अतएव सामंत की पदवी से उसकी अधीनता की सूचना मिलती है। परन्तु यह अवस्था अधिक समय तक न रह सकी और वह स्वतंत्र राजा बन बैठा। गंजाम ताम्रपत्र (गु० स० ३००) में शशांक के लिए 'महाराजाधिराज' की उपाधि का उल्लेख किया गया है‡। अतएव यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ई० स० ६१६ के लगभग शशांक स्वतंत्र रूप से उडीसा के दक्षिणी भाग का अधिपति था। शशांक ने कर्णसुवर्ण को अपनी राजधानी बनाया। सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इसका प्रताप बहुत फैला और मालवा के राजा देवगुप्त ने इससे मित्रता स्थापित की। शशांक ने कन्नौज पर आक्रमण कर मौखरि वंश के अंतिम नरेश ग्रहवर्मन् को मार डाला तथा सहायतार्थ आये हुए थानेश्वर के द्वितीय राज्यवर्धन की भी हत्या की।() इस वर्णन से पता चलता है कि शशांक का प्रताप सुदूर देशों तक विस्तृत हो गया था। कन्नौज के राजा हर्षवर्धन ने राजसिंहासन पर बैठने के पश्चात् अपने शत्रु पर चढ़ाई की तथा सम्भवतः उसने गौड़ के प्रताप को नष्ट कर दिया। परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि शशांक के साथ हर्ष की मुठभेड़ हुई या नहीं। शशांक के पश्चात् किसी भी गौड़ राजा का नाम उल्लेखनीय नहीं है। सम्भवतः गौड़ राज्य का उदय तथा नाश शशांक के ही जीवन-काल में हो गया था।

कामरूप

कामरूप या प्राग्ज्योतिष भारत में पूर्व उत्तर कोने में स्थित आसाम प्रांत का प्राचीन नाम था। महाभारत तथा विष्णुपुराण में भी इसका नाम मिलता है। कालिदास के वर्णन से भी पता चलता है कि रघु ने कामरूप पर आक्रमण किया था[]। लेखों में सबसे प्रथम समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति में कामरूप का नाम नाम मिलता है। सिलहट के निधानपुर ताम्रपत्र में कामरूप के शासकों की वंशावली दी गई है§। सबसे पहले ऐतिहासिक राजा का नाम पुण्यवर्मन् था जिसके दो उत्तराधिकारियों—समुद्रवर्मन् तथा बलवर्मन्—ने क्रमशः

---

*वही १८ पृ० ७४

†बसाक—हिस्ट्री आफ नार्दर्न ईस्टर्न इंडिया पृ० १४१।

‡'गौप्ताब्दे वर्षशतत्रये वर्तमाने महाराजधिराज श्री शशांक राजे शसति'
—ए० इ० भा० ६ पृ० १४४।

()बाणकृत—हर्षचरित, उच्छ्वास ६।

[]रघुवंश ४, ८१।

§ए० इ० भा० ११ पृ० ७३।

राज्य किया। पाँचवीं तथा छठीं शताब्दियों में कुल आठ राजाओं ने शासन किया था। इसके अंतिम राजा का नाम सुस्थिवर्मन् था जिसके साथ गुप्तों का सम्बन्ध उल्लिखित है।

यों तो पूर्वी भारत में पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति (उत्तरी बंगाल) में गुप्तों का प्रतिनिधि रहता था, परन्तु कामरूप के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। समुद्रगुप्त ने प्रत्यन्त नृपतियों के राज्य को अपने साम्राज्य में सम्मिलित न कर उन्हें कर देने और आज्ञा मानने के लिए वाध्य किया था। कामरूप नरेश भी गुप्तों की छत्रछाया में राज्य करते रहे।

इन कामरूप राजाओं के विषय में कोई उल्लेखनीय बात नहीं है। छठीं शताब्दी के अन्तिम राजा सुस्थिवर्मन् का नाम मागध गुप्तों के अपसद के लेख में मिलता है। उसके वर्णन से ज्ञात होता है कि महासेनगुप्त ने सुस्थिवर्मन् पर विजय प्राप्त की थी। निधानपुर के ताम्रपत्र में शासक का नाम भास्करवर्मन् मिलता है जिसने सुस्थिवर्मन् के बाद कामरूप के राजसिंहासन को सुशोभित किया। यही भास्करवर्मन् कन्नौज के राजा हर्षवर्धन का मित्र था जिसने सम्भवतः गौड़ाधिपति शशाङ्क को जीतने में उसकी सहायता की थी*। निधानपुर के ताम्रपत्र में उल्लेख मिलता है कि भास्करवर्मन् ने गौड़ राज्य की राजधानी कर्णसुवर्ण पर भी अधिकार कर लिया था। भास्करवर्मन् का यह अधिकार ई० स० ६२५ के बाद ही हुआ होगा जिस समय संभवतः शशाङ्क की मृत्यु हो गई थी†।

मगध

छठीं शताब्दी के मध्य में इन उपर्युक्त राज्यों के साथ मगध में भी एक राज्य की स्थापना हुई जिसके शासक गुप्त नामधारी थे। इन गुप्तों को, मगध का शासक होने के कारण, मागध गुप्त के नाम से पुकारा जाता है। मागध गुप्तों का पूर्व के गुप्त सम्राट्-वंश से क्या सम्बन्ध था, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। परन्तु गुप्त साम्राज्य के नष्ट होने पर उत्तरी भारत के अन्य नरेशों की तरह इन गुप्तों ने भी मगध में एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था। इस मागध गुप्त वंश का वर्णन आगे सविस्तत दिया जायगा, परन्तु इस स्थान पर यह आवश्यक है कि वलमी थानेश्वर, मौखरि तथा गौड़ आदि नरेशों के समान गुप्त राजाओं ने भी गुप्तसाम्राज्य के अंत में, मगध देश में अपना राज्य स्थापित किया।

अन्य राजागण

गुप्त-साम्राज्य के अंत में जिन जिन स्थानों पर स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए थे उनके अतिरिक्त उत्तरी भारत में कुछ अन्य शासक भी राज्य करते थे। उस समय भारत की उत्तर दिशा में नेपाल में क्षत्रिय राजा शासन करते थे। नेपाल के इतिहास के अध्ययन में नेपाल-वंशावली तथा सिलवन लेवी व भगवान्लाल इन्द्रजी द्वार सम्पादित लेखों से सहायता मिलती है। नेपाल में दो वंश के राजा शासन करते थे। ईसा की पहली शताब्दी से लेकर छठीं शताब्दी तक लिच्छवि वंश का शासन रहा वहाँ जिनके लेखों में विक्रम संवत् का प्रयोग मिलता है। कुछ राजाओं ने गुप्त संवत् का ही प्रयोग किया था। जिससे प्रकट होता है कि नेपाल में गुप्त लोगों का प्रभाव अवश्य रहा। सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसने नेपाल राजा को भी कर देने तथा आज्ञा मानने के लिए बाधित किया था यही कारण है कि

*राखालदास बैनर्जी—बाँगलार इतिहास भा० १ पृ० १०८।

†बसाक—हिस्ट्री आफ़ नार्दर्न ईस्टर्न इंडिया पृ० २२६।

गुप्त संवत् का प्रयोग नेपाल-लेखों में पाया जाता है। सम्भवतः अधिक समय तक नेपाल गुप्तों के अधीन रहा हो।

इन्हीं लिच्छवि महाराजों के आश्रित होकर कैलासकूट से ठाकुरी वंशज नरेश राज्य करते थे। इस कारण उनकी उपाधि महासामंत की थी। इस वंश का सर्वप्रथम राजा अंशुवर्मन् था जो कन्नौज के राजा हर्षवर्धन का समकालीन था। ठाकुरी वंश के राजाओं ने हर्षवर्धन के प्रभाव या आक्रमण के कारण हर्ष-संवत् का प्रयोग प्रारम्भ किया होगा।

अन्य राज्यों की तरह नेपाल की भी स्वतंत्र सत्ता थी। पूर्वी बंगाल के टिपरा जिले में स्थित गुणैधर (गु० सं० १८८) के लेख से प्रकट होता है कि ई० स० ५०८ में महाराजा महासामंत विजयसेन गुप्त नरेश वैन्यगुप्त के आश्रित होकर शासन करता था* परन्तु गुप्त-शासन का अंत होने पर पूर्वी बंगाल में भी एक छोटा सा राज्य स्थापित हो गया। फ़रीदपुर के ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि धर्मादित्य नामक राजा पूर्वी बंगाल का शासक था। इसका उत्तराधिकारी गोपचन्द्र था, जिसके पश्चात् समाचारदेव शासक हुआ। उनकी उपाधि 'महाराजाधिराज भट्टारक' से प्रकट होता है† कि ये राजा स्वतंत्र थे। पूर्वी बंगाल के उन शासकों की स्वतंत्रता सम्बन्धी वार्ता विवादपूर्ण है परन्तु उस प्रदेश में उनके शासन में तनिक भी संदेह नहीं। उसी प्रांत में उनके सिक्के भी मिले हैं जिनसे उनके शासन की पुष्टि होती है। समाचारदेव के उत्तराधिकारियों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है परन्तु भट्टशाली का मत है कि गौड़ाधिपति शशांक ही उसके बाद पूर्वी बंगाल का शासक हुआ। शशांक के पश्चात् कन्नौज के शासक हर्ष ने उस पर अपना अधिकार कर लिया। हर्ष की मृत्यु के पश्चात् खड्ग वंश के राजा सातवीं शताब्दी तक शासन करते रहे‡ जिनका अंत कन्नौज के राजा यशोवर्मा के हाथों हुआ था।

गुप्त-साम्राज्य के नष्ट होने के पश्चात् छठीं शताब्दी के मध्य से सातवीं सदी तक उपरियुक्त स्वतंत्र राज्यों का उदय तथा ह्रास उत्तरी भारत में होता रहा। किसी सम्राट् की अनुपस्थिति में समस्त शासक आपस में राज्य-विस्तार की लिप्सा से युद्ध करते रहे। इनमें कन्नौज के महाराजाधिराज हर्षवर्धन का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। इसने अपने बाहुबल से थोड़े समय के लिए एक साम्राज्य स्थापित कर लिया था तथा समस्त उत्तरी भारत के नरेशों को उसका लोहा मानना पड़ा था। अन्य राजाओं में मागध गुप्त ही ऐसे शासक थे जिनका पर्याप्त राज्य-विस्तार हुआ तथा दो सौ वर्षों तक उनके वंशज राज्य करते रहे।

---

*इ० हि० क्वा० भा० ६, १९३० पृ० ४५—६०।

†ए० इ० भा० १८ नं० ११ पृ० ८४।

‡अशरफपुर का प्लेट—मेमायर ए० एस० बी० भा० १ पृ० ८४-६१।

मागध गुप्त-काल

यह कहा जा चुका है कि छठीं शताब्दी के मध्य में गुप्त-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था तथा अनेक स्वतन्त्र राजा उत्तरी भारत में शासन करने लगे। यद्यपि राजनैतिक क्षेत्र में गुप्त-साम्राज्य की कोई स्थिति न थी परन्तु गुप्त नाम धारी राजा उत्तरी भारत में शताब्दियों तक शासन करते रहे। ये गुप्त राजा किस वंश के थे तथा पूर्व गुप्त सम्राटों से इनका क्या सम्बन्ध था, इसके विषय में ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते। सम्भव है कि ये गुप्त राजा पूर्व गुप्तों की वंश-परम्परा में हों। इनका राज्य मगध के समीपवर्ती प्रदेशों पर सीमित था, अतएव इनको 'मागध-गुप्त' कहा जाता है।

मागध गुप्त वंश के राज्यस्थान तथा शासन-काल का निर्धारण करने से पूर्व इस वंश के राजाओं के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। मागध गुप्तवंश

राज वंश

में कुल ११ नरेश हुए जिन्होंने प्रायः दो शताब्दियो तक राज्य किया।

(१) कृष्णगुप्त, (२) हर्षगुप्त, (३) प्रथम जीवितगुप्त, (४) कुमारगुप्त, (५) दामोदरगुप्त, (६) महासेनगुप्त, (७) माधवगुप्त, (८) आदित्यसेन, (९) द्वितीय देवगुप्त, (१०) विष्णगुप्त, (११) द्वितीय जीविगुप्त।

मागध गुप्तों का वंशवृत्त दो लेखों के आधार पर तैयार किया जाता है। गया जिले से प्राप्त अपसद के लेख में प्रथम आठ राजाओं की नामावली मिलती है*। शाहाबाद के समीप देव-वरनार्क नामक ग्राम से दूसरा लेख मिला है जिसमें अन्तिम तीन राजाओं के नाम (माधवगुप्त व आदित्यसेन के साथ) उल्लिखित हैं†। एक गुप्त नामधारी राजा—देवगुप्त—मालवा का शासक कहा गया है जिसका नाम बर्धन लेखों‡ तथा बाण-कृत हर्षचरित() में मिलता है। परन्तु आश्चर्य की बात है कि इसका नाम उपरियुक्त दोनों लेखों (अपसद तथा देव-वरनार्क) में नहीं मिलता। इससे यह प्रकट होता है कि वह इस मागध गुप्तवंश से असम्बन्धित था।

प्रथम तीन राजाओं के राज्यकाल की किसी ऐतिहासिक घटना का पता नहीं है परन्तु

कुछ विशिष्ट घटनाएँ

चौथा राजा कुमारगुप्त शक्तिशाली व प्रतापी नरेश था। इसने मौखरि महाराजाधिराज ईशानवर्मा को ई० स० ५५४ के लगभग परास्त किया[]। इस विजय के कारण गुप्तों का राज्य प्रयाग तक विस्तृत हो गया। इसके पुत्र दामोदरगुप्त को परंपरागत शत्रुता के कारण मौखरि राजा सर्ववर्मन् ने युद्ध में मार डाला और मगध कुछ समय के लिए मौखरियों के अधिकार में चला गया। दामोदरगुप्त का

---

*का० इ० इ० भा० ३ नं० ४२।

†वही ४६।

‡मधुवन व बाँसखेड़ा के लेख—ए० इ० भा० १ पृ० ६७; भा० ४ पृ० २०८।

()हर्षचरित, उच्छ्वास ६।

[]अपसद का लेख—फ्लीट नं० ४२।

पुत्र महासेनगुप्त बहुत पराक्रमी राजा था जिसने मगध के नष्ट राज्य को पुनः मौखरियों से प्राप्त किया। कामरूप के राजा सुस्थितवर्मन् को भी इसने पराजित किया* था।

सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में थानेश्वर और कन्नौज के राजा हर्षवर्धन का प्रताप उत्तरी भारत में फैला हुआ था। महासेनगुप्त का पुत्र माधवगुप्त भी हर्षवर्धन के साथ रहता था और उसी के समय में उसने मगध के राजसिंहासन को सुशोभित किया। हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् माधवगुप्त के पुत्र आदित्यसेन ने बाहुबल से अपने राज्य का विस्तार किया और मगध से लेकर अंग तक शासन करता था। इस कारण मागध गुप्तों में सर्वप्रथम 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' की पदवी इसी ने धारण की†।

शासन-काल

मागध गुप्तों ने कितने समय तक शासन किया, इसको निश्चित करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। मागध गुप्त नरेशों का राज्य-काल स्थिर करने में अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। इन राजाओं के लेख भी मिले हैं परन्तु गुप्तो के आठवें राजा आदित्यसेन के शाहपुर लेख के अतिरिक्त सब में तिथि का अभाव है। शाहपुर के लेख की तिथि हर्ष-संवत् (ई० स० ६०६) में ६६ दी गई है‡। इन लेखों में तत्कालीन उत्तरी भारत के अन्य शासकों के नाम भी मिलते हैं() जिनकी समकालीनता के कारण कुछ गुप्त नरेशों का समय निरूपण करने में सरलता होती है। इन्हीं साधनों के आधार पर मागध गुप्तों का शासन-काल निर्धारित किया जाता है।

अपसद लेख से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गुप्तों के चौथे नरेश कुमारगुप्त का युद्ध मौखरि महाराजाधिराज ईशानवर्मा से हुआ था। दोनों राजाओं के पुत्रों (दामोदर-गुप्त व सर्ववर्मन) में भी मुठभेड़ हुई थी। अतएव कुमारगुप्त व दामोदरगुप्त क्रमशः ईशान-वर्मा तथा सर्ववर्मन् के समकालीन हुए। हरहा की प्रशस्ति से पता चलता है कि ईशान-वर्मा ई० स० ५५४ में राज्य करता था[]। अतः कुमारगुप्त भी ई० स० ५५४ के लगभग शासन करता होगा। दूसरी समकालीनता महासेनगुप्त तथा कामरूप के राजा सुस्थितवर्मन् की है जिसको गुप्त-नरेश ने पराजित किया था। सुस्थितवर्मन् छठीं शताब्दी के अंत में राज्य करता था§, अतएव महासेनगुप्त भी छठीं सदी के अंतिम भाग में शासन करता होगा। महासेन का पुत्र माधवगुप्त हर्षवर्धन के समय में मगध का राजा हुआ। अतः मागधगुप्त का शासन सातवीं सदी के मध्य (हर्ष का समय ई० स० ६०६-६४७ तक माना जाता है) में माना जा सकता है। शाहपुर के लेख से आदित्यसेन की तिथि ई० स० ६७२ (६६ + ६०६) ज्ञात है।

---

*वसाक—हिस्ट्री आफ़ नार्दर्न ईस्टर्न इंडिया पृ० २१६।

†शाहपुर व मंदर के लेख—का० इ० इ० भा० ३ न ४४।

‡का० इ० इ० भा० ३ नं० ४३।

()अपसद का लेख—वही, नं० ४२।

[]ए० इ० भा० १४ पृ० ११५।

§वसाक—हिस्ट्री आफ़ नार्दर्न ईस्टर्न इंडिया पृ० २१६।

इसका पुत्र देवगुप्त दक्षिण भारत के चालुक्य-नरेश विनयादित्य के द्वारा पराजित किया गया था जिस युद्ध का वर्णन ई० स० ६८० के केन्डुर प्लेट में मिलता है*। अतएव देवगुप्त व विनयादित्य की समकालीनता के कारण गुप्त-नरेश देवगुप्त सातवीं शताब्दी के अंतिम भाग का शासनकर्त्ता सिद्ध होता है। देवगुप्त के पश्चात् मगध में दो और राजाओं ने शासन किया जिनका राज्य-काल निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। मागध गुप्तों के अन्तिम नरेश द्वितीय जीवितगुप्त को कन्नौज के राजा यशोवर्मा ने पराजित किया जो काश्मीर के राजा ललितादित्य (ई० स० ६९५-७३२) के समकालीन था†। अतएव समकालीनता तथा तिथियों के आधार पर यह पता चलता है कि सम्भवतः मागधगुप्तों का अन्तिम राजा आठवीं शताब्दी के मध्यकाल तक शासन करता रहा‡। इस गणना के आधार पर मगध गुप्त नरेशों की शासन-अवधि प्रायः दो सौ वर्षों तक ज्ञात होती है यानी छठीं शताब्दी के मध्य से आठवीं सदी के मध्य तक वे राज्य करते रहे।

इन गुप्त-नरेशों का शासन किस स्थान से प्रारम्भ हुआ इस विषय में ऐतिहासिकों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का कहना है कि इस गुप्त-शासन का आरम्भ मालवा में हुआ, अतः इनको मागध गुप्त (मगध के गुप्त नरेश) नहीं कह सकते। वस्तुतः इनको 'मालवा के गुप्त राजा कहना चाहिए। इन विद्वानों का कथन है कि गुप्तों के आठवें राजा आदित्यसेन से पूर्व नरेशों का एक भी लेख मगध में नहीं मिलता किन्तु आदित्य से द्वितीय जीवित गुप्त तक शासकों का कार्य क्षेत्र मगध ही था। बाणकृत हर्षचरित में कुमार गुप्त और माधव गुप्त मालव राजा के पुत्र कहे गये हैं। दूसरे शब्दों में छठाँ राजा महासेनगुप्त मालवा का राजा था। सबसे पहला गुप्त राजा मागधगुप्त था जिसके समय में गुप्त लोग मगध पर शासन करने लगे।

स्थान

डा० वैद्य का मत है कि अपसद लेख में उल्लिखित गुप्त नरेश मालवा में शासन करते थे। इस वंश के शासक देवगुप्त (जो राज्यवर्धन का समकालीन नरेश था) के मारे जाने पर मालवा हर्ष के अधीन हो गया। अतः हर्ष ने अपने मित्र माधवगुप्त को मगध का राज्य दे दिया()। यही कारण है कि उसके पुत्र आदित्यसेन तथा उसके उत्तराधिकारी नरेशों के लेख मगध के समीप मिले हैं। डा० राय चौधरी ने भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया है कि मालवा पर गुप्त राजा शासन करते थे किन्तु आदित्यसेन के समय में मगध गुप्त-शासन का केन्द्र हो गया।

---

*बम्बई गज़ेटियर भा० १,२ पृ० १८९,३७१।

†गौडबहो (बम्बई संस्कृत सीरीज़ नं० ३४) भूमिका पृ० ६७,९६।

‡द्वितीय जीवित गुप्त के पिता विष्णु गुप्त का नाम मंगराव की प्रशस्ति में मिलता है जिसकी तिथि विवादास्तद है। डा० अलतेकर के मतानुसार इस लेख में १७ के अंक से पूर्व सौ का भी चिन्ह वर्तमान है। यानी इसकी तिथि ११७ है जिसे हर्ष सम्वत् (६०६ ई०) से सम्बन्धित किया गया है। तात्पर्य यह है कि विष्णु गुप्त ७२३ ई० के समीप राज्य करता था। (ए० इ० भा० २६ पृ० २४१)

()हर्ष पृ० ५३-५६।

यह भी कहा जाता है कि मगध सर्ववर्मन तथा अवन्तिवर्मन के हाथों में था, अतएव गुप्त नामधारी शासकों के लिये वहाँ कोई स्थान नहीं था। एक व्यक्ति ने यह भी सुझाव दिया है कि मौखरि पाटलिपुत्र से ही शासन करते थे जहाँ पर ग्रहवर्मन को मालव नरेश तथा शशांक ने मरवा डाला*। इन सब कारणों से पिछले गुप्त नरेशों का शासन-प्रारम्भ मालवा से मानते हैं। परन्तु यदि समस्त ऐतिहासिक प्रमाणों का अनुशीलन किया जाय तो ज्ञात होता है कि पिछले गुप्तों को मागधगुप्त का कहना सर्वथा उचित है।

राखालदास बैनर्जी ने भी पिछले गुप्तों को मगध का शासक माना है। इस विवाद का मूल आधार हर्षचरित का उल्लेख है जिसमें छठाँ गुप्त राजा मालवा का शासक कहा गया है। यदि अपसद लेख का अध्ययन किया जाय तो इस उल्लेख का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि अपसद-प्रशस्ति में उल्लिखित माधव गुप्त का पिता महासेन गुप्त तथा हर्षचरित का मालवा का शासक महासेन एक ही व्यक्ति है। महासेन गुप्त के पिता दामोदर गुप्त को मौखरि नरेश सर्ववर्मन् ने युद्ध में मार डाला† तथा मगध पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था‡। ऐसी परिस्थिति में कुमार महासेन के लिए यह परमावश्यक हो गया कि वह कहीं अपनी रक्षा करे। इस निमित्त उसने मालवा में अपना निवासस्थान बनाया()। वहाँ भी उसे शान्ति न मिली और कलचुरि नरेश के हाथ उसे पराजित होना पड़ा। ऐसी स्थिति में महासेनगुप्त ने नीति से काम लिया। उस समय थानेश्वर के वर्धनों का प्रताप बढ़ रहा था, इसलिए उस गुप्त-नरेश ने इन वर्धनों से मित्रता स्थापित की। मित्रता को दृढ़ करने के लिए गुप्त राजा ने अपनी बहन महासेन गुप्ता का विवाह थानेश्वर के राजा आदित्यवर्धन से किया था[] तथा अपने दो पुत्रों—कुमार व माधव (मालव-राजपुत्रों)—को थानेश्वर के दरबार में भेज दिया। यही कारण है कि बाण ने हर्षचरित में महासेन को (निवासस्थान के कारण) मालवा का राजा कहा है§। इस प्रकार मित्रता के कारण अपने को शक्तिशाली बनाकर उसने मगध को पुनः गुप्त अधिकार में कर लिया। इसके पश्चात् ही महासेनगुप्त ने कामरूप के राजा सुस्थितवर्मन् को पराजित किया था जिसके कारण इसका यश लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) के किनारे तक गाया जाता था। इस युद्ध का वर्णन अपसद के लेख में मिलता है। पूर्व विद्वानों के कथनानुसार यदि महासेनगुप्त मालवा का राजा था तथा मगध का सर्वप्रथम शासक उसका पुत्र माधवगुप्त हुआ, तो यह सम्भव नहीं था कि दूसरों के राज्य से होकर महासेनगुप्त कामरूप के राजा को पराजित करता। इतना ही नहीं, प्रशस्तिकार के वर्णनानुसार महासेनगुप्त की कीर्ति का विस्तार अधिक प्रकट होता है। इससे भी पूर्व कुमारगुप्त ने ईसानवर्मा को हराया था और उसकी मृत्यु प्रयाग में हुई थी जो

---

*दि मौखरिज पृ० १४-१६।

†अपसद का लेख—फ्लीट नं० ४२।

‡देव वर्नाक का लेख—वही ४६।

()मालवीय कामेमोरेशन वाल्यूम पृ० २६६।

[]बाँसखेड़ा ताम्रपत्र—ए० इ० भा० ४ पृ० २०८।

§हर्ष चरित, उछ्वास ४।

अवश्य ही गुप्त शासित प्रदेश था। इस वंश के तीसरे नरेश जीवितगुप्त ने समुद्रतट (बंगाल) के शत्रुओं को हराया था। अपसद के लेख से सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। मगध में गुप्त सम्राट के वंशज सन् ५४४ तक शासन करते रहे। (सन् ५५४ ई० में ईशान वर्मा परास्त किया गया था) गुप्त सम्राटों के बाद ज्यों ही मौखरि नरेश ने महाराजाधिराज की पदवी धारण किया (यानी पूर्व स्वतंत्रता की घोषणा की) मगधगुप्त नरेश कुमारगुप्त ने उसे पराजित कर दिया। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इस गुप्त वंश का आधिपत्य मगध पर हो गया था। इन सब विवरणों से यही ज्ञात होता है कि पाँचवें राजा दामोदरगुप्त के मारे जाने पर थोड़े समय के लिए मगध मौखरियों के हाथ में था। इसके अतिरिक्त गुप्त-नरेश सर्वदा मगध पर शासन करते रहे। महासेनगुप्त तो केवल अपनी रक्षा के निमित्त मालवा चला गया था। मौखरियों के पश्चात् मगध में पुनः गुप्त-शासन स्थिर करने का श्रेय महासेन गुप्त को है, जहाँ पर उसके उत्तराधिकारीगण राज्य करते रहे। अन्त में इतना कहना आवश्यक मालूम होता है कि मगध के शासक होने के कारण ही पिछले गुप्तों का वर्णन 'मागध गुप्त नाम' से किया गया है।

मागध गुप्तों के नामकरण से ही पता लगता है कि ये मगध के शासक थे। मगध से ही इनका राज्य प्रारम्भ होता है। ये गुप्त नरेश मगध के समीपवर्ती प्रदेशों पर अवश्य शासन करते रहे। सम्भवतः अधिक समय तक इनका राज्य मगध के आसपास सीमित था

राज्य-विस्तार

पर चौथे राजा कुमारगुप्त का राज्य प्रयाग तक विस्तृत था। यहीं पर इस राजा की अन्त्येष्टि क्रिया भी हुई थी। इसके पुत्र दामोदरगुप्त को मारकर सर्ववर्मन् मौखरि ने कुछ समय में लिए मगध पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था परन्तु महासेनगुप्त ने पूर्वी मालवा में स्थित होकर मगध को पुनः अपने हाथ में कर लिया।

सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हर्ष की मृत्यु के कारण उत्तरी भारत में गुप्तों की प्रधानता हो गई। इसका सब श्रेय मगध के आठवें राजा आदित्यसेन को है जिसका राज्य मगध से अंग तक विस्तृत था। इस कथन की पुष्टि इसके पटना, गया तथा भागलपुर जिलों से प्राप्त लेखों से होती है। एक लेख में इसे 'पृथ्वीपति' कहा गया है। 'परम भट्टारक महाराजाधिराज' की महान् उपाधि से सूचना मिलती है कि इसका राज्य तथा प्रताप सुदूर देशों तक फैला था। मागध गुप्तों में आदित्यसेन प्रथम राजा है जिसने इस महान् पदवी को धारण किया था। वातापी के चालुक्य राजा विनयादित्य के केन्डूर प्लेट में आदित्यसेन के पुत्र देवगुप्त के लिए 'सकलोत्तरा-पथनाथ' पदवी का उल्लेख है। इससे प्रकट होता है कि देवगुप्त का राज्य समस्त उत्तर भारत पर नहीं तो पूर्वी प्रदेशों पर अवश्य फैला हुआ था। मागध गुप्तों के अंतिम नरेश द्वितीय जीवितगुप्त का एक लेख देव-बरनार्क नामक ग्राम से मिला है, जिसके वर्णन से ज्ञात होता है कि इस राजा का विजयस्कन्धावार गोमती नदी के किनारे था। गौड़बहो के वर्णन से प्रकट होता है कि कन्नौज के राजा यशोवर्मा ने मगधनाथ गौड़ाधिप को परास्त किया था। इस आधार पर सुझाव रक्खा जा सकता है कि द्वितीय जीवितगुप्त गौड़ का भी शासक था।* इससे स्पष्ट प्रकट

---

*बसाक—हिस्ट्री आफ़ नार्दर्न ईस्टर्न इंडिया पृ० २०८।

होता है कि द्वितीय जीवितगुप्त का राज्य बिहार से लेकर उत्तर प्रदेश के गोमती-तट और गौड़ प्रदेश तक विस्तृत था। इन कथनों का सारांश यही निकलता है कि हर्षवर्धन से पहले गुप्तों का राज्य सीमित था परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् राज्य का विस्तार हो गया। इनके समय के अनेक लेखों, महान् पदवी (परम भट्टारक महाराजाधिराज) तथा चालुक्य लेख में 'सकलोत्तरापथनाथ' की उपाधि से उपरियुक्त कथन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

मागध गुप्तों का वर्णन समाप्त करने से पूर्व इनका उत्तरी भारत के समकालीन शासकों के सम्बन्ध से परिचित होना उचित प्रतीत होता है। जिस समय गुप्त नरेश मगध में शासन करते थे उसी काल में अनेक स्वतंत्र राजा उत्तरी भारत में विद्यमान थे। इनमें मुख्य थानेश्वर के वर्धन, कन्नौज के मौखरि तथा कर्ण-सुवर्ण के गौड़ थे जिनसे मागध गुप्तों का भिन्न भिन्न प्रकार का सम्बन्ध था। राजनीति में अपने पक्ष को प्रबल करने के लिए दूसरे नरेशों से सम्बन्ध रखनी आवश्यक होता है। यह सम्बन्ध या तो मित्रता के रूप में या वैवाहिक ढंग का हो। इस कारण गुप्तों का सम्बन्ध राजनीति के विरुद्ध न था।

समकालीन राजाओं से सम्बन्ध

कन्नौज का मौखरि वंश तथा गुप्त वंश समकालीन था। प्रारम्भ में गुप्त नरेश शक्तिशाली राजा न थे। इनके विषय में कोई ऐतिहासिक घटनाएँ ज्ञात नहीं हैं। उस समय मौखरियों का बल बढ़ रहा था अतएव गुप्तों ने इनसे सम्बन्ध करना आवश्यक समझा। मागध गुप्तों के दूसरे राजा ने अपनी बहन हर्षगुप्ता का ब्याह मौखरि राजा आदित्यवर्मन् से किया*। इस वैवाहिक सम्बन्ध के कारण दोनों वंशों में मित्रता स्थापित हो गई, परन्तु यह अधिक समय तक स्थायी न रह सकी। कालान्तर में इन दोनों वंशजों में शत्रुता पैदा हो गई। ईशानवर्मा से कुमारगुप्त तथा सर्ववर्मन् से दामोदरगुप्त के युद्ध हुए। मालवा के शासक गुप्त-नामधारी देवगुप्त ने मौखरि वंश का नाश कर डाला। इसने गौड़ राजा शशांक से मिलकर मौखरियों के अंतिम नरेश ग्रहवर्मा को मार डाला। हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त तत्कालीन मौखरि नरेश ने मागध गुप्तों की अधीनता स्वीकार की। गुप्त नरेश आदित्यसेन ने अपनी पुत्री का विवाह इस मौखरि-अधिष्ठाता भोगवर्मन् से किया था†।

मौखरि

अपसद लेख में वर्णन मिलता है कि गुप्तों के पाँचवें राजा दामोदर गुप्त को सर्ववर्मन् मौखरि ने युद्ध में मार डाला तथा मगध को अपने अधिकार में कर लिया। इस विकट परिस्थिति से बचने के लिए दामोदर गुप्त के पुत्र महासेनगुप्त ने मालवा को अपना निवास स्थान बनाया। उस समय थानेश्वर में वर्धन् वंश का उदय हुआ था तथा उसकी उन्नति हो रही थी। अतएव महासेन गुप्त ने इनसे सम्बन्ध स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक समझा। यही कारण है कि इसने अपनी बहन महासेनगुप्ता का विवाह थानेश्वर के शासक आदित्यसेन से कर दिया‡। इस सम्बन्ध को अन्य

वर्धन

---

*असीरगढ़ की मुद्रा (का० इ० इ० भा० ३ नं० ४७)

†कीलहार्न—इ० आफ नार्दर्न इंडिया नं० ५४१।

‡बाँसखेड़ा का ताम्रपत्र (ए० इ० भा० ४ पृ० २०८)।

रूप से सुदृढ़ करने के लिए महासेनगुप्त ने अपने दो पुत्रों को थानेश्वर राज-दरबार में भेजा। माधवगुप्त उसी समय से हर्षवर्धन के साथ रहता था। माधव हर्ष के साथ विजय-यात्रा में भी रहा। सम्भवतः इसी मित्रता के फल-स्वरूप हर्ष ने अपने जीवनकाल में ही माधवगुप्त को मगध के राज्यसिंहासन पर बैठाया। महासेनगुप्त तथा वर्धनों के साथ सम्बन्ध का परिणाम यह हुआ कि गुप्तों का अधिकार पुनः मगध पर स्थापित हो गया।

वर्धन-लेखों तथा बाणकृत हर्षचरित में एक मालवा के शासक देवगुप्त के नाम का उल्लेख मिलता है, जो महासेनगुप्त के उपरान्त मालवा में स्थित रहा। उसी समय वर्धनों,

गौड़

मौखरियों तथा मागध गुप्तों में वैवाहिक सम्बन्ध के कारण गहरी मित्रता स्थापित हो गई थी। देवगुप्त कुटिल प्रकृति का मनुष्य था। अतएव इन तीनों की मित्रता से वह जलता था। इस गाढ़ी मित्रता की भावी उन्नति पर विचार कर देवगुप्त इसके नाश करने का प्रयत्न करने लगा। उत्तरी भारत में वर्धन तथा मौखरि को छोड़कर गौड़ नरेश ही ऐसा राजा था जो शक्तिशाली होते हुए मौखरियों का शत्रु था*। अतएव देवगुप्त ने इस अवसर को हाथ से जाने नहीं दिया और शीघ्र ही गौड़-नरेश शशांक से मित्रता कर ली। शशांक को अवसर मिल गया, अतः उसने देवगुप्त के साथ मौखरी राजधानी कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में मौखरियों का अंतिम राजा ग्रहवर्मा मारा गया। थानेश्वर के राजा राज्यवर्धन ने उसकी सहायता की और देवगुप्त आदि को परास्त किया, परन्तु गौड़ाधिपति शशांक ने उसे छल से मार डाला†। इससे अनुमान किया जा सकता है कि देवगुप्त मगध गुप्तों का वंशज नहीं था अन्यथा मौखरिवंश से शत्रुता क्यों करता। घटना के कारण मौखरि वंश का नाश हुआ तथा वर्धनों की बहुत क्षति हुई।

गुप्त-सम्राटों के सदृश मागध नरेश अनेक गुण-सम्पन्न नहीं थे। परन्तु इनमें गुणों का सर्वथा अभाव भी नहीं था। अपसद लेख में सब राजाओं का गुणगान तथा वीरता का वर्णन

मागध गुप्त राजा

मिलता है; लेकिन उनके समय की घटनाओं का प्रामाणिक विवरण उपस्थित नहीं किया जा सकता। गुप्तों के राजा आदित्यसेन ने अपने राज्य की बड़ी उन्नति की थी। स्यात् सिक्के भी चलाये। पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये सिक्के किस राजा के समय के हैं। लेखों के आधार पर ज्ञात होता है कि आदित्यसेन शक्तिशाली नरेश था।

१ कृष्णगुप्त

गुप्त-सम्राटों के शासन का अन्त होने के उपरान्त मगध में छोटे-छोटे गुप्त नामधारी नरेश राज्य करने लगे जिन्हें मागध गुप्त कहा गया है। इस वंश का आदिपुरुष कृष्णगुप्त था। इस राजा की वंश परम्परा के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है, परन्तु इसके वंशजों के विषय में पर्याप्त बातें ज्ञात हैं। इसके वंशज मगध में शताब्दियों तक शासन करते रहे। कृष्णगुप्त

*मौखरियों के चौथे राजा ईशानवर्मा ने गौड़ों को परास्त किया था। उसी समय से गौड़ों तथा मौखरियों में शत्रुता का बर्ताव चला आ रहा था। इस युद्ध का वर्णन हरहा की प्रशस्ति (ए० इ० भा० १४ पृ० ११५) में मिलता है।

†इं० हि० क्वा० १९३० नं० १।

का कोई भी लेख या सिक्का नहीं मिलता जिससे इसके विषय में प्रकाश पड़ता। कृष्णगुप्त का नाम गया जिले में स्थित अपसद के लेख में सर्वप्रथम उल्लिखित मिलता है* जिससे यह मागध गुप्तों का आदिपुरुष कहा जाता है। इस राजा के विषय में ऐतिहासिक बातों का अभाव सा है। अपसदवाले लेख में इसकी वीरता का वर्णन मिलता है। कृष्णगुप्त सत्-चरित्र, विद्वान् तथा सरल राजा था। इसकी सेना में सहस्त्रों हाथी थे जिनसे इसने असंख्य शत्रुओं को युद्ध में पराजित किया था। इस वर्णन के अतिरिक्त कृष्णगुप्त के किसी युद्ध का अन्यत्र संदर्भ तक नहीं मिलता।

२ हर्षगुप्त

कृष्णगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र हर्षगुप्त राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। अपने पिता के सदृश इसके शौर्य तथा पराक्रम का वर्णन उसी अपसद के लेख में मिलता है। हर्षगुप्त कला में निपुण, सदाचारी तथा बलशाली नरेश था। शत्रुओं से युद्ध के कारण उसकी छाती में अनेकों चोटें आ गई थीं। इसके शत्रुओं का नाम उल्लिखित नहीं है। इन गुप्त नरेशों के समकालीन कन्नौज के मौखरि राजा थे जिनसे इसने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। गुप्त तथा मौखरि वंश सर्वदा आपस में शत्रु बने रहे जिसका प्रमाण आगे दिया जायगा। अतएव अधिक संभव है कि हर्षगुप्त ने यह सम्बन्ध युद्ध के सन्धि-स्वरूप किया हो। गुप्त नरेश ने अपनी बहन हर्षगुप्ता का विवाह कन्नौज के दूसरे मौखरि राजा आदित्य-वर्मन् के साथ किया था†। उपरियुक्त कथन के अतिरिक्त हर्षगुप्त के विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है।

३ प्रथम जीवितगुप्त

हर्षगुप्त के पुत्र प्रथम जीवितगुप्त ने, पिता की मृत्यु के पश्चात्, शासन की बागडोर अपने हाथ में ली। अपसद की प्रशस्ति में इसके प्रताप का वर्णन सुंदर शब्दों में मिलता है। गुप्त नरेश ने अनेक शत्रुओं को पराजित किया और घोर पर्वतों तथा कन्दराओं में छिपे हुए शत्रुओ को भी अछूता न छोड़ा यानी सभी को इसके सम्मुख नीचा देखना पड़ा। लेख में वर्णन मिलता है कि इस गुप्त नरेश ने कदली-वृक्षों से घिरे समुद्रतट के शत्रुओं को परास्त किया था। बहुत सम्भव है कि इस गुप्त नरेश ने समकालीन गौड़ राजाओं पर विजय पाई हो जो उस समय स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना चाहते थे। जीवितगुप्त ने अपने राज्य-विस्तार के लिए भी प्रयत्न किया परन्तु इसके विजय के विषय में निश्चित बातें ज्ञात नहीं हैं। सम्भवतः छठीं शताब्दी के मध्य में प्रथम जीवितगुप्त शासन करता था। उपरियुक्त तीन नरेशों की वास्तविक स्थिति के विषय में निश्चितरूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। यह ज्ञात है कि ई० स० ५३२ में मालव नरेश यशोधर्मन ने लौहित्य तक चढ़ाई की थी जिसका विवरण मंदसोर प्रशस्ति में मिलता है। दामोदरपुर ताम्रपत्र (गु० स० २२४-५४३ ई०) से विदित होता है कि गुप्तसम्राट् का राज्य उत्तरी बंगाल पर स्थित था। इसी के समीप जीवित गुप्त

---

*का० इ० इ० भा० नं० ४२।

†असीरगढ़ का ताम्र-मुद्रा (का० इ० इ० भा० ३ नं० ४७)

भी शासन करता रहा। बहुत सम्भव है कि यशोधर्मन के लौट जाने पर जीवितगुप्त ने गुप्त सम्राट् (?) की शक्ति तथा प्रभाव को पुनः स्थापित के लिये बंगाल और हिमालय प्रदेश तक चढ़ाई की हो।

४ कुमारगुप्त

प्रथम जीवितगुप्त के शासन पश्चात् उसके पुत्र कुमारगुप्त ने मगध के सिंहासन को सुशोभित किया। मागध गुप्तों के चौथे राजा कुमारगुप्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

मौखरियों से युद्ध

क्योंकि इसने अपने पराक्रम से तत्कालीन कन्नौज के बलशाली नरेशों को हराया था। अपसद लेख में वर्णन मिलता है कि इसने मौखरि नरेश ईशानवर्मा की सेना को मन्दर पर्वत के सदृश मथ डाला*। मौखरियों के महाराजाधिराज ईशानवर्मा के साथ कुमारगुप्त ने युद्ध की घोषणा क्यों की। इसके ऐतिहासिक कारण ज्ञात नहीं हैं। इस प्रसंग में यह सुझाव रक्खा जा सकता है कि ईशान वर्मा कुमारगुप्त में युद्ध की घोषणा उस समय हुई जब मौखरि राजा गौड़ आदि नरेशों को परास्त कर चुका था। अपसद लेख से यह प्रकट होता है कि प्रथम जीवितगुप्त ने बंगाल पर चढ़ाई की थी। सम्भवतः उसके बाद ही पूर्वी बंगाल के शासक गोपचन्द्र तथा धर्मादित्य शासन के विरोध में सिर उठा रहे थे। जिन्हें ईशान वर्मा ने परास्त कर गुप्तों की प्रतिष्ठा दृढ़ कर दी। इस परिस्थिति में ईशानवर्मा की 'महाराजाधिराज' की पदवी तथा बढ़ते शक्ति को कुमारगुप्त सहन न कर सका और गुप्त तथा मौखरि नरेश लड़ पड़े।

कुमारगुप्त के लेख या सिक्के न मिलने के कारण उसकी शासन-तिथि निश्चित करने में कठिनाई पड़ती है। परन्तु इस गुप्त नरेश के समकालीन मौखरि राजा

राज्यकाल

ईशानवर्मा की तिथि से कुमारगुप्त के शासन-काल का अनुमान किया जा सकता है। हरहा की प्रशस्ति में ईशानवर्मा की ई० स० ५५४ तिथि का उल्लेख मिलता है†। अतएव अनुमानतः कुमारगुप्त ईसा की छठीं शताब्दी के मध्यभाग में (लगभग ई० स० ५६०) शासन करता था।

अपसद शिलालेख‡ से प्रकट होता है कि गुप्त नरेश कुमारगुप्त का अंतिम संस्कार प्रयाग में हुआ।() कुमारगुप्त से पहले गुप्त-सीमा में प्रयाग का नाम नहीं मिलता। प्रयाग

राज्य-विस्तार

में मृत्यु होने के कारण यह स्पष्ट प्रकट होता है कि कुमारगुप्त का राज्य मगध से प्रयाग तक विस्तृत था। सम्भव है कि इसने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर प्रयाग को अपनी राज्य-सीमा में सम्मिलित कर लिया हो।

---

*भीमः श्रीशानवर्मा क्षितिपतिशशिनः सैन्यदुग्धोदसिन्धुः
लक्ष्मीसम्प्राप्तिहेतुः सपदि विमथितो मन्दरीभूय येन।—अपसद शिलालेख।

†एकादशातिरिक्तेषु षट्सु शातितविद्विषि। शतेषु शरदां पत्यौ भुवः श्रीशानवर्मणि।

‡का० इ० इ० भा० ३ नं० ४२।

()शौर्यसत्यव्रतधरो यः प्रयागगतो धमे। अम्भसीव करीषाग्नौ मग्नः स पुष्पपूजितः।

५ दामोदरगुप्त

कुमारगुप्त का पुत्र दामोदरगुप्त अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त गुप्त राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। दामोदरगुप्त के पिता के समय में ही गुप्तों तथा मौखरियों में घनघोर युद्ध हुआ था जिसमें कुमारगुप्त विजयी रहा। दामोदरगुप्त के शासन-काल में भी संकट की अवस्था उपस्थित हो गई। इस गुप्त नरेश को मौखरि राजा ईशान वर्मा के पुत्र सर्ववर्मन् से युद्ध करना पड़ा। दुर्भाग्य से इस युद्ध में गुप्तों को परास्त होना पड़ा तथा दामोदरगुप्तकी मृत्यु युद्धक्षेत्र में हुई*। अपसद के शिलालेख के अतिरिक्त दामोदरगुप्त के नाम का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु शाहाबाद के समीप देव-वरनार्क† को प्रशस्ति के वर्णन से सर्ववर्मन् मौखरि तथा दामोदरगुप्त के परस्पर युद्ध का अनुमान किया जा सकता है। उसमें वर्णित है कि गुप्त राजा बालादित्य (अवनति काल के छटे राजा) के अग्रहार दान को सर्ववर्मन् मौखरि ने पुनः प्रमाणित किया‡। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि सर्ववर्मन् मौखरि ने कुछ काल के लिए शाहाबाद के समीप के प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। यह अवस्था उसी समय सम्भव थी जब गुप्तों को मौखरियों के हाथों परास्त होना पड़ा। दोनों वंशों में परंपरागत शत्रुता होने पर दामोदरगुप्त से पहले गुप्तों ने मौखरियों पर विजय प्राप्त की थी। कुमारगुप्त ने महाराजाधिराज मौखरि नरेश ईशानवर्मा की सेना को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला था। केवल दामोदरगुप्त के समय में मौखरियों ने गुप्तों को परास्त किया। अतएव देव-वरनार्क के लेख में उल्लिखित सर्ववर्मन् मौखरि के अधिकार से यही ज्ञात होता है कि इसने दामोदर गुप्त को परास्त कर मगध के पश्चिमी भाग शाहाबाद तक राज्य विस्तार कर लिया था। प्रशस्ति में इसी वर्णन से दामोदरगुप्त के युद्ध को प्रमाणित करते हैं।

मौखरियों से युद्ध

दामोदरगुप्त वीर तथा पराक्रमी होने के साथ-साथ बहुत बड़ा दानी राजा था। उसने अपने शासन-काल में अनेक ब्राह्मणों की कन्याओं का शुभ विवाह स्वयं द्रव्य देकर सम्पादित करवाया। यही नहीं, उसने उन नव-युवतियों को अमूल्य आभूषण भी दिये। इसके अतिरिक्त राजा ने ब्राह्मण को बहुत ग्राम अग्रहार दान में दिये थे()।

उदारता

---

*यो मौखरेः समितिषूद्धतहूणसैन्यवल्गदुघटाविघटयन्नुरुवारणानाम् ॥
सम्मूर्च्छितः सुरवधूर्वरयन्ममेति तत्पाणिपङ्कजसुखस्पर्शाद्विबुद्धः ॥

†का० इ० इ० भा० ३ नं० ४६।

‡श्री बालादित्यदेवेन स्वशासनेन भागव श्री वरुणवासि भट्टारक......परिवाहक भोजक हंसमित्रस्य समयतया तथा कलाध्यासिभिश्च एवं परमेश्वर श्री सर्ववर्मन्

()गुणवतिद्विजकन्यानां नानालंकारयौवनवतीनाम्।
परिणायितवान्स नृपः शतं निसृष्टाग्रहाराणाम्।

—अपसद का शिलालेख (फ्लीट नं० ४२)।

६ महासेन गुप्त

दामोदर गुप्त के पश्चात् गुप्तों का शासन-प्रबंध उसके पुत्र महासेन गुप्त के हाथ में आया। महासेन गुप्त एक युद्धकुशल तथा प्रतापी नरेश था*। पहले कहा जा चुका है कि गुप्तों को परास्त कर सर्ववर्मन् मौखरि ने मगध के पश्चिमी भाग तक (शाहाबाद जिला) राज्य विस्तार कर लिया था। देव-बरनार्क की प्रशस्ति से प्रकट होता है कि यह प्रदेश सर्ववर्मन् मौखरि के पुत्र अवन्तिवर्मन् के अधीन थोड़े समय तक अवश्य रहा जिसमें वह परमेश्वर कहा गया है†। इन मौखरि नरेशों की मुहरें नालंदा से प्राप्त हुई है‡।

युद्ध तथा राज्यविस्तार

यद्यपि अवन्तिवर्मन् के साथ महासेनगुप्त के युद्ध का कोई उल्लेख नहीं मिलता परन्तु यह सम्भव है कि इस विकट परिस्थिति के कारण उसने मालवा में शरण ली और उज्जैन ही अस्थायी राजधानी स्थिर किया गया। वहाँ भी वह शांति से न रह सका और कलचुरी राजा शंकरगण के द्वारा परास्त किया गया। सम्भवतः वह उसी युद्ध में मारा गया। देवगुप्त() वहाँ का शासक बन बैठा और महासेन के दोनों पुत्रों को वर्धन राज्य में आना पड़ा। बाणकृत हर्षचरित में इस राजा (महासेनगुप्त) के लड़के माधवगुप्त आदि 'मालवराजपुत्रौ' कहे गये हैं[]। इन कारणों से महासेनगुप्त का मालवा का शासक होना स्वयं सिद्ध होता है। अपसद के शिलालेख के वर्णन से ज्ञात होता है कि महासेन गुप्त ने कामरूप के राजा सुस्थितवर्मन् को युद्ध में परास्त किया था§। इस प्रसंग में यह सुझाव रक्खा जा सकता है कि मालवा में शरण लेने से पूर्व महासेन को यह सफलता मिल चुकी थी। डा० बसाक का अनुमान है कि पुण्ड्रवर्धन् (उत्तरी बंगाल) भी हर्षवर्धन से पूर्व मागध गुप्तों के हाथ में था‖। जो भी सत्य हो, इसके लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

कामरूप पर आक्रमण

यह सुस्थितवर्मन् कौन है, इस विषय में मतभेद है। मौखरि तथा गुप्तों में परम्परागत शत्रुता के कारण सुस्थितवर्मन् को कुछ लोग मौखरि नरेश मानते हैं। परन्तु निधानपुर के लेख¶ से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सुस्थितवर्मन् आसाम (कामरूप) के शासक भास्करवर्मन् का पिता था। अतएव इसे मौखरि नरेश कदापि नहीं माना जा सकता।$ यह नरेश (भास्करवर्मन्) वर्धन के राजा हर्ष के समकालीन था।

---

*श्रीमहासेनगुप्तोऽभूत्तस्माद्वीराग्रणी सुतः। सर्ववीरसमाजेषु लेभे यो धुरि वीरताम्।
—अपसद की प्रशस्ति

†भोजक ऋषिमित्र एवं परमेश्वर श्री अवन्ति-वर्मन् पूर्वदत्तक।

‡ए० इ० भा० २१ पृ० ७२ तथा भा० २४ पृ० २८३

()देवगुप्त तथा महासेनगुप्त के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है।

[]हर्षचरित उच्छ्‌वास ४; विनीतौ विक्रान्तावभिरूपौ मालवराजपुत्रौ भ्रातरौ भुजा इव मे शरीरादव्यतिरिक्तौ कुमारगुप्तमाधवगुप्तनामा...।

§श्रीमत्सुस्थिववर्मयुद्धविजयश्लाघापदाङ्कं मुहुः।

‖बसाक—हिस्ट्री आफ़ नार्दर्न ईस्टर्न इंडिया पृ० १८८।

¶ए० इ० भा० १२ पृ० ७०; भा० १९ पृ० ११५।

$ज० ओ० रि० मद्रास भा० ८ पृ० २०। दि मौखरि पृ० ९४।

इस समकालीनता से ज्ञात होता है कि छठीं शताब्दी के अंतिम भाग में सुस्थिववर्मन् पर महासेन ने विजय किया होगा। इसी प्रभाव के कारण इसकी कीर्ति लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) के तट तक गाई जाती थी* ।

महासेनगुप्त ने मौखरियों का बल रोकने और अपने राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए दूसरे राजाओं से सम्बन्ध तथा मित्रता स्थापित करना परमावश्यक समझा। इसी कारण महासेनगुप्त ने थानेश्वर के शासक वर्धनों से मित्रता स्थापित की। वर्धन लेख से ज्ञात होता है कि इस गुप्त नरेश ने अपनी बहन महासेनगुप्ता का विवाह आदित्यवर्धन से किया था†। इसी सम्बन्ध के कारण महासेनगुप्त के दोनों पुत्रों—कुमार व माधवगुप्त—थानेश्वर राजदरबार में हर्ष के साथ रहे।‡

वर्धनों से सम्बन्ध

७ माधवगुप्त

महासेनगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र माधवगुप्त ही मगध का उत्तराधिकारी हुआ; परन्तु माधवगुप्त के समय में राजनैतिक स्थिति सर्वथा भिन्न हो गई थी। अतएव मगध का शासनकर्त्ता होने से पूर्व माधवगुप्त तथा तत्कालीन राजनैतिक अवस्था का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।

यह पहले कहा जा चुका है कि महासेनगुप्त ने अपने दोनों पुत्रों माधवगुप्त तथा कुमारगुप्त को थानेश्वर के राज दरबार में भेज दिया था तथा वहाँ वे वर्धन राजकुमारों—हर्ष और राज्यवर्धन—के साथ रहते थे। सम्भवतः गुप्तवंशज कुमार देवगुप्त इस कार्य से अप्रसन्न होकर महासेनगुप्त से पृथक् हो गया और उसकी मृत्यु पश्चात् वर्धनों का शत्रु बन गया। यह सर्व विदित है कि महासेनागुप्त के शासन पश्चात् उत्तरी भारत में वर्धनों का प्रताप फैला और उन राजाओं ने एक वर्धन-साम्राज्य स्थापित कर लिया था। वर्धनों ने कन्नौज के मौखरियों से मित्रता स्थापित की। थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन ने अपनी पुत्री का विवाह मौखरि नरेश ग्रहवर्मा के साथ किया। उस समय गुप्तों तथा मौखरि वंश में परम्परागत शत्रुता होने पर भी थानेश्वर के दरबार में रहने के कारण माधवगुप्त इस मौखरि और वर्धन संबंध का विरोध नहीं कर सकता था परन्तु देवगुप्त कब इसको सहन कर सकता, अतएव उसने बदला लेने की प्रतिज्ञा की।

देवगुप्त

---

*लौहित्यस्य तटेषु शीतलतलेषूत्फुल्लनागद्रुमच्छायासुप्तविबुद्धमिथुनैः स्फीतं यशो गीयते। (अपसद की प्रशस्ति)।

†श्री आदित्यवर्धनः तस्य पुत्र तत्पादानुध्यातो श्री महासेनगुप्तादेव्यामुत्पन्नः।-बाँसखेड़ा ताम्रपत्र (ए० इ० भा० ४ पृ० २०८); सोनपत मुद्रालेख (का० इ० इ० भा० ३ नं० ५२)।

‡श्रीहर्षदेवनिजसंगवाञ्छया च।—(अपसद का शिलालेख)।

यह देवगुप्त कौन था; उस विषय में निश्चित मत व्यक्त नहीं किया जा सकता। मागध गुप्तों की (अपसद* व देव-वरनार्क† लेखों में उल्लिखित) वंशावली में देवगुप्त का नाम नहीं मिलता, अतएव देवगुप्त का स्थान इस वंशावृत्त में निर्धारित करना कठिन ज्ञात होता है। परन्तु वर्धन लेख‡ तथा बाणकृत हर्षचरित() में देवगुप्त का उल्लेख मिलता है। इस आधार पर यह निश्चित है कि महासेनगुप्त के पश्चात् देवगुप्त मालवा का शासक बना रहा और माधवगुप्त थानेश्वर दरबार में रहता था। वहीं से देवगुप्त मौखरि वंश को नष्ट करने का प्रयत्न करने लगा। देवगुप्त के समकालीन मौखरि राजा ग्रहवर्मा के प्रपितामह ईशानवर्मा के समय में ही बंगाल के शासक गौड़ों को परास्त होना पड़ा था[], इसलिए उसी समय से मौखरि तथा गौड़ वंशों में शत्रुता चली आ रही थी। इस शत्रुता से लाभ उठाकर देवगुप्त ने गौड़ के शासक शशांक से मित्रता की तथा मौखरियों का नाश करने के लिए उसे बुलवा भेजा। बाण के वर्णन से ज्ञात होता है कि प्रभाकरवर्धन की मृत्यु होते ही मालवा के राजा (देवगुप्त) ने मौखरि राजा ग्रहवर्मा को मार डाला तथा उसकी स्त्री राज्यश्री को कारागार में बन्द कर दिया§। मौखरि नरेश ग्रहवर्मा की मृत्यु का दुःखद समाचार जब थानेश्वर पहुँचा तो हर्षवर्धन के जेठे भ्राता राज्यवर्धन ने मालवराज पर आक्रमण किया और कन्नौज के शत्रुओं को परास्त किया$। परन्तु इस विजय के बाद भी राज्यवर्धन सकुशल न रह सका। और अंत में वर्धनों के शत्रु गौड़ाधिपति शशांक और देवगुप्त में इसका बध कर डाला‖। यही कारण है कि देवगुप्त नीच व्यक्ति कहा गया है$$।

देवगुप्त का द्वेशभाव

इन सब राजनैतिक परिस्थितियों में भी माधवगुप्त ने हर्ष का साथ नहीं त्यागा। राज्यवर्धन के मारे जाने तथा अपनी बहन राज्यश्री को जंगल से वापस लाने पर वर्धन महाराजाधिराज हर्षदेव ने अपने कुल के शत्रुओं पर आक्रमण किया जिसमें विजयलक्ष्मी सर्वत्र इसी के हाथ आई। इस विजय-यात्रा में माधवगुप्त ने हर्ष के साथ सर्वदा सहयोग किया तथा हर्षवर्धन उत्तरी भारत में एक विस्तृत साम्राज्य

माधव व हर्ष

---

*का० इ० इ० भा० ३ नं० ४२।

†वही नं० ४६।

‡बाँसखेड़ा का का ताम्रपत्र (ए० इ० भा० ४ पृ० २०८)

()हर्षचरित—उच्छ्वास ६।

[]कृत्वा चायति मोचितस्थलभुवो गौडान्समुद्राश्रयानध्यासिष्ट नतक्षितीशचरणः सिंहासनं योजिती।

—हरहा का लेख (ए० इ० भा० १४ पृ० ११५)

§यस्मिन्नहनि अवनिपतिरुपरत इत्यभूद्वार्ता तस्मिन्नेव देवो ग्रहवर्म्मा दुरात्मना मालवराजेन जीवलोकमात्मनः सुकृतेन त्याजितः। भर्तृदारिकापि राज्यश्री कालायसनिगडचुम्बितचरणचौराङ्गना इव संयता कान्यकुब्जे कारायां निक्षिप्ता।—हर्षचरित उ० ६।

$राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्रीदेवगुप्तादयः
कृत्वा येन कशाप्रहारविमुखाः सर्वे समं संयताः
उत्खाय द्विषतो विजित्य वसुधां कृत्वा प्रजानां प्रियः
प्राणानुज्झितवानरातिभवने सत्यानुरोधेन यः॥—बाँसखेड़ा ताम्रपत्र।

‖इ० हि० क्वा० भा० ८ पृ० ९—११।

$$दुरात्मना मालवराजेन हर्षच० उ० ६—। दुष्टवाजिन इव—बाँसखेड़ा ताम्रपत्र।

स्थापित करने में सफल हुआ। हर्ष की माधवगुप्त पर विशेष कृपादृष्टि थी। सम्भवतः विजय-यात्रा के समाप्त होने पर हर्ष ने माधवगुप्त को मागध के राज्य-सिंहासन पर बिठाया। माधव गुप्त मगध सिंहासन पर कब आया यह कहना कठिन है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने हर्षवर्धन को

मागध का शासक

मगध का राजा कहा है जिसने ६४१ ई० में चीन में अपना राजदूत भेजा था*। नालन्दा में हर्षदेव की एक मिट्टी की मुद्रा भी मिली है†। आदित्यसेन के शाहपुर लेख में हर्ष सम्वत् का भी प्रयोग मिलता है। इस आधार पर यह कहा जाता है कि हर्ष वर्धन मगध का शासक अवश्य था‡। उसने अपने शासन के अंत में माधवगुप्त को मगध में अपना प्रतिनिधि घोषित किया। स्यात् यह ६४१ ई० के बाद सम्पन्न किया गया था। हर्ष की मृत्यु पश्चात् (६४७ ई० के बाद) उत्तरी भारत की राज-नैतिक परिस्थिति डावाँडोल हो गई। इस भाग में कोई शक्तिशाली शासक न रहा इस कारण अन्य सामन्त या शासक स्वतन्त्र होते गये। बहुत सम्भव है कि माधवगुप्त ने भी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी जिसका आभास अपसद के लेख में मिलता है। आसाम के राजा भास्कर वर्मन ने उत्तरी बंगाल को भी जीत लिया। किन्तु माधवगुप्त मगध की सीमा के बाहर जाना उचित नहीं समझा और यहीं स्वतन्त्र शासक के रूप में शासन करने लगा।

अपसद शिलालेख में माधवगुप्त के विस्तृत गुणगान तथा प्रताप का वर्णन मिलता है परन्तु यह सब कार्य माधव ने हर्ष के साथ सम्पादन किया होगा। इस वर्णन से ज्ञात होता है

माधव के गुण

कि माधवगुप्त बहुत बड़ा वीर, यशस्वी तथा त्यागी राजा था। यह गुणी होते हुए भी युद्ध में सर्व अग्रणी योद्धा था()। इसने बहुत बलवान् शत्रुओं को परास्त कर यश प्राप्त किया था[]। इन सब वर्णनों से प्रकट होता है कि माधवगुप्त किसी प्रकार से भी भयभीत होकर या बलहीन होने के कारण वर्धनों की छत्रछाया के अन्दर राज्य नहीं करता परन्तु हर्षदेव से गाढ़ी मित्रता के कारण ही§ उसने (हर्ष के कहने पर) मगध के सिंहासन को सुशोभित किया।

माधवगुप्त का शासन-काल स्थिर करने के लिए वर्धन के राजा हर्षदेव की समकालीनता के अतिरिक्त कोई ऐतिहासिक बातें उपलब्ध नहीं हैं। हर्ष की शासनअवधि ई० स० ६०६-

शासन-काल

६४७ तक मानी जाती हैं, अतएव उस समय के बाद ही माधव का शासन आरम्भ हुआ था। इस आधार पर यह पता चलता है कि माधवगुप्त का शासन सातवीं सदी के तीसरे चरण में अवश्य समाप्त हो गया होगा।

---

*वाटर भा० १ पृ० ३५१

†मे. आ. स. इ. नं० ६६ पृ० ६८

‡इ. ए. भा. ९ पृ० १९: वाटर भा. १ पृ० ३४३

()श्री माधवगुप्तोऽभून्माधव इव विक्रमैकरसः,—नुस्मृतो धुरि रणे श्लाघावतामग्रणी, सौजन्यस्य निधानमर्थनिचयं त्यागोद्धुराणां वरः।

[]आजो मया विनिहता बलिनो द्विषन्तः कृत्यं न मेऽस्त्यपरमित्यववार्य वीरः।

§श्रीहर्षदेवनिजसङ्गमवाञ्छया च।—अफसाद की प्रशस्ति (फ्लीट नं० ४२)

८ आदित्यसेन

सातवीं शताब्दी के मध्यभाग में वर्धन के महाराजाधिराज हर्षदेव की मृत्यु होने पर उत्तरी भारत में कोई भी दूसरा बलशाली नरेश न था जो अपना प्रभुत्व स्थापित करता। केवल गुप्तों में राजा आदित्यसेन था जिसने इस अवसर से लाभ उठाया। माधवगुप्त ने हर्ष की संरक्षता में मगध पर शासन आरम्भ कर बाद में स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। इस राजनैतिक परिवर्तन में माधव के पुत्र आदित्यसेन ने एक विस्तृत राज्य स्थापित किया तथा पुनः प्राचीन गुप्त सम्राटों का अनुकरण किया। मन्दर लेख में उसकी महान् पदवी से प्रकट होता है कि आदित्यसेन एक शक्तिशाली राजा था। नेपाल के एक लेख में भी "मगधाधिपस्य महतः श्री आदित्यसेनस्य" का उल्लेख मिलता है जिससे इसके विस्तृत प्रभाव की सूचना मिलती है।

लेख

आदित्यसेन के शासन-काल के अनेक लेख मिले हैं जिनसे उसका समय स्थिर करने में बहुत सहायता मिलती है। इन्हीं लेखों के आधार पर उसके शासन की अवधि की अन्य ऐतिहासिक घटनाएँ ज्ञात होती हैं।

(१) अपसद का शिलालेख*

मागध गुप्तों का इतिहास जानने के लिए अपसद शिलालेख से अधिक कोई भी लेख महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह लेख पर्याप्त रूप से बड़ा है। इसी लेख द्वारा आदित्यसेन से पूर्व की गुप्त वंशावली ज्ञात होती है। इसकी तिथि ज्ञात नहीं है। यह लेख गया जिले के अन्तर्गत अपसद नामक ग्राम से मिला था। इसमें आदित्यसेन की माता द्वारा निर्मित धर्मशाला तथा उसकी स्त्री द्वारा तालाब खुदवाने का वर्णन मिलता है। इन सब कारणों से यह लेख अधिक महत्त्वपूर्ण है। आदित्यसेन का यह सबसे प्रथम लेख है।

(२) शाहपुर का लेख†

आदित्यसेन के समय का यह दूसरा लेख है। इसकी तिथि हर्ष-संवत् में उल्लिखित है जो ६६ है। यह लेख सूर्यप्रतिमा के अधोभाग में खुदा है। इस मूर्ति को सालपक्ष नामक व्यक्ति ने स्थापित किया था। गुप्त राजा आदित्यसेन के शासन-काल का यही एक लेख तिथि-युक्त है जिससे उसका काल निर्धारित किया जाता है। पटना जिले के बिहार से नौ मील दक्षिण शाहपुर ग्राम से यह ले प्राप्त हुआ था।

(३—४) मन्दर का शिलालेख‡

आदित्यसेन के दो लेख मन्दर से मिले हैं। ये लेख भागलपुर ज़िले के बंका से सात मील दूर स्थित मन्दर पर्वत पर उत्कीर्ण हैं। इनमें तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। इस लेख

---

*का० इ० इ० भा० ३ नं० ४२।

†वही नं० ४३।

‡का० इ० इ० भा० ३ नं० ४४,४५।

में आदित्यसेन के लिए 'परम भट्टारक महाराजाधिराज' पदवी उल्लिखित है* । इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि ये लेख आदित्यसेन द्वारा स्वतंत्र राज्य स्थापित करने के पश्चात् उत्कीर्ण कराये गये थे। अतएव इन लेखों की तिथि अपसद और शाहपुर लेख से पीछे की होगी। इस लेख के वर्णन से ज्ञात होता है कि राजा आदित्यसेन की स्त्री ने एक कासार निर्माण करवाया था।

(५) मन्दर का लेख

फ्लीट महोदय का कथन है कि यह लेख भी मन्दर पर्वत से लाया गया था†। यह आदित्यसेन का पाँचवाँ लेख ज्ञात होता है। इस लेख के वर्णन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि आदित्यसेन ने दिग्विजय किया था और इसके फलस्वरूप उसने 'अश्वमेध यज्ञ' किया। इस राजा को पृथिवीपति की उपाधि दी गई है। इस लेख में विपुल धन तथा असंख्य हाथी-घोड़ों के दान का वर्णन मिलता है। उस स्थान पर विष्णुभगवान् के अवतार वराह की प्रतिमा स्थापित है। इसमें राजा को समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का शासक बतलाया गया है‡। यह लेख आदित्यसेन का सबसे अन्तिम लेख है।

शासन-काल

यह कहा जा चुका है कि ईसा की सातवीं सदी के तीसरे चरण आदित्यसेन का शासन प्रारम्भ हुआ था। इसके अतिरिक्त इस गुप्त नरेश के शाहपुर-वाले लेख से इसकी तिथि निर्धारित की जा सकती है। उस लेख में तिथि हर्ष संवत् (ई० स० ६०६) में ६६ का उल्लेख मिलता है। अतएव आदित्यसेन ई० स० ६७२ (६६ + ६०६) में शासन करता था। शाहपुर लेख के पश्चात् उसके दो लेख मन्दर पर्वत पर खुदे मिलते हैं जिससे प्रकट होता है कि ई० स० ६७२ के उपरान्त भी आदित्यसेन राज्य करता था। इन सब विवेचनों के आधार पर उसकी शासन-अवधि अनुमानतः ई० स० ६७२-७६ तक मानी जा सकती है।

राज्य विस्तार

ईसा की सातवीं शताब्दी के पूर्व भाग में हर्षवर्धन ने उत्तरी भारत में एक साम्राज्य स्थापित कर लिया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् राज्य का कोई उत्तराधिकारी न था। इस कारण उत्तरी भारत में एक प्रकार की अराजकता फैल गई। इस राजनैतिक उथल-पुथल के समय में आदित्यसेन ने नीति से काम लिया। इसने अपने बाहुबल से गुप्त राज्य का विस्तार ही नहीं किया प्रत्युत उसे इतना सुदृढ़ बनाया कि इसके वंशज शांतिपूर्वक राज्य करते रहे। इन्हीं कारणों से लेखों में इसके लिए महान् पदवियाँ 'परमभट्टारक महाराजाधिराज'() तथा 'पृथ्वीपति'[] का प्रयोग किया गया है। इसके लेख गया, पटना तथा भागलपुर आदि स्थानों में मिले हैं, जिससे प्रकट होता है कि इसके

---

*कुछ विद्वानों का मत है कि आदित्यसेन आरम्भ में किसी राजा के अधीन था क्योंकि इसके पूर्व के लेखों में उसके लिये इस पदवी का उल्लेख नहीं मिलता। पर इस विचार के लिये कोई प्रमाण नहीं है।

†वही पृ० २१३ नोट।

‡शास्ता समुद्रान्तवसुन्धरायाः,.....प्रभावो बभूव।

()मन्दर का लेख (का० इ० इ० भा० ३ नं० ४४)।

[]वही (फ्लीट—पृ० २१३ नोट)।

समय में गुप्त राज्य अंग तथा मगध पर विस्तृत था। गुप्त-साम्राज्य के नष्ट होने पर पिछले गुप्तों में आदित्यसेन ऐसा राजा हुआ जिसका प्रताप दूर तक फैला और उसने बड़ी पदवी धारण की थी। देववरनार्क के लेख में गोमती कोट्टक दुर्ग का नाम आया है जहाँ से वह लेख लिखा गया था। यदि इस दुर्ग को गोमती नदी के किनारे मान लिया जाय तो प्रकट होगा कि उत्तरप्रदेश के कुछ भाग पर मागध गुप्तों का राज्य विस्तृत था। यह घटना संभवतः आदित्यसेन के समय में ही मानी जा सकती है। वैद्यनाथ धाम के लेख से यह प्रकट होता है कि उसका राज्य दक्षिण-पश्चिम बंगाल तक फैला था जो राज्य की पूर्वी सीमा रही होगी।*

अश्वमेध यज्ञ

प्राचीन प्रणाली के अनुसार आदित्यसेन ने अपने विजय के उपलक्ष में अश्वमेध यज्ञ किया था। इसके एक लेख में इस यज्ञ का वर्णन मिलता है† और दक्षिण में विपुल धन तथा अगणित हाथी-घोड़ों का दान भी वर्णित है। लेख में वर्णित अश्वमेध यज्ञ की पुष्टि कुछ विद्वान् सिक्कों से भी करते हैं। पूर्वी बङ्गाल में कुछ सोने के सिक्के मिले हैं जिनकी बनावट गुप्त ढङ्ग की अवश्य है परन्तु वे बहुत ही अशिष्ट रूप (Rude) के हैं। इन पर अंकित मूर्ति को देखने से घोड़े के सिर की आकृति मालूम पड़ती है। इन सिक्कों पर कुछ पढ़ा नहीं जाता। ये सिक्के किस राजा के समय के हैं, यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु भट्टशाली का कथन है कि ये सिक्के गुप्त राजा आदित्यसेन के हैं। उनके कथनानुसार सिक्कों पर अंकित घोड़े के सिर की मूर्ति अश्वमेध यज्ञ का द्योतक है। इस प्रकार लेख में वर्णित अश्वमेध यज्ञ की प्रामाणिकता इन सिक्कों से की जाती है‡। भट्टशाली का कथन कहाँ तक सत्य है, इसका विचार ऐतिहासिक विद्वानों पर निर्भर है। लेख के आधार पर आदित्यसेन द्वारा अश्वमेध यज्ञ करने की प्रमाणिकता में कोई आपत्ति नहीं है।

सार्वजनिक कार्य

इस प्रतापी राजा के शासन-काल में गुप्त-राज्य की बहुत उन्नति हुई। राजा से लेकर राजपरिवार तक समस्त व्यक्ति सार्वजनिक उपकारिता के काम में संलग्न रहते थे। यशस्वी राजा आदित्यसेन ने भगवान् विष्णु का मंदिर बनवाकर अपने धार्मिक प्रेम का परिचय दिया था()। इसकी उन्नत विचारशीला वृद्धा माता श्रीमती देवी ने धार्मिक शिक्षा के लिए एक मठ बनवाया था[]। आदित्यसेन की पत्नी श्री कोणदेवी ने जनता के कल्याण के निर्मित्त एक जलाशय खुदवाया जिसका पानी लोगों के पीने के काम में लाया जाता था§। इस प्रकार समस्त राजपरिवार जनता की भलाई तथा परोपकार में तन मन धन से लगा रहता था।

---

*इ० इ० भा० १५ नं० १९ पृ० ३०१-१५ (टिपरा का ताम्रपत्र हर्ष स० ४४)।

†वही।

‡जे० ए० एस० बी०। (न्यूमिसमेटिक सप्लिमेंट)

()तेनेदं भवनोत्तमं क्षितिभुजा विष्णोः कृते कारितम्।—(अपसद का लेख)

[]तज्जन्या महादेव्या श्रीमत्या कारितो मठः। धार्मिकेभ्यः स्वयं दत्तो सुरलोकगृहोपमः।
—(अपसद का लेख)

§राजा खानितमद्भुतं सुपयसा पेपीयमानं जनैः। तस्यैव प्रियभार्यया नरपतेः श्रीकोणदेव्या सरः।—(अपसद की प्रशस्ति)

परमभट्टारक महाराजधिराज श्री आदित्यसेनदेवदयिता परमभट्टारिका महादेवी श्री कोणदेवी पुष्करिणी कारिता—मन्दर का लेख (नं० ४४)

गुप्तनरेश आदित्यसेन ने अपने राज्य-विस्तार तथा प्रजा की वैभव-वृद्धि के साथ साथ प्राचीन वैदिक मार्ग का अवलम्बन किया। गुप्त सम्राटों के सदृश इस राजा ने भागवतधर्म में अनुराग पैदा किया और यह वैष्णवधर्म का गाढ़ा अनुयायी हो गया। आदित्यसेन ने अपने उपास्यदेव भगवान विष्णु का मंदिर बनवाया था*। वैष्णव धर्मावलम्बी होने के कारण इसके वंशज द्वितीय जीवितगुप्त के लेख में आदित्यसेन के लिए 'परमभागवत' उपाधि प्रयुक्त है†। मंदर पर्वत के समीप इस नरेश ने विष्णु के अवतार वराह की मूर्ति स्थापित की थी‡। मागध गुप्तों में केवल आदित्यसेन ही ऐसा राजा था जिसने गुप्त सम्राटों के समान वैष्णव धर्म स्वीकार किया। वैष्णव धर्मानुयायी होते हुए भी आदित्यसेन में धार्मिक सहिष्णुता थी। इसी के शासन-काल में सेनानायक सालपक्ष ने सूर्यदेव की प्रतिमा स्थापित की थी()।

धर्म

आदित्यसेन वैदिक-मार्ग का अनुयायी तथा आर्य सभ्यता का प्रेमी भी था। इसके राज्य-विस्तार से वीरता तथा पराक्रम का परिचय मिलता है। शत्रुओं का नाश करने तथा रण-कुशलता के कारण इसका यश बहुत ही बढ़ गया था[] जिसका वर्णन अपसद के शिलालेख में मिलता है। गुप्त-नरेश के लौकिक कार्य से इसके चरित्र की महत्ता प्रकट होती है। राजा के अतिरिक्त राजपरिवार में वृद्धा माता तथा साध्वी भार्या भी उपकार में संलग्न रहती थी। आदित्यसेन ने अपनी पुत्री का विवाह मौखरि भोगवर्मन् से किया था जिसका नाम नेपाल की प्रशस्ति में मिलता है§। इस प्रकार आदित्यसेन का शासन-प्रबंध सुदृढ़ तथा वैभव पूर्ण था।

चरित्र

९ द्वितीय देवगुप्त‖

आदित्यसेन के शासन के पश्चात् उसके पुत्र देवगुप्त ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली। इस गुप्त-नरेश का नाम तथा इसके वंशजों की नामावली देव-वरनार्क के लेख में

---

*तेनेदं भवनोत्तमं क्षितिभुजा विष्णोः कृते कारितम्—(अपसद का लेख नं ४२)

†श्री श्रीमत्यामुत्पन्नः परमभागवत श्रीआदित्यसेनदेवः। देव वरनार्क का लेख। (का० इ० इ० भा० ३ नं० ४६)

‡का० इ० इ० भा० ३ पृ० २१३ नोट।

()शाहपुर का लेख (फ्लीट नं० ४३)

[]मा.........मागतमरिध्वंसोत्थमाप्तं यशः श्लाघ्यं सर्वधनुष्मतां पुर इति श्लाघां परां बिभ्रती।

........ज्ञ सकलरिपुबलध्वंसहेतुर्गरीयान्निस्त्रिंशोत्खातघातश्रमजनितजडोऽप्यूर्जितस्वप्रतापः।

—(अपसद की प्रशस्ति)

§इ० ए० भा० ९ पृ० १७८ (पद्य १३)।

‖मालवा के राजा देवगुप्त से भिन्नता दिखलाने के लिए इस राजा को देवगुप्त द्वितीय कहा गया है।

उल्लिखित है*। इस उल्लेख के अतिरिक्त किसी अन्य गुप्तलेख में इसका नाम नहीं मिलता। अतएव इसके विषय में कुछ अधिक ऐतिहासिक बातें उपलब्ध नहीं हैं।

अपने पिता आदित्यसेन के सदृश देवगुप्त ने भी परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर की उपाधि धारण की थी†। इसके शासन-काल में एक विशेष घटना का उल्लेख मिलता है।

चालुक्यों से युद्ध

देवगुप्त के समकालीन पश्चिम में वातापी के चालुक्य नरेश शासन करते थे। ई० स० ६८० के लगभग चालुक्य राजा विनयादित्य के द्वारा 'सकलोत्तरापथ नाथ' पदवी-धारी उत्तरी-भारत के नरेश के पराजय का वर्णन मिलता है‡। शाहपुर के लेख से ई० स० ६७२ में आदित्यसेन का शासन प्रकट होता है। अतएव उसका पुत्र देवगुप्त ई० स० ६८० के लगभग उत्तरी भारत में अवश्य शासन करता होगा। इससे प्रकट होता है कि विनयादित्य ने देवगुप्त पर विजय पाई थी। अतएव 'सकलोत्तरापथनाथ' की उपाधि गुप्तनरेश देवगुप्त के लिए ही प्रयुक्त है।

सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में भ्रमण करनेवाले कोरिया के यात्री ह्यूईलुन ने पूर्वी भारत में शासन करनेवाले राजा देववर्मन् का उल्लेख किया है()। वह पूर्वी भारत का शासक था[] और चीन मंदिर को दान दिया था। समय के विचार से विद्वानोंने इस देववर्मन् की समता मागध राजा देवगुप्त से की है। इस यात्री के विवरण तथा चालुक्य लेख के अतिरिक्त देवगुप्त का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

वातापी चालुक्य नरेश विनयादित्य की समकालीनता से प्रकट होता है कि गुप्त राजा देवगुप्त ई० स० ६८० के लगभग शासन करता था। देवगुप्त की लम्बी उपाधियों से प्रकट होता है कि आदित्यसेन के समान इसका भी प्रभाव सर्वत्र फैला था।

राज्य-काल

'सकलोत्तरापथनाथ' (सब उत्तर दिशा के स्वामी) से सूचना मिलती है कि देवगुप्त का प्रताप सारे उत्तरी भारत में विस्तृत था। देव-वरनार्क के लेख में देवगुप्त को 'परम महेश्वर' कहा गया है§। अतएव यह प्रकट होता है कि यह शिव का उपासक था।

---

*का० इ० इ० भा० ३ नं० ४६।

†'श्रीआदित्यसेन देव तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो परमभट्टारिकाया राज्ञां महादेव्या श्री कोणदेव्या मुत्पन्नः परमाहेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वरदेवगुप्तदेव'।
—देव-वर्कनार्क का लेख।

‡केन्दूर प्लेठ, बम्बई गजेटियर जि० १ भा० २ पृ० १८९।

()बील—लाइफ आफ ह्वेनसाँग भूमिका पृ० ३६-३७।

[]मगध पूर्वी भारत के अन्तर्गत माना जाता रहा। इत्सिंग सर्व प्रथम गौड़ में आया जहाँ देवगुप्त शासन करता था। इसलिये उसने लिखा है कि देववर्मन (देवगुप्त) पूर्वी भारत का शासक था।

§'परम माहेश्वर परमभट्टारक महाराजधिराज परमेश्वरदेवगुप्त देव'—का० इ० इ० भा० ३ नं० ४६।

१० विष्णु गुप्त

देव-वरनार्क के लेख से ज्ञात होता है कि देवगुप्त का पुत्र विष्णु गुप्त राज्य का उत्तराधिकारी हुआ*। इसके १७ वें वर्ष का एक लेख बक्सर तथा कैमूर पठार के उत्तर में मंगराव नामक स्थान से प्राप्त हुआ है इसमें एक पल तेल के दान का वर्णन है। इस विष्णुगुप्त को देवगुप्त के पुत्र विष्णुगुप्त से समता की जाती है। इससे प्रकट होता है कि मगध का राज्य शाहाबाद के दक्षिण पश्चिमी भाग तक विस्तृत था। स्यात् उत्तर प्रदेश के कुछ भाग विष्णु गुप्त के राज्य में सामिल था। सम्भवतः वह ई० स० ७१५ तक शासन करता रहा।

गुप्तों के सोने के सिक्कों में कुछ भद्दी बनावट के सिक्के भी हैं। उनमें एक पर 'विष्णुगुप्त' तथा 'चन्द्रादित्य' लिखा मिलता है†। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि ये सिक्के इसी

विष्णुगुप्त के सिक्के

विष्णुगुप्त के हैं। सम्भव है कि 'चन्द्रादित्य' उसकी उपाधि हो किन्तु निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

देव-वरनार्क के लेख में विष्णुगुप्त के लिए 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' पदवी मिलती है। यदि उपरियुक्त सिक्के भी इसी विष्णुगुप्त के हों तो इस राजा के प्रभावशाली होने

उपाधि

की सूचना मिलती है। उसी लेख में उसके लिए 'परम माहेश्वर' की उपाधि दी गई है। इससे प्रकट होता है कि अपने पिता के सदृश विष्णुगुप्त भी शैव था‡।

११ द्वितीय जीवित गुप्त

यह मागध गुप्तों का अन्तिम राजा था जो अपने पिता विष्णुगुप्त के पश्चात् राजसिंहासन पर बैठा। इसके शासन के पश्चात् मागध गुप्तों का वंश नष्ट हो गया, क्योंकि इसके बाद किसी भी गुप्त राजा का शासन मगध में ज्ञात नहीं है। इसके जीवन-सम्बन्धी किसी विशेष घटना का उल्लेख भी नहीं मिलता।

द्वितीय जीवितगुप्त का एक लेख आरा (विहार प्रांत) के समीप देव-वरनार्क ग्राम से प्राप्त हुआ है ()। इसमें तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। लेख में राजा के लिए महान्

लेख

उपाधि 'परम भट्टारक महाराजाधिराज' का प्रयोग मिलता है। लेख प्राचीन अग्रहार दान लिखने की शैली में लिखा गया है। यह एक बहुत बड़ा लेख विष्णु-मंदिर के द्वार पर उत्कीर्ण है। इसके वर्णन से मालूम होता है कि द्वितीय

---

*श्री देवगुप्त देव तस्य पुनः तत्पादानुध्यातो......श्री विष्णुदेवगुप्त।

†एलन—गुप्त क्वायन पृ०१४५।

‡परममाहेश्वर परमभट्टारक महाराजधिराज परमेश्वर श्री विष्णुगुप्त देव —का० इ० इ० भा० ३ नं० ४६ :

()का० इ० इ० भा० ३ नं० ४६।

जीवितगुप्त का विजय-स्कन्धावार गोमती के किनारे था। गुप्त राजा ने इस लेखद्वारा पूर्व दान देनेवाले बालादित्य तथा सर्ववर्मन् मौखरि के अग्रहार दान का अनुमोदन किया है।*

देव-बरनार्क लेख के वर्णन से जीवितगुप्त उदारचित्र का राजा ज्ञात होता है। अग्रहार दान के अनुमोदन से राजा के उच्च विचार तथा दयाभाव का परिचय मिलता है। 'परम भट्टारक महाराजाधिराज' उपाधि से राजा जीवितगुप्त के प्रतापी तथा शक्तिशाली होने की भी सूचना मिलती है।

चरित्र

जीवितगुप्त ने गोमती तट पर अपना विजयस्कन्धावार स्थापित किया था। अतः लेख के वर्णन तथा इसके प्राप्ति-स्थान से ज्ञात होता है कि द्वितीय जीविगुप्त मगध से लेकर उत्तर प्रदेश के गोमती-किनारे तक शासन करता था। यही इसके राज्य का विस्तार प्रकट होता है। मागधगुप्तों के अन्य राजाओं की समकालीनता तथा आदित्यसेन की तिथि के आधार पर यह विचार किया जा चुका है कि मागध गुप्त नरेश सम्भवतः आठवीं शताब्दी के मध्य भाग तक शासन करते रहे।

राज्य व शासन काल

मागध गुप्तों का वर्णन समाप्त होने पर यह जानना परमावश्यक है कि इस वंश का नाश कैसे हुआ। इनके उपरान्त मगध का कौन राजा था? प्राकृत ग्रंथ वाक्पतिराज कृत 'गौड़वहो' से मागध गुप्तों के अंत का कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। इसके वर्णन से पता चलता है कि आठवीं शताब्दी के मध्य भाग में गौड़ राजा दो उपाधियों—गौड़ाधिप तथा मगधनाथ—से विभूषित था†। अतएव यह स्पष्ट प्रकट होता है कि आठवीं शताब्दी में मगध-राज्य में गौड़-राज्य भी सम्मिलित हो गया था। इस कारण यह कहना समुचित है कि मागधगुप्तों का अंत कन्नौज के राजा यशोवर्मा के हाथ‡ हुआ जिसके विजय का वर्णन हमें नालंदा प्रशस्ति में मिलता है()। देवपाल के घोसावान लेख से भी यह प्रकट होता है कि यशोवर्मन का सम्बन्ध विहार से था। यशोवर्मपुर को विहार (जिला पटना) से एकीकरण किया गया है[]। कश्मीर के राजा ललितादित्य (७२४ ई०) तथा यशोवर्धन की समकालीनता के आधार पर कहा जा सकता है कि मगध राज्यका अंत आठवीं सदी के पूर्वाद्ध में हुआ था।

मागध गुप्तों का अंत

---

*परमेश्वर श्री बालादित्यदेवेन स्वशासनेन..., परमेश्व रसर्ववंमंन्......महाराजाधिराज परमेश्वर शासनदानेन......अनुमोदित।

†वमाक—हिस्ट्री आफ् नार्दर्न ईस्टर्न इंडिया पृ० १३२।

‡गौडवहो—पद्य ४१४-४१७ (बम्बई सीरीज नं० ३४)।

सोहइ विमुह-पयत्तस्स ज्ञति मगहाटिवस्स विणियत्तो।
उक्का दण्डस्सव सिहि कणाण णिवही णरिन्दाण। ४१४
अहवि बलाभन्तं कवलि ऊण मगहाहिवं मही-णाहो।
जाओ पत्ना सुरहिम्मि जलहि-वेला वणन्तम्मि। ४१७

()ए० इ० भा० २० पृ० ३७

[]क० आ० स० रि० भा० ३ पृ० १२०: इ० ए० भा० १७ पृ० ३११
हिस्ट्री आफ कन्नौज (त्रिपाठी) पृ० २०१

जैसा वर्णन किया गया है। गुप्त साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर उत्तरी भारत में अनेक स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये थे। उस गुप्त वंश में से कुछ बचे हुए व्यक्तियों ने यत्र तत्र अपना छोटा राज्य स्थापित कर लिया था जिनमें से मुख्य वंश मगध का था।

मध्यप्रदेश तथा बम्बई प्रान्त के अन्य गुप्त राजा

मध्य प्रदेश तथा बम्बई प्रांत में भी कुछ गुप्त नामधारी राजाओं का उल्लेख मिलता है। यद्यपि उनका विशेष वर्णन कहीं नहीं मिलता परन्तु कुछ संदर्भों के आधार पर उनके विषय में कुछ बातें कही जा सकती हैं। बम्बई प्रांत के धारवाड़ में गुत्तल वंशी नरेश शासन करते थे। वे नरेश अपने को सोमवंशी तथा उज्जैन के राजा द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के वंशज मानते हैं*। ऐसी अवस्था में यह प्रकट होता है गुप्त वंशज किसी व्यक्ति ने धारवाड़ प्रदेश में अपना राज्य स्थापित किया तथा तद्देशीय परिस्थिति के कारण वह गुत्तलवंशी कहलाया।

मध्यप्रदेश के रायपुर जिले के अंतर्गत सिरपुर नामक स्थान से एक लेख मिला है। वह प्रशस्ति महाशिव गुप्त की है। लेख के वर्णन से ज्ञात होता है कि ये राजा गुप्तवंशी थे तथा उसमें उनके चन्द्रवंशी होने का उल्लेख मिलता है†। इस लेख के आधार पर स्पष्ट पता चलता है कि गुप्तवंश के किसी राजकुमार ने वहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया। उसका वंशज महाशिवगुप्त था। इन सब कारणों से यह कहना न्यायसंगत है कि बम्बई तथा मध्यप्रदेश से गुप्त अधिकार हटने पर भी कुछ गुप्त वंशजों ने अपनी स्थिति उन स्थानों में बनाये रक्खी जिससे उनके वंशज वहाँ राज्य करते रहे। डा० हीरालाल का कथन है कि मध्यप्रदेश के गुप्त लोगों ने सिरपुर में ही राज्य स्थापित किया परन्तु अन्त में विनितपुर (सोनपुर) में बस गये; जहाँ से उन लोगों ने उड़ीसा तथा तेलिंगाना के अधिक भागों पर शासन किया‡। उनका अधिक विवरण नहीं मिलता जिससे उनका वंशवृत्त तैयार किया जा सके। मगध गुप्तवंश के अंत हो जाने पर विहार तथा बंगाल में अराजकता फैल गई जिसका अंत पालवंश के आदि पुरुष गोपाल के हाथों किया गया था। उस मात्स्यन्याय की समाप्ति कर गोपाल राजा चुना गया। इसी पालवंश का राज्य विहार, बंगाल तथा उत्तर प्रदेश में क्रमशः फैला।

---

*बम्बई फ़ज़ेटियर जि० १ भा० २ पृ० ५७८ नोट ३।

†सिरपुर का लेख (ए० इ० भा० ११ पृ० १९०)।

[आसीच्छाशीव] भुवनाद्भुतभूतिभूतिः उदभूत भूतपति (भक्तिसम) प्रभावः।
चन्द्रान्वयैकतिलकः खलु चन्द्रगुप्तः राजाख्यया पृथुगुणः प्रथितः पृथिव्याम्।

‡इन्सक्रुपशन फ्राम सी० पी० ऐंड बरार भूमिका ७।

परिशिष्ट

(१)

गुप्त-संवत्

भारतीय ऐतिहासिक गवेषणा में विद्वानों को अमुक राजा वा राजवंश के काल-निर्णय में अत्यन्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। कब और कहाँ आदि प्रश्न ऐतिहासिक परिशीलन में प्रायः पूछे जाते हैं। भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों में पूर्वकाल में अनेक संवत् प्रचलित हुए थे, जिन्हें विभिन्न समयों पर पृथक् पृथक् राजाओं ने स्थापित किया था। इन संवतों के आधार पर भारत का तिथि-क्रम युक्त शृंखला-बद्ध इतिहास लिखने में बड़ी सहायता मिली है। ईसा की चौथी से छठीं शताब्दी तक गुप्त इतिहास की घटनाएँ काल क्रमानुसार निबद्ध करने में विद्वानों को कठिनाइयों की सम्भावना थी, परन्तु गुप्त लेखों में 'गुप्त काल' और गुप्तवंश की राज-परम्परा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है जिससे काल-निर्णय में सरलता हो जाती है। अतएव गुप्त काल की प्रारम्भिक तिथि (गुप्त-संवत् में) को निर्धारित करना समुचित प्रतीत होता है। यह संवत् (गुप्त-संवत्) किस राजा ने चलाया, इस विषय में लिखित प्रमाण अब तक नहीं मिला है।

प्रायः समस्त गुप्त लेखों में एक प्रकार की तिथि का उल्लेख मिलता है जिससे अमुक राजा की शासन-अवधि स्थिर की जाती है। सब तिथियों के अनुशीलन से यह प्रकट होता है कि तिथिका क्रम शनैः शनैः एक शासक से उसके उत्तराधिकारी के लेख में बढ़ता जाता है। गुप्त-सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त के लेखों में ८८ या ९३ आदि तिथि उल्लिखित हैं*, तो उसके पुत्र प्रथम कुमारगुप्त की प्रशस्तियों में ९६, ९८, ११७, १२९ आदि तिथियाँ मिलती हैं†। इन अंकों से यह तात्पर्य नहीं निकाला जा सकता कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने ९३ वर्ष तक शासन किया तथा प्रथम कुमार १२९ वर्ष तक राज्य करता रहा। यदि इन अंकों पर विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि गुप्त सम्राट् किसी अमुक समय से काल-गणना करते थे। ये अंक यही सूचित करते हैं कि गुप्त नरेश ९३ वें वर्ष तथा १२९ वें वर्ष में शासन करते थे। अतएव उस समय को निश्चित करना परमावश्यक प्रतीत होता है।

---

*श्री चन्द्रगुप्त राज्य संवत्स ८८ (का० इ० इ० भा० ३ नं० ५, ७)

†,श्री कुमारगुप्तस्य अभिवर्धमान विजयराज्ये संवत्सरे षण्णवते' (वही नं० ८, १०, ११)

नोट—इसके विवरण में—गु० स०—गुप्त संवत, श० का०—शक काल, मा० स०—मालव-संवत्, वि०—विक्रमी तथा श०—शक के लिए प्रयोग किया गया है।

कतिपय लेखों तथा ग्यारहवीं शताब्दी के मुसलमान इतिहासज्ञ अलबेरूनी के वर्णन से स्पष्ट पता चलता है कि गुप्तों के नाम से किसी समय की गणना होती थी; जिसे 'गुप्त-काल' या 'गुप्त-संवत्' कहते हैं। इस कारण यह प्रतीत होता है कि लेखों की समस्त तिथियाँ इसी गुप्त-संवत् में दी गई हैं। गुप्त सम्राट् स्कन्धगुप्त के जूनागढ़ लेख में स्पष्ट रीति से उल्लेख मिलता है कि इस प्रशस्ति की तिथि 'गुप्त-काल' (गुप्त-संवत्) में दी गई है।

गुप्त-संवत् का नामोल्लेख

संवत्सराणामधिके शते तु त्रिंशद्भिरन्यैरपि षड्भिरेव।
रात्रौ दिने प्रौष्ठपदस्य षष्ठे **गुप्तप्रकाले गणनां** विधाय* ॥

गुप्त नरेश द्वितीय कुमारगुप्त तथा बुधगुप्त के सारनाथवाले लेख में भी गुप्त-संवत् का नामोल्लेख मिलता है† ।

'वर्षे शते गुप्तानां सचतुः पंचाशदुत्तरे भूमिं।
शासति कुमारगुप्ते मासे ज्येष्ठे द्वितीयाम्'।
'गुप्तानां समतिक्रान्ते सप्तपंचाशदुत्तरे।
शते समानां पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति' ॥

ईसा की दसवीं शताब्दी के मोरवि ताम्रपत्र में भी तिथि का उल्लेख गुप्त-संवत् में पाया जाता है। उस ताम्रपत्र में 'गौप्ते' शब्द से स्पष्ट प्रकट होता है कि गुप्त लोगों की भी कुछ काल-गणना अवश्य थी‡ ।

'पञ्चाशीत्या युतेतीते समानां शतपञ्चके।
गौप्ते ददावदो नृपः सोपरागेर्कमण्डले' ॥

गुप्त सम्राटों के सामंत परिव्राजक महाराजाओं के लेखों में तिथि का उल्लेख 'गुप्तनृप-राज्यभुक्तौ' के साथ मिलता है()। अतः यह ज्ञात होता है कि गुप्त-संवत् की अवश्य ही स्थिति थी जिस समय से गुप्तों की काल-गणना प्रारम्भ हुई।

ग्यारहवीं शताब्दी में महमूद ग़जनवी के साथ मुसलमान इतिहासज्ञ अलबेरूनी भारत में आया था। उसने भारत के अनेक विषयों का वर्णन अपनी पुस्तक में किया है। भारतीय संवतों की वार्ता को उसने अछूता नहीं छोड़ा परन्तु अक्षरशः उसके वर्णन को सत्य नहीं माना जा सकता। अलबेरूनी ने गुप्त-संवत् के बारे में भिन्न विवरण दिया है—'लोग कहते हैं कि गुप्त शक्तिशाली तथा

अलबेरूनी का कथन

---

*गु० ले० नं० १४।

†आ० स० रि० १९१४-१५।

‡गु० ले० भूमिका ९७। इस ताम्रपत्र के गौप्ते की समता फ्लीट किसी ग्राम से बतलाते हैं, परन्तु यह निर्विवाद है कि इसका सम्बन्ध गुप्त लोगों से है। (कलेक्टेड वर्क्स आफ सर भण्डारकर भा० ३ पृ० ३९३-४)

()गु० ले० नं० २२, २३, २५ आदि।

क्रूर नरेश थे। जब उस वंश की समाप्ति हुई उसी समय से इस संवत् की गणना होने लगी। यह ज्ञात होता है कि वलभ उनका अंतिम राजा था, क्योंकि वलभीसंवत् के समान गुप्त काल की गणना शक काल के २४१ वर्ष बाद प्रारम्भ होती है॥।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जिस गुप्त काल या गुप्त-संवत् का उल्लेख किया गया है, वह किस समय चलाया गया तथा इसके प्रतिष्ठाता कौन थे ? इस संवत् के समय निर्धारित करने में अलबेरूनी से बहुत सहायता मिलती है।

अनेक संवतों की समानता दिखलाते हुए अलबेरूनी ने (१) १०८८ विक्रम संवत् (२) ६५३ शक संवत् (काल) (३) ७१२ वलभ काल = (गुप्त काल) का उल्लेख किया है; जिससे उसके कथन की पुष्टि होती है कि गु० स० श० का० से २४१ वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ। अलबेरूनी के इन संवतों की तिथि ठीक है, परन्तु उसके समस्त वर्णन जनश्रुति के आधार पर लिखे गये हैं। उसके कथन से ज्ञात होता है कि गुप्त-संवत् उस वंश के नष्ट होने पर प्रारम्भ हुआ। वलभ, जो वलभीनगर (सौराष्ट्र में स्थित) का शासक था, उस वंश का अंतिम नरेश था। वलभी संवत् उसी के नाम से प्रारंभ हुआ। जैसा ऊपर कहा गया है, समस्त विवरण जनश्रुति के कारण अविश्वसनीय है। उसकी अप्रामाणिकता के लिए अन्य प्रमाण भी दिये जा सकते हैं। अलबेरूनी लिखता है कि शक काल विक्रमादित्य द्वारा शक-पराजय के समय से प्रारम्भ हुआ†; परन्तु चालुक्य-प्रशस्तिकार रविकीर्ति ने शक-संवत् का आरम्भ शक राजा के सिंहासनारूढ़ होने के समय से बतलाया है‡; जो वस्तुतः ठीक सिद्धान्त है। इसी प्रकार गुप्तों के विषय में भी उस इतिहासज्ञ ने असत्य बातें लिख डाली हैं। यदि वलभी लेखों पर ध्यान दिया जाय तो अलबेरूनी का कथन सर्वथा ग्राह्य नहीं है।

वलभी में मैत्रकों के सेनापति भट्टारक ने स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। उसके तीसरे पुत्र ध्रुवसेन प्रथम के एक लेख में २०६ तिथि का उल्लेख मिलता है()। यदि वलभी राज्य स्थापन के अवसर पर वलभी-संवत् का आरम्भ हुआ, तो यह कभी भी माना नहीं जा सकता कि वलभी वंश के संस्थापक (भट्टारक) के २०६ वर्ष पश्चात् उसका पुत्र (ध्रुवसेन प्रथम) शासक हुआ। अतएव इस तिथि का वलभी-संवत् से कुछ भी सम्बन्ध प्रकट नहीं होता। ऐसी परिस्थिति

॥ As regards the Gupta Kala, people say that the Guptas were wicked powerful people and that when they ceased to exist this date was used as the epoch of an Era. It seem that Valabha was the last of them, because the epoch of the era of the Guptas falls, liks that of the Valabha era, 241 years later than the Saka Kala.

—अलबेरूनी इंडिया, भा० २ पृ० ७।

†अलबेरूनी इंडिया, भा० २ पृ० ६।

‡पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चसतासु च।
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्।—अइहोल का लेख—शक संवत् ५५६ (ए० इ० भा० ६ पृ० १)।

()इ० हि० का० भा० ४ पृ० ४६०।

में वलभी राज्य में किसी अन्य संवत् का प्रचार मानना आवश्यक है जिसमें उस वंश की तिथियाँ मिलती हैं। ऐतिहासिक पण्डितों ने वलभी लेखों की तिथियों का सम्बन्ध गुप्त-संवत् से बतलाया है। इस विवाद के परिणाम-स्वरूप यह कहा जा सकता है कि गुप्तों के अधीनस्थ मैत्रकों ने स्वतन्त्र होने के समय से वलभी में प्रचलित गुप्त-संवत् को वलभी-संवत् का नाम दे दिया। अतः यह स्पष्ट रीति से कहा जा सकता है कि वलभी-संवत् नाम की कोई स्वतंत्र गणना नहीं थी; परन्तु गुप्त-संवत् का दूसरा नाम है। इस आधार पर अलबेरूनी का वर्णन अग्राह्य हो जाता है, केवल तिथि का उल्लेख प्रमाणयुक्त है। उसके कथनानुसार गुप्त संवत् भी शक काल से २४१ वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ जो अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध होता है। कुछ जैन ग्रंथों से भी इसकी पुष्टि होती है कि गुप्त-संवत् शक काल से २४१ वर्ष के पश्चात् आरम्भ हुआ।

जैन ग्रंथों के आधार पर गु० स० तथा श० का० का अन्तर (२४१)

अलबेरूनी से पूर्व शताब्दियों में कुछ जैन ग्रंथकारों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि गुप्त तथा शक काल में २४१ वर्ष का अन्तर है। प्रथम लेखक जीनसेन, जो आठवीं शताब्दी में वर्तमान थे उन्होंने वर्णन किया है कि भगवान् महावीर के निर्माण के ६०५ वर्ष ५ माह के पश्चात् शक राजा का जन्म हुआ तथा शक के अन्तर गुप्तों के २३१ वर्ष शासन के बाद कल्किराज का जन्म हुआ*। द्वितीय ग्रंथकार गुणभद्र ने उत्तर-पुराण में (८९८ ई०) लिखा है कि महावीर के निर्माण के १००० वर्ष बाद कल्किराज पैदा हुआ†। जीनसेन तथा गुणभद्र के कथन का समर्थन तीसरे जैन लेखक नेमिचन्द्र करते हैं‡।

---

*गुप्तानां च शतद्वयम्

एक त्रिंशच्च वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतम्।
द्विचत्वारिंशदेवातः कल्किराजस्य राजता।
ततोऽजितंजयो राजा स्यादिन्द्रपुरसंस्थितः।
वर्षाणि षट्शतो त्यक्त्वा पञ्चाग्रं मासपञ्चकम्।
मुक्तिं गते महावीरे शकराज ततोऽभवत्।—जीनसेनकृत हरिवंश अध्याय ६०।

†इ० ए० भा० १५ पृ० १४३।

‡नेमिचन्द्र की तिथि दशवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानी जाती है। एक लेख के आधार पर नेमिचन्द्र चामुण्डराय का राजकवि ज्ञात नोता है—

त्रिलोकसारप्रमुखप्रबन्धान्।
(विरच्य सान्) भुवि नेमिचन्द्रः
विभाति सैद्धान्तिकसार्वभौम।
चामुण्डरायार्चितपादपद्मः—(नागर लेख इ० का० भा० ८)

यह (चामुण्डराय) गंग राजा रासमल्ल चतुर्थ का ई० सन् ९७७ के लगभग मंत्री था जो श्रवण-वेलगोला की प्रशस्ति से पता चलता है (राइस—वेलगोला का लेख भूमिका पृ० ३४) इसी आधार पर नेमिचन्द्र की तिथि निश्चित की गई है,

नेमिचन्द्र त्रिलोकसार में लिखते हैं कि शकराज महावीर के निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ माह के बाद तथा शककाल के ३९४ वर्ष ७ माह के पश्चात् कल्किराज पैदा हुआ* ।

इनके योग से—वर्ष	माह
६०५	५
३९४	७
१०००	

वर्ष होते हैं। इन तीनों जैन ग्रंथकारों के कथनानुसार शक काल तथा कल्किराज का जन्म निश्चित हो जाता है। इस शक काल की तिथि को विक्रम संवत् में परिवर्तन करने से शक, विक्रम तथा ई० स० में समता बताई जा सकती है जिसकी वजह से गुप्त काल को निश्चत करने में सरलता हो जाती है। ज्योतिषसार के आधार पर यह ज्ञात है कि शक काल में १३५ जोड़ने से वह तिथि विक्रम संवत् में परिवर्तित हो जाती है †। शक काल के ३९४ वर्ष पश्चात् कल्किराज पैदा हुआ जो ५२९ विक्रम (३९४ + १३५) होता है‡। गुप्त सम्राट् प्रथम कुमारगुप्त के मंदसोर के लेख में दूसरी तिथि ५२९ मालव-संवत् का उल्लेख है()। मंदसोर लेख की पहली तिथि ४२९ वि० दूसरी तिथि से ३६ वर्ष पूर्व है। अतएव प्रथम कुमारगुप्त शक ३५८ (४९३-१३५) में बन्धुवर्मा के साथ शासन करता था []।

विक्रम तथा शक काल का सम्बन्ध

गुणभद्र के कथनानुसार कल्किराज का शक ३९४ के पश्चात् माघ संवत्सर प्रारम्भ होता है §। वराहमिहिर ने भी कुछ निम्नलिखित व्यतीत शक संवत्सरों का वर्णन किया है{} :—

शक तथा गुप्त काल का सम्बन्ध

---

*पण छसय वसं पणमास जुदं गमिय वीरणि बुइदो सगराजो सो कल्किचदुक ण्वतिय महिय ससमासं (त्रिलोकसार पृ० ३२)

†स एक पञ्चाग्निकुभियुक्तः स्याद्विक्रमस्य हि रेवाया उत्तरे तीरे संवन्नाम्नातिविश्रुतः। (ज्योतिषसार)

‡साधारणतया यह सर्व प्रसिद्ध है कि शक काल में ७८ जोड़ने से ई० स० तथा ई० सन् में ५७ जोड़ने पर विक्रम संवत् बनता है ३९४ + ७८ + ५७ = ५२९

()वत्सरशतेषु पंचसु विंशत्यधिकेषु नवसु चाब्देषु यातेष्वभिरम्य तपस्यमासशुक्लद्वितीयायाम्। (गु० ले० नं० १८)।

इस आधार पर मालवा तथा विक्रम संवत् में समानता स्थापित होती है। (ईसा पूर्व ५७)

[]मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानां रितौ सेव्य घनस्वने।
सहस्यमासशुक्लस्य प्रशस्तेह्नित्रयोदशे।—(गु० ले० नं० १८)।

§चतुर्मुखाह्वयः कल्कीराजौद्वेजित भूतले।
उत्पत्स्येहं मघा संवत्सरयोगसमागमे।—(उत्तरपुराण ७६।३९६)।

{}फ्लीट—का० इ० इ० भा० ३ पृ० १६१।

शक	३६४	व्यतीत	माघ	संवत्सर
,,	३६५	,,	फाल्गुन	,,
,,	३६६	,,	चैत्र	,,
,,	३६७	,,	वैशाख	,,

शक ३६७ के वैशाख संवत्सर का उल्लेख परिव्राजक महाराज हस्तिन् के खोह लेख गु० स० १५६ में भी मिलता है*। इस आधार पर शक तथा गुप्तकाल में निम्नलिखित समता तैयार की जा सकती है :—

शक ३६४ = माघ संवत्सर = गुप्त-संवत् १५३ व्यतीत
,, ३६५ = फाल्गुन ,, = ,, ,, १५४ ,,
,, ३६६ = चैत्र ,, = ,, ,, १५५ ,,
,, ३६७ = वैशाख ,, = ,, ,, १५६ ,,

इस समता से यह ज्ञात होता है कि गुप्त-संवत् की तिथि में २४१ जोड़ने से शककाल में परिवर्तन हो जाता है। इस विस्तृत विवेचन के कारण अलबेरूनी के कथन की सार्थकता ज्ञात हो जाती है। यह निश्चित हो गया कि शक-काल के २४१ वर्ष पश्चात् गुप्त संवत् का आरम्भ हुआ।

गुप्त-संवत् तथा शक काल में २४१ वर्ष का अन्तर स्थिर हो जाने पर, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शक काल के २४१ वें वर्ष या २४१ वर्ष व्यतीत होने पर गुप्त काल (संवत्) प्रारम्भ होता है। फ्लीट महोदय का मत है कि गुप्त-संवत् शक काल के २४१ वें वर्ष में आरम्भ हुआ। उनके कथनानुसार दोनों संवतों में २४२ वर्ष का अन्तर पड़ता है†। उदाहरणार्थ उसने बुधगुप्त के एरण स्तम्भ-लेख‡ की तिथि गु० स० १६५ शक काल ४०७ (१६५ + २४२) से समता बतलाई है। यदि वैज्ञानिक रूप से विचार किया जाय तो फ्लीट महोदय की धारणा सर्वथा निराधार प्रकट होती है।

फ्लीट का मत

जैन ग्रंथकार नेमिचन्द्र के कथनानुसार यह ज्ञात होता है कि शक-काल के ३६४ वर्ष ७ माह व्यतीत होने पर कल्किराज का जन्म हुआ। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ३६५ वें वर्ष में ७ माह बीतने पर कल्किराज का जन्म हुआ। ऊपर तुलनात्मक प्रसंग में यह दिखलाया गया है कि—

मत का खण्डन

शक ३६४ = माघ संवत्सर = गु० स० १५३ व्यतीत
,, ३६७ = ,, ,, १५६ ,,

अतएव शक काल तथा गु० स० में २४१ वर्ष का अन्तर ज्ञात होता है, २४२ वर्ष का नहीं।

---

*शतपञ्चाशतोत्तरेऽब्दे शते गुप्तनृपराज्यभुक्तौ महावैशाखसंवत्सरे कार्तिकमासशुक्लपक्ष-तृतीयायाम्।—(गु० ले० नं० २१)।

†फ्लीट—गु० ले० भूमिका ८४।

‡का० इ० इ० भा० ३ नं० १९।

गु० स० = शक २४१

१ ,, ,, प्रचलित = ,, २४२ प्रचलित

इस उपरियुक्त कथन की पुष्टि लेखों से होती है। गुप्त लेखों में भी इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। गुप्त राजा द्वितीय कुमारगुप्त के सारनाथ लेख की तिथि गु० स० १५४ मिलती है*; जो शक काल ३९५ व्यतीत (१५४ + २४१) में परिवर्तन हो सकता है। इसके अतिरिक्त बुधगुप्त के सारनाथ की प्रशस्ति में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि गु० स० १५७ वर्ष व्यतीत होने पर राजा शासन करता था†। इस स्थान पर पूर्व समता को ध्यान में रखते तथा ज्योतिषसार के आधार पर एक नवीन तुलनात्मक वृत्त तैयार हो सकता है। यह निम्न प्रकार है :—

लेखों का प्रमाण

मालव-संवत्	शक काल	गुप्त-संवत्
५२९ व्यतीत	३९४ व्यतीत	१५३
५३० ,,	३९५ ,,	१५४
५३१ ,,	३९६ ,,	१५५
५३२ ,,	३९७ ,,	१५६
५३३ ,,	३९८ ,,	१५७ व्यतीत‡

इस तुलना से यही परिणाम निकलता है कि शक काल तथा गुप्त-संवत् में २४१ का ही अन्तर है। इन प्रमाणों के आधार पर यह प्रकट होता है कि व्यतीत गुप्त-वर्ष संवत् में २४१ जोड़ने से व्यतीत शक काल तथा प्रचलित गु० स० में २४१ जोड़ने से प्रचलित शक काल में परिवर्तन होता है()। अलबेरूनी ने दोनों संवतों का अन्तर बतलाते हुए विक्रम, शक काल तथा वलभी (गुप्त) संवत् में तीन तीथियों का उल्लेख किया है[]। यदि उपरियुक्त

मालव स०	श० का०	वलभी (गु०) स०
१०८८	९५३	७१२

तुलना पर ध्यान दिया जाय तो प्रकट होता है कि लेखों तथा अलबेरूनी कथित संख्या (२४१) का ही अन्तर गु० स० तथा श० का० में पाया जाता है।

---

*वर्षशते गुप्तानां सचतुःपञ्चाशदुत्तरे भूमिम्। शासति कुमारगुप्ते मासे ज्येष्ठे द्वितीयायाम्

†गुप्तानां समतिक्रान्ते सप्त पचाशदुत्तरे।

शते समानां पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति।

‡बुधगुप्त के सारनाथ के लेख से स्पष्ट हो जाता है कि वह गुप्तों के १५७ वर्ष व्यतीत होने पर सप्तमी बैसाख में शासन करता था, या उस समय को प्रचलित १५८ वर्ष कह सकते हैं। इसी नरेश का एक दूसरा लेख (एरण) आठ वर्ष के बाद गु० स० १६५ का है (गु० ले० नं० १९)। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि वह राजा गु० स० १६५ आषाढ़ १२ राज्य में राज करता था। इससे भी आषाढ़ मास में व्यतीत गु० स० १६५ यानी प्रचलित १६६ ज्ञात होता है।

()कलेक्टेड वर्कस आफ सर भण्डारकर भा० ३ पृ० ३८७।

[]अलबेरूनी इंडिया भा० २ पृ० ७।

मालव-संवत्	शक काल	गुप्त-संवत्
५२६	३६४	१५३
१०८८	६५३	७१२

गुप्त लेख के अतिरिक्त वेरावल लेख के अध्ययन से भी गु० स० तथा श० का० के अन्तर (२४१ वर्ष) पर प्रकाश पड़ता है। कर्नल टाड ने गुजरात के चालुक्य नरेश अर्जुनदेव के समय के लेख का वेरावल नामक स्थान से पता लगाया था*। इस लेख की विशेषता यह है कि इसमें चार संवतों में तिथि लिखी मिलती है। प्रशस्तिकार ने विक्रम १३२०; वलभ ६४५; हिजरी ६६२ तथा सिंह संवत् १५१ तिथियों का उल्लेख किया है†। दीवान बहादुर पिलाई के गणनानुसार आषाढ़ बदी १२ रवि शककाल ११८६ तथा विक्रम १३२१ वर्ष में पड़ता है‡। लेखों में वर्ष तथा इस गणना में भिन्नता इसलिए होती है कि वेरावल के लेख में दक्षिण भारत की प्रणाली के अनुसार विक्रम १३२० तथा वलभी ६४५ कार्तिकादि में उल्लिखित है। अतएव—

वेरावल का लेख तथा वलभी व गुप्त संवत् की एकता

विक्रम	शक	वलभी
१३२१ =	११८६ =	६४५

इसमें से ७९२ घटाने पर

वि०	शक	वलभी
५२६ =	३६४ =	१५३

तथा इसमें से ३६ घटाने पर

वि०	श०	वलभी
४८३	३५८	११७

आता है। इस गणना में वलभी ११७ तथा गुप्त नरेश प्रथम कुमारगुप्त की करमदण्डा की प्रशस्ति की तिथि (गु० स० ११७) में समता है()। अतः ज्ञात होता है कि वलभी तथा गुप्त-संवत् में कोई विभिन्नता नहीं है। इस बेरावल लेख की समता में २४१ वर्ष का ही अन्तर है।

श०	वि०	वलभी
११८६	१३२१	६४५

तथा उपर्युक्त तुलना में

श०	मा० स०	वलभी (गु० स०)
३६४	५२६	१५३

जो ऊपर बतलाया गया है।

---

*एनल्स आफ् राजस्थान भा० १ पृ० ७०५।

†श्रीनृपविक्रम १३२० तथा श्रीमद्वलभी सं० ९४५ तथा श्रीसिंह सं० १५१ वर्ष आषाढ़ बदी १२ रवि (इ० ए० भा० ११ पृ० २४२)।

‡इंडियन क्रानालोजी टेबुल १० पृ० ९२।

()ए० इ० भा० १० पृ० ७०।

खैरा ताम्रपत्र ऐसा अंतिम लेख है जिससे शक-काल तथा गुप्त-संवत् के अन्तर (२४१) पर प्रकाश पड़ता है। इस लेख की तिथि वलभी संवत् ३३० मिलती है* जिसका उल्लेख निम्नप्रकार है—

खैरा का ताम्रपत्र

सं० ३०० ३० द्वि० मार्ग शीर्ष शु० २

इस वलभी संवत् में २४१ जोड़ने से शक काल में परिवर्तन हो जाता है।

वलभी	शक
३३०	५७१

ज्योतिष-गणना के आधार पर शक ५७१ अधिक मार्गशीर्ष में पड़ेगा†। अतएव

वलभी	शक
३३० प्रचलित =	५७१ प्रचलित

के समान है। पूर्व तुलना से इस तिथि का स्थान निश्चित हो जाता है।

श०	मा० स०	गु० (वलभी) स०
३९४‡	५२९‡	१५३‡
५७१()	७०६	३३०()
११८६[]	१३२१[]	९४५[]

अतएव इन समस्त लेखों तथा अलबेरूनी के कथन के आधार पर यही निश्चित होता है कि गु० स० में २४१ जोड़ने पर श० का० बनता है। व्यतीत तथा प्रचलित में जोड़ने से क्रमशः व्यतीत तथा प्रचलित श० का० में परिवर्तन होता है।

फ्लीट का मत था कि गु० स० श० का० के २४१ वर्ष बाद नहीं परन्तु २४२ वर्ष पश्चात् प्रारम्भ हुआ§। परन्तु ऊपर कथित विस्तृत विवेचन के सम्मुख फ्लीट महोदय का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता। फ्लीट ने डा० कीलहार्न के कथन का समर्थन करते हुए यह भूल की कि दक्षिण भारत की तरह उत्तरी भारत में भी मालव संवत् का प्रारम्भ कार्तिक से हुआ{} चैत्र से नहीं, इसको मान लिया। परन्तु यदि गुप्त लेखों का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि मालव संवत् चैत्र से प्रारम्भ होता है::। द्वितीय कुमारगुप्त के सारनाथ के लेख से पता चलता है कि गु० स० १५४ व्यतीत यानी गु० स० १५५ के ज्येष्ठ द्वितीया को वह मूर्ति स्थापित की गई

चैत्रादि वर्ष का प्रचार

---

*गु० ले० भूमिका पृ० ९३।

†भंडारकर कामेमोरेशन वालुम पृ० २०९।

‡देखिए ऊपर का तिथि।

()खैरा ताम्रपत्र की तिथि।

[]वेरावल लेख की तिथि।

§गु० ले० भूमिका पृ० ८४।

::इ० ए० भा० २० पृ० ३२; गु० ले० भूमिका पृ० ९६।

{}भंडारकर कामेमोरेशन वालुम पृ० २०७-८।

थी* । इसी प्रकार बुधगुप्त के सारनाथ तथा एरण के लेखों से भी यही बातें प्रकट होती हैं। इन लेखों में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि राजा व्यतीत गु० स० १५७ तथा १६५ या प्रचलित १५८ वैशाख तथा प्रचलित १६६ आषाढ़ में शासन करता था। इतना ही नहीं, यशोधर्मन् के मंदसोर के लेख (मा० स० ५८६) में यह वर्णन मिलता है कि संवत् वसंत (चैत्र तथा वैशाख) से प्रारम्भ होता है† । इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि गुप्तों के शासनकाल में मालव-संवत् चैत्र से प्रारम्भ होता था; कार्तिक से नहीं। वेरावल लेख के आधार पं० गौरीशंकर ओझा ने दिखलाया है कि विक्रम संवत् चैत्रादि है। वेरावल लेख के अनुसार वि० स० तथा गु० स० का अन्तर ३७५ (१३२०-६४५) आता है; परन्तु यह लेख काठियावाड़ में स्थित होने के कारण वि० स० कार्त्तिकादि है जो चैत्रादि १३२१ होता है। इस कारण वि० स० तथा गु० स० का अन्तर ३७६ होगा‡ । गु० स० में ३७६ जोड़ने से चैत्रादि वि० स०, २४१ मिलाने से श० का० तथा ३१६-२० मिलाने से ई० स० होता है।

अंतिम परिणाम गुप्त-संवत् पर इस विस्तृत विवरण से निम्न परिणाम निकलते हैं—

(१) मालवा तथा शक संवत् चैत्र से प्रारम्भ होता है।

(२) गुप्त तथा वलभी संवत् एक ही हैं। दोनों के भिन्न भिन्न नाम होने के कारण समय में तनिक भी भिन्नता नहीं है।

(३) वलभी या गु० स० शक काल के २४१ वर्ष के पश्चात् आरम्भ होता है। शक काल के व्यतीत तथा प्रचलित होने का निर्णय गु० स० पर अवलम्बित है।

(४) गुप्त-संवत् भी चैत्र से प्रारम्भ होता है। चैत्रादि होने के कारण गुप्त संवत् का ई० स० ३१८-१९ से गणनारम्भ हुआ। इसका प्रारम्भिक वर्ष ई० सन् ३१९-२० (७८ + २४१) से लिया जायगा।

गु० स० ० व्यतीत = शक २४१ व्यतीत

" " १ प्रचलित = " २४२ प्रचलित

यदि समस्त संवतों के इतिहास पर ध्यान दिया जाय तो यह पता चलता है कि अमुक संवत् का प्रारम्भ किसी काल विशेष से होता या उस वंश के किसी घटना के स्मारक में संवत्सर चलाया गया था। गुप्त-वंश में भी ऐसी ही घटना उपस्थित हुई जिस कारण से वंश नाम के साथ (गुप्त) संवत् का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। गुप्त-वंश के आदि दो नरेश—गुप्त तथा घटोत्कच का नाम इतिहास में प्रसिद्ध

गुप्त-संवत् के संस्थापक

---

*आ० स० रि० १९१३—४ ।

†पञ्चसु शतेषु शरदां यातेष्वेकान्ननवति सहितेषु । मालवगणस्थितिवशात् कालज्ञानाय लिखितेषु ॥
यस्मिन् काले कलमृदुगिरां कोकिलानां प्रलापा, भिन्दन्तीव स्मरशरनिभाः प्रोषितानां मनांसि।
भृङ्गालीनां ध्वनिरनुरतं भारमन्द्रश्च यस्मिन्, नाधूतज्यं धनुरिव नदच्छ्रू यते पुष्पकेतोः ॥
प्रियतमकुपितानां रामयन्बद्धरागं किसलयमिव मुग्धं मानसं मानिनीनां।
उपनयति नभस्वान्मानभङ्गाय यस्मिन्, कुसुमसमयमासे तत्र निर्मापितोयम् ॥
—([illegible]) इ० इ० भा० ३ नं० ३५)।

‡. प्राचीन लिपिमाला, पृ० १७५ ।

नहीं है। वे साधारण सामंत के रूप में शासन करते थे। गुप्तों के तीसरे राजा प्रथम चन्द्रगुप्त ने अपने बाहुबल से राज्य का विस्तार किया तथा इसी ने सर्वप्रथम 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की। बहुत संभव है कि सिंहासनारूढ़ होने पर इसने यह पदवी धारण की तथा उसी के उपलक्ष्य में अपने वंश के नाम के साथ गुप्त-संवत् की स्थापना की। इसकी पुष्टि गुप्त लेखों में उल्लिलित तिथियों से भी होती है। प्रथम चन्द्रगुप्त के पौत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के लेखों में ८२,९३ की तिथियाँ मिलती हैं। इस आधार पर विद्वानों का अनुमान ठीक ज्ञात होता है कि प्रथम चन्द्रगुप्त ही प्रतापी शासक था और उसी के राज्यारोहण पर संवत् चला। दादा तथा पौत्र के बीच तीन पीढ़ियों में ९३ वर्ष का अन्तर युक्ति-संगत मालूम पड़ता है। इस संवत् का प्रारम्भ ई० स० ३१९-२० से होता है। फ्लीट व एलन के मतानुसार गुप्त-संवत् अन्य संवतों की भाँति (राज्यवर्षों में गणना की परिपाटी से) बराबर प्रयोग होते रहने पर क्रम से प्रचलित हो गया; इससे अनुमान होता है कि प्रथम चन्द्रगुप्त के प्रचलित किए हुए राज्य-संवत् का प्रयोग उसके उत्तराधिकारी वंशधर करने लगे, जो आगे चलकर गुप्त संवत् के नाम से प्रसिद्ध हो गया। जो हो, परन्तु यह निःसन्देह है कि गुप्त संवत् या गुप्त-काल नामक संवत्सर का प्रारम्भ ई० स० ३१९-२० से हुआ। इसी में समस्त गुप्त लेखों तथा समकालीन प्रशस्तियों की तिथियाँ दी गई हैं। यह संवत् लगभग ६०० वर्ष तक प्रचलित रहा और गुप्तवंश के नष्ट हो जाने पर काठियावाड़ में वलभी संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

———

समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ-लेख

यः कुल्यैः स्वैः.......... तस ....
.... ।
यस्य ? ....
....। १ ।
पुवं ....
स्फारद्व (?) न्नः स्फुटोद्ध्वंसित................।
.... प्रवितत ....
....। २ ।
यस्य प्रज्ञानुषङ्गोचितसुखमनसः शास्त्रतत्वार्थभर्तुः
...... स्तब्धो .... नि .... नोच्छृ... ।
सत्काव्य श्रीविरोधान्बुधगुणितगुणाज्ञाहतानेव कृत्वा
विद्वल्लोके वि—स्फुटबहुकविताकीर्तिराज्यं भुनक्ति । ३ ।
आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैः उत्कर्णितै रोमभिः
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षितः ।
स्नेहव्याकुलितेन वाष्पगुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति । ४ ।
दृष्ट्वा कर्माण्यनेकान्यमनुजसदृशान्यद्भुतोद्भिन्नहर्षा-
भावै रास्वादय.........................केचित् ।
वीर्योत्तप्ताश्च केचिच्छरणमुपगता यस्य वृत्ते प्रणामे
.....तें.................................। ५ ।
संग्रामेषु स्वभुजविजिता नित्यमुच्छापकारा
श्वः श्वो मानप्र........................ ।
तोषोत्तुङ्गैः स्फुटबहुरसस्नेहफुल्लैर्मनोभिः
पश्चात्तापं व .... स्याद्वसन्तम् । ६ ।
उद्वेलोदितबाहुवीर्यरभसादेकेन येन क्षणा-
दुन्मूल्याच्युत **नागसेन**..................... ।
दण्डग्राह्यतेव **कोटकुलजं पुष्पाह्वये** क्रीडता
सूर्ये न ...., तट ....। ७ ।

धर्मप्राचीरबंधः शशिकरशुचयः कीर्तयः सप्रताना
वैदुष्यं तत्वभेदि प्रशम ....तार्थम् ।
अध्येयः सूक्तमार्गः कविमतिविभवोत्सारणं चापि काव्यं
को नु स्याद्योऽस्य न स्याद्गुणमति विदुषां ध्यानपात्रं य एकः । ८ ।

तस्य विविधसमरशतावतरणदक्षस्य स्वभुजबलपराक्रमैकबन्धोः । पराक्रमाङ्कस्य परशुशरशङ्कुशक्तिप्रासासितोमरभिन्दिपालनाराचवैतस्तिकाद्यनेकप्रहरणविरूढा कुलव्रणशताङ्कशोभासमुदयोपचितकान्ततरवर्ष्मणः **कौशलकमहेन्द्र महाकान्तारकव्याघ्रराज कैरलकमण्टराजपैष्टपुरकमहेन्द्रगिरिकौट्टूरकस्वामिदत्तैरण्डपल्लकदमनकाञ्चेयकविष्णुगोपावमुक्तकनीलराजवैङ्गेयकहस्तिवर्मपाल्लककोग्रसेनदेवराष्ट्रककुबेरकौस्थलपुरकधनञ्जयप्रभृति** सर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रमहाभाग्यस्य, **रुद्रदेवमतिलनागदत्तचन्द्रवर्मगणपतिनागनागसेनअच्युतनन्दिबलवर्मा** अनेक आर्यावर्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्तप्रभावमहतः, परिचारकीकृतसर्वाटविकराजस्य, **समतटडवाककमरूपनेपालकर्तृपुरादिप्र**त्यन्तनृपतिभिः **मालवार्जुननायनयौधेयमाद्राकाभीरप्रार्जुनसनकानीककाकखरपरिकादिभिश्च** सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य, अनेकभ्रष्टराज्योत्सन्नराजवंशप्रतिष्ठापनोद्भूतनिखिलभुवनविचरणशान्तयशसः, **दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्डैः** सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदनकन्योपायनदानगरुत्मदङ्कस्वविषयभुक्तिशासनयाचनाद्युपायसेवाकृतबाहुवीर्यप्रसरधरणिबन्धस्य, पृथिव्यामप्रतिरथस्य, सुचरितशतालङ्कृतानेकगुणगुणोत्सिक्तिभिः चरणतलप्रमृष्टान्यनरपतिकीर्तेः, साध्वसाधूदयप्रलयहेतुपुरुषस्याचिन्त्यस्य, भक्त्यवनतिमात्रग्राह्यमृदुहृदयस्यानुकम्पावतोऽनेकगोशतसहस्रप्रदायिनः कृपणदीनानाथआतुरजनोद्धरणमन्त्रदीक्षाद्युपगतमनसः, समिद्धस्यविग्रहवतो लोकानुग्रहस्य धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य स्वभुजबलविजितानेकनरपतिविभवप्रत्यर्पणानित्यव्यापृतायुक्तपुरुषस्य, निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैः व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बुरुनारदादेः विद्वज्जनोपव्यानेककाव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य, सुचरिस्तोतव्यानेकाद्भुतोदार चरितस्य लोकसमयक्रियानुविधानमात्रमानुषस्य लोकधाम्नो देवस्य महाराजश्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराज श्रीघटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य लिच्छविदौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य सर्वपृथिवीविजयजनितोदयव्याप्तनिखिलावनितलां कीर्तिमितः त्रिदशपतिभवनगमनावाप्तललितमुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः । यस्य—

प्रदानभुजविक्रमप्रशमशास्त्रवाक्योदयै-
रुपर्युपरिसञ्चयोच्छ्रितमनेकमार्गं यशः ।
पुनाति भुवनत्रयं पशुपतेर्जटान्तर्गुहा-
निरोधपरिमोक्षशीघ्र मिव पाण्डु गाङ्गं पयः ।

एतच्च काव्यमेषामेव भट्टारकपदानां दासस्य समीपपरिसर्पणानुग्रहोन्मीलितमतेः खाद्यटपाकिकस्य महादण्डनायकध्रुवभूतिपुत्रस्य सान्धिविग्रहिककुमारामात्यमहादण्डनायकहरिषेणस्य सर्वभूतहितसुखायास्तु । अनुष्ठितं च परमभट्टारकपादानुध्यातेन महादण्डनायक तिलभट्टकेन ।

हिन्दी-अनुवाद

(१) जो......अपने कुल वालों से......जिसका।

(२) जिसका।

(३) जिसने......अपने धनुष्टंकार से......छिन्न भिन्न किया......'''विध्वंस किया......फैलाया.........।

(४, ५) जिसका मन विद्वानों के सत्संग-सुख का व्यसनी था, जो शास्त्र के तत्त्वार्थ का समर्थन करने वाला था;.........सुदृढ़ता से स्थित।

(६) जो सत्कविता और लक्ष्मी के विरोधों को विद्वानों के गुणित गुणों की आज्ञा से दबा कर (अब भी) बहुतेरी स्फुट कविता से (मिले हुए) कीर्ति-राज्य को भोग रहा है।

(७, ८) जिसको उसके समान कुलवाले (ईर्ष्या से) म्लानमुखों से देखते थे, जिसके सभासद् हर्ष से उच्छ्वसित हो रहे थे, जिसके पिता ने उसको रोमांचित होकर यह कह कर गले लगाया कि तुम सचमुच आर्य हो, और अपने चित्त का भाव प्रकट करके स्नेह से चारो ओर घूमती हुई आँसुओं से भरी, तत्त्व को पहिचाननेवाली दृष्टि से देखकर कहा कि इस अखिल पृथ्वी का इस प्रकार पालन करो।

(९) जिसके अनेक अमानुष कर्मों को देख कर—कुछ लोग अत्यन्त चाव से आस्वादन कर अत्यंत सुख से प्रफुल्लित होते थे।

(१०) और कुछ लोग उसके प्रताप से संतप्त होकर उसकी शरण में आकर उसको प्रणाम करते थे...........।

(११) और अपकार करनेवाले जिससे संग्रामों में सदा विजित होते थे........... कल और कल......मान।

(१२) आनंद से फूले हुए और बहुत से रस और स्नेह के साथ उत्फुल्लमन से......पश्चाताप करते हुए......वसंत में।

(१३) जिसने सीमा से बढ़े हुए अपने अकेले ही बाहुबल से **अच्युत** और **नागसेन** को क्षण में जड़ से उखाड़ दिया.........।

(१४) जिसने **कोटकुल** में जो उत्पन्न हुआ था उसको अपनी सेना से पकड़वा लिया और पुष्प नाम के नगर को खेल में स्वाधीन कर लिया, जब कि सूर्य......तट......

(१५) (जिसके विषय में यह कहा जाता है) धर्म के बाँधे हुए परकोटे के समान, जिसकी कीर्ति चन्द्रमा की किरणों की तरह निर्मल और चारों ओर छिटक रही थी, जिसकी विद्वत्ता शास्त्र तक को पहुँच जाती थी, और.........,

(१६) जिसने सूत्रों (वेद मंत्रों) का मार्ग अपना अध्येय बना लिया था और उसकी ऐसी कविता थी जो कवियों की मति के विभव का उत्सारण (प्रकाश) करती थी।........ ऐसा कौन गुण था जो उसमें न था; गुण और प्रतिमा के समझनेवाले विद्वानों का वह अकेला ध्यानपात्र था।

(१७, १८) विविध सैकड़ों समरों में उतरने में दक्ष, अपने भुजबल का पराक्रम ही जिसका अकेला साथी था; जो पराक्रम के लिए विख्यात था, और जिसका फरसे,

बाण, शंकु, शक्ति, प्रास, तलवार, तोमर, भिंदिपाल, नाराच, वैतस्तिक आदि शस्त्रों के सैकड़ों घावों से सुशोभित और अतिशय सुंदर शरीर था।

(१९,२०) और जिसका महाभाग्य, कोशल के राजा महेन्द्र, महाकान्तार के व्याघ्रराज, केरल के मंत्रराज, पिष्टपुरके महेन्द्र गिरि, कौट्टूर के स्वामिदत्त, एरंडपल्ल के दमन, कांची के विष्णुगोप, अवमुक्त के नीलराज, वेंगी के हस्तिवर्म्मा, पालक के उग्रसेन, देवराष्ट्र के केबुर और कुस्थलपुर के धनंजय आदि सारे दक्षिणापथ के राजाओं के पकड़ने और फिर उन्हें मुक्त करने के अनुग्रह से उत्पन्न हुए प्रताप के साथ मिला हुआ था।

(२१) और जिसने रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत, नंदी, बलवर्मा आदि आर्यावर्त्त के अनेक राजाओं को बलपूर्वक नष्टकर अपना प्रभाव बढ़ाया और सारे जंगल के राजाओं को अपना चाकर बनाया।

(२२) जिसका प्रचंड शासन, समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल, कर्तृपुर आदि सीमांत प्रदेशों के राजा और मालव, आर्जुनायन, यौधेय, माद्रक।

(२३-२५) आभीर प्रार्जुन, सनकानीक, काक, खर्परिक आदि सब जातियाँ, सब प्रकार के कर देकर, आज्ञा मानकर और प्रणाम करने के लिए आकर पूरा करते थे, जिसका शांत यश, युद्ध में भ्रष्ट राज्य से निकाले हुए अनेक राजवंशों को फिर प्रतिष्ठित करने से भुवन में फैला हुआ था, और जिसको दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि शक मुरुंड तथा सैंहलक आदि सारे द्वीपों के निवासी आत्म निवेदन किये हुए थे, अपनी कन्याएँ भेंट में देते थे; अपने विषय व भुक्ति के शासन के लिए गरुड़ की राजमुद्रा से अंकित फरमान माँगते थे। इस प्रकार की सेवाओं से जिसने अपने बाहुबल के प्रताप से समस्त पृथ्वी को बाँध दिया था, जिसका पृथ्वी में कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। जिसने सैकड़ों सच्चरितों से अलंकृत, अपने अनेक गुण-गणों के उद्रेक से अन्य राजाओं की कीर्तियों को अपने चरण तल से मिटा दिया था, जो अचिंत्य पुरुष की भाँति साधु के उदय और असाधु के प्रलय का कारण था, जिसका कोमल हृदय भक्ति और प्रणतिमात्र से वश हो जाता था, जिसने लाखों गौएँ दान की थीं।

(२६) जिनका मन कृपण, दीन, अनाथ, आतुरजनों के उद्धार और दीक्षा आदि में लगा रहता था, जो लोक के अनुग्रह का साक्षात् जाज्वल्यमान स्वरूप था, जो कुबेर, वरुण, इन्द्र और यम के समान था, जिसके सेवक अपने भुजबल से जीते हुए राजाओं के विभव को वापिस देने में लगे हुए थे।

(२७) जिसने अपनी तीक्ष्ण और विदग्ध बुद्धि और संगीत-कला के ज्ञान और प्रयोग से इन्द्र के गुरु काश्यप, तुम्बुरु, नारद आदि को लज्जित किया था, जिसने विद्वानों को जीविका देने योग्य अनेक काव्य-कृतियों से अपना कविराज पद प्रतिष्ठित किया था, जिसके अनेक अद्‌भुत उदार चरित्र चिरकाल तक स्तुति करने के योग्य थे।

(२८) जो लोक नियमों के अनुष्ठान और पालन करने भर के लिए ही मनुष्यरूप था, किन्तु लोक में रहनेवाला देवता ही था। जो महाराज श्रीगुप्त का प्रपौत्र, महाराज घटोत्कच का पौत्र और महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त का पुत्र था।

(२९) जो लिच्छिवि-कुल का दौहित्र था, महादेवी कुमारदेवी से उत्पन्न था उस महाराजाधिराज समुद्रगुप्त की सारी पृथ्वी के विजय-जनित अभ्युदय से संसार व्याप्त है। तथा यहाँ से इन्द्र के भवनों तक पहुँचने में ललित और सुखमय गति रखनेवाली कीर्त्ति को बतलानेवाला ऊँचा स्तम्भ पृथ्वी की बाहु के समान स्थित है।

(३०) जिसका यश उसके दान, भुज-विक्रम, प्रज्ञा और शास्त्र-वाक्य के उदय से ऊपर अनेक मार्ग से बढ़ता हुआ,

(३१) तीनों भुवनों को पवित्र करता है। पशुपति (महादेव) की जटाजूट की अंतर्गुहा में रुककर वेग से निकलते और बहते हुए गंगा जल की भाँति,

(३२-३४) यह काव्य उन्हीं स्वामी के चरणों के दास के, जिनके समीप रहने के अनुग्रह से, जिसकी मति उन्मीलित हो गई है, महादण्डनायक ध्रुवभूति के पुत्र (खाद्यत्पाकिक) सांधिविग्रहिक, कुमारामात्य महादंडनायक हरिषेण का रचा हुआ सब प्राणियों के हित और सुख के लिए हो।

(३५) परम भट्टारक के चरणों का ध्यान करनेवाले महादंडनायक तिलभट्ट ने इसको अनुष्ठित किया।

—

[नोट– संख्या से पंक्ति का बोध होता है।]
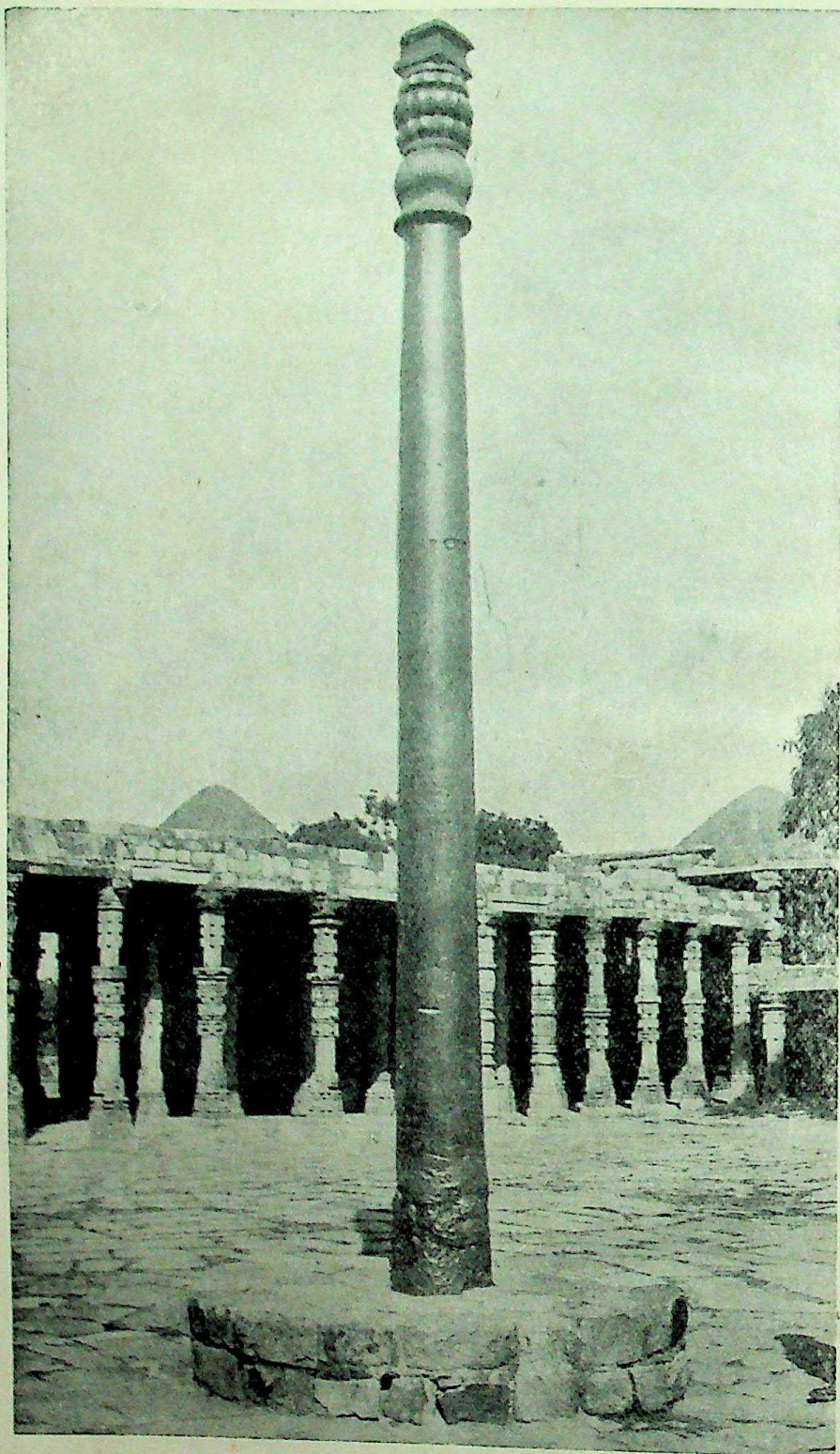
चन्द्रगुप्त द्वितीय का मेहरौली का लौहस्तम्भ

(३)

चन्द्रगुप्त का मेहरौली का लोहस्तम्भ लेख

यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागतान्,
वङ्गेष्वाहववर्तिनोभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे ॥
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका,
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिः वीर्यानिलैर्दक्षिणः ॥ १ ॥
खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्गामाश्रितस्येतरां,
मूर्त्या कर्म्म जितावनी गतवतः कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ ॥
शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महान्ना-
द्याप्युत्सृजति प्राणाशितरिपोः यत्नस्य शेषः क्षितिम् ॥ २ ॥
प्राप्तेन स्वभुजार्जितं च सुचिरं चैकाध्यराज्यं क्षितौ,
चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशीं वक्त्रश्रियं बिभ्रता ॥
तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना भावेन विष्णौ मतिम्,
प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः ॥ ३ ॥

(हिन्दी अनुवाद)

(१) जिसने शत्रुओं को परास्त कर यश प्राप्त किया अथवा जिसके भुजाओं पर तलवार से यश लिखे गये हैं; वङ्ग के युद्ध में जिसने अपने पराक्रम से शत्रुओं का पीछा किया, जो सङ्गठित रूप से उस पर आक्रमण करने के लिए उद्यत थे; जिसने सिन्धु के सात मुखों को पारकर युद्ध में वाह्लीकों पर विजय प्राप्त किया तथा जिसकी शक्ति से दक्षिणी सागर सुगन्धित हो गये हैं।

(२) उसने अतुलनीय उत्साह तथा तेज से शत्रुओं को संपूर्णतः परास्त किया जैसे किसी वन में अग्नि की ज्वाला प्रज्वलित होती हो, यद्यपि राजा ने संसार को त्याग दिया था और अपने सुन्दर तथा दिव्य कर्मों से स्वर्ग में निवास करता था, तो भी यह प्रकट होता है कि वह राजा अभी जीवित है क्योंकि पृथ्वी पर उसका यश अद्यावधि वर्तमान है।

(३) जिस राजा ने अपने बाहुबल से एक छत्र राज्य स्थापित किया, सर्वभौम नरेश बना तथा अधिक काल तक शासन किया; जिसका नाम चन्द्र है और उसके मुख की शोभा चन्द्रमा की छटा के समान है; जिसकी विष्ण भगवान् पर अटल भक्ति है, उस नरेश द्वारा विष्णुपद नामक पर्वत पर विष्णुध्वज स्थापित किया गया था।

सारांश—इस छोटे लेख का मुख्य आशय यह है कि चन्द्र नाम के किसी राजा ने वङ्ग में (समतट) शत्रुओं को परास्त किया तथा सिन्धु को पार पर वाह्लीक (?) तक आक्रमण

किया था। वह विष्णु का भक्त था अतएव विष्णुपद नामक पर्वत पर एक विष्णु का ध्वज स्थापित किया।

इस लेख में तिथि तथा चन्द्र राजा के वंश का वर्णन न प्राप्त होने से यह स्थिर करना कठिन था कि वह कौन सा राजा था जिसने इतना पौरुष दिखलाया। ऐतिहासिक विद्वानों में भारतीय प्राचीन राजवंश के शासकों को चन्द्र से समता बतलाने में गहरा भेद है। मुख्यतः इसमें तीन विभिन्न विचार हैं, जिसका वर्णन क्रम से किया जायगा।

(१) चन्द्र = गुप्त सम्राट् प्रथम चन्द्रगुप्त

इस प्रथम सिद्धान्त के माननेवाले डा० कृष्णस्वामी एय्यंगर* तथा डा० बसाक† महोदय हैं। उनका कथन है कि गुप्त-साम्राज्य का सर्वप्रथम महाराजाधिराज प्रथम चन्द्रगुप्त था। इस लेख में वर्णित 'प्राप्तेन स्वभुजार्जितं च सुचिरं चैकाधिराज्यं क्षितौ' के आधार पर वे अपने कथन की पुष्टि करते हैं। उनका मत है कि समुद्रगुप्त के पिता प्रथम चन्द्रगुप्त ने ही बंगाल आदि देशों को जीता था और यही कारण है कि समुद्र की प्रयाग प्रशस्ति में बंगाल का नाम नहीं मिलता (पिता के विजय करने के कारण पुत्र उसका पहले से ही स्वामी था), इस समता के निर्माण में तीसरा प्रमाण यह भी है कि फ्लीट को इस लेख की लिखावट प्रयाग के लेख से पूर्व की मालूम होती है। परन्तु यदि गुप्त लेख तथा सिक्कों के आधार पर विचार किया जाय तो उपर्युक्त प्रमाण न्यायसंगत नहीं प्रतीत होते। गुप्त लेख यह बतलाते हैं कि प्रथम चन्द्रगुप्त ने केवल थोड़े समय तक राज्य किया (सम्भवतः ई० स० ३२०-३३५), अतएव इस लोह-स्तम्भ लेख में वर्णित 'एकाधिराज्य' (महान् राजा) प्रथम चन्द्रगुप्त के लिए कैसे प्रयोग किया जा सकता है। अभी तक कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता कि समुद्रगुप्त के पिता ने वङ्ग, दक्षिण तथा उत्तर पश्चिम भारत पर विजय प्राप्त किया था। सबसे प्रथम विजय-यात्रा तो उसके पुत्र ने प्रारम्भ की। पुराणों में वर्णित 'अनु गंगा प्रयागं च' आदि से ज्ञात होता है कि उसका राज्य मगध में ही सीमित था। इन सब कारणों से मेहरौली लेख के चन्द्र की समता प्रथम चन्द्रगुप्त से करना असंगत है।

(२) चन्द्र = चन्द्रवर्मन्

सुसानियाँ पर्वत पर एक लेख मिला है‡ जिसके वर्णन से ज्ञात होता है कि पुष्करण (जोधपुर राज्य) नामक स्थान से चन्द्रवर्मन् नाम का राजा पश्चिमी बंगाल तक आया था। उसने सुसानियाँ पर्वत पर अपने आगमन का सूचक लेख लिखवाया। इसी के सदृश वर्णन मेहरौली लेख में भी मिलता है। चन्द्र ने बंगाल जीता था। इस आधार पर बैनर्जी() तथा हरप्रसाद शास्त्री[] ने चन्द्र की समता चन्द्रवर्मन् से की।

* स्टडीज इन गुप्त-हिस्ट्री पृ० १४।
† हिस्ट्री आफ नार्दर्न ईस्टर्न इंडिया पृ० २१?
‡ ए० इ० भा० १३ पृ० १३३।
()" " " १४" ३६।
[]" " " १३" १२।

इनका कथन है कि दोनों (चन्द्र तथा चन्द्रवर्मन्) ने बंगाल में पदार्पण किया था। बहुत सम्भव है कि सुसानियाँ पर्वत के समान चन्द्रवर्मन् ने अपने आगमन के उपलक्ष्य में विष्णुपद पर्वत पर भी विष्णुध्वज स्थापित किया हो क्योंकि दोनों वैष्णव लेख हैं। (सुसानियाँ पर्वत पर विष्णु चक्र है) इन सब कारणों से दोनों विद्वान् चन्द्र की समता एक छोटे राजा चन्द्रवर्मन् से करते हैं। परन्तु इनके विचार से सहमत होने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। पुष्करण राजाओं के लेख के आधार पर चन्द्रवर्मन् का निम्नलिखित वंश वृक्ष तैयार किया गया है—

इस वंश-वृक्ष में वर्णित बन्धुवर्मा गुप्तसम्राट् प्रथम कुमारगुप्त का नायक था। अतएव चन्द्रवर्मन् समुद्रगुप्त का समकालीन प्रकट होता है। यदि मेहरौली लेख के चन्द्र की समता सुसानियाँ लेख के चन्द्रवर्मन् से की जायगी तो यह असम्भव ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के सम्मुख एक पुष्करण का राजा बङ्गाल तथा उत्तर-पश्चिम तक आक्रमण करे। चन्द्रवर्मन् के भ्राता नरवर्मन् का पश्चिमी मालवा में शासन केवल दो पीढ़ी तक रहा, वह भी गुप्तों के अधीनस्थ होकर। ऐसी दशा में चन्द्रवर्मन् कोई बड़ा स्वतन्त्र राजा ज्ञात नहीं होता। पुष्करण के शासकों में लेखों में सुसानियाँ या मेहरौली के विषय में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। सुसानियाँ की प्रशस्ति में चन्द्रवर्मन् 'महाराजा' कहा गया है, परन्तु मेहरौली में चन्द्र के लिए 'अधिराज' शब्द प्रयुक्त है। इन सब प्रमाणों के सम्मुख चन्द्र की समता चन्द्रवर्मन् से नहीं की जा सकती।

(३) चन्द्र = चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

मेहरौली के लेख से चन्द्र की उत्कट विष्णुभक्ति ज्ञात होती है। ऐसी ही भक्ति गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त में भी थी। उसके समस्त लेखों तथा सिक्कों में उसके लिए 'परम भागवत्' की पदवी का उल्लेख मिलता है। इस राजा के लिए चन्द्र उपनाम ताम्बे के सिक्कों में मिलता है कि विक्रमादित्य के लिए विक्रम के सदृश इस उपनाम से द्वितीय चन्द्रगुप्त का बोध होता है।

१. ए० इ० भा० १३ पृ० १३३।
२. फ्लीट - गु० ले० नं० १७।
३. वही ,, १८।
४. चन्द्र = नाग चण्डसेन in कौमुदीमहोत्सव is unteneable.

ऐतिहासिकों को यह मालूम है कि समुद्रगुप्त शासन के पश्चात् रामगुप्त कुछ समय के लिए राजा था। इस निर्बल शासक के कारण बहुत सम्भव है कि बङ्गाल की प्रजा ने गुप्त-सत्ता को हटाने का प्रयत्न किया हो, अतएव चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा उनको शान्त करना आवश्यक था, जिसका उल्लेख मेहरौली के लेख में मिलता है। इस गुप्त नरेश ने दक्षिण-पश्चिम में भी विजय-यात्रा की थी। द्वितीय चन्द्रगुप्त के उत्तर-पश्चिम के आक्रमण का वर्णन इस लेख के अतिरिक्त कालिदास के रघुवंश में भी मिलता है—

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना। रघु० ४।६०

उदयगिरि का लेख तथा चाँदी के सिक्के पर बतलाते हैं कि उसने पश्चिमी भारत को जीता था।

जायसवाल ने वाह्लीक देश की समता बल्ख से बतलाई है। उनका कथन है कि सिन्धु के सप्तमुखानि से पञ्जाब तथा उत्तरी पश्चिमी प्रान्त का तात्पर्य है*। अतएव चन्द्र का आक्रमण बल्ख तक प्रकट होता है।† सबसे अन्त में लिपि के आधार पर भी मेहरौली की लिपि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय की मालूम पड़ती है। विवेचनों के आधार पर चन्द्र की समता द्वितीय चन्द्रगुप्त से करना सर्वथा न्याययुक्त है।

इस लेख में शासक के लिए 'परम भागवत' की उपाधि तथा वंश वर्णन के अभाव से तनिक सन्देह होता है परन्तु पर्याप्त उपर्युक्त सबल प्रमाणों की उपस्थिति में इस सन्देह में कुछ सार नहीं है।

इन तीनों सिद्धान्तों के विवेचन के पश्चात् मेहरौली लोहस्तम्भ के लेख में उल्लिखित चन्द्र की समता गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से ही करना सर्वथा उचित तथा प्रमाणयुक्त है।

(४)

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजकुमारी प्रभावती गुप्ता का दान-पत्र

वाकाटक ललामस्य
(क्र) म-प्राप्त नृपश्रियः।
जनन्या युवराजस्य,
शासनं रिपु शास (न) म् ॥

सिद्धम्। जितं भगवता स्वस्तिनान्दिवर्धनादासीद् गुप्तादिरा (जो) (म) हा (राज) श्रीघटोत्कचः तस्य सत्पुत्रो महाराज श्री चन्द्रगुप्तः तस्य सत्पुत्रोऽनेकाश्वमेधयाजी लिच्छिविदौहित्रो महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्तः तत्सत्पुत्रः तत्पादपरिगृहीतः पृथिव्यामप्रतिरथः सर्वराजोच्छेत्ता चतुरुदधिसलिलस्वादितयशानेकगोहिरण्यकोटिसहस्रपदः

* जे० बी० ओ० आर० एस० मार्च १९३२।

पेरिप्लस ग्रन्थ का कर्ता (ई स० ८०) ने भी उल्लेख किया कि सिन्धु के सात मुख थे (पेरिप्लस आफ एरिथ्रियन सी, स्काफ अनुवादित सेक्शन ४२-६६)।

† कुछ विद्वान वाहिक को वाल्हिक पढ़ा है। डा० भण्डारकर ने रामायण के आधार पर इसे व्यास नदी के किनारे माना है। अतः वाल्हिक पूर्वी पंजाब में स्थित था।

भितरी की राजमुद्रा (लखनऊ-संग्रहालय)

परम भागवतो महाराधिराज श्रीचन्द्रगुप्तः तस्य दुहिता धारणसगोत्रा नागकुलसंभूतायां श्रीमहादेव्यां कुबेरनागायामुत्पन्नोभयकुलअलंकारभूतात्यंतभगवद्भक्ता वाकाटकानां महाराजा श्रीरुद्रसेनास्याग्रमहिषी युवराज श्रीदिवाकर सेन-जननी श्रीप्रभावती गुप्ता............।

(हिन्दी-अनुवाद)

वाकाटक (वंश) के भूषण, राजलक्ष्मी को वंशानुक्रम से पानेवाले युवराज की माता का, शत्रुओं से भी माना जानेवाला, यह शासन (हुक्म-नामा) है।

सिद्धि हो। भगवान् की जय। कल्याण हो, नांदिवर्धन स्थान से गुप्त आदिराजा व महाराजा घटोत्कच थे। उसका सत्पुत्र महाराजा श्रीचन्द्रगुप्त, उसका सत्पुत्र अनेक अश्वमेध यज्ञ करनेवाला, लिच्छिवियों का दौहित्र महादेवी कुमारदेवी से उत्पन्न महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्त, उसका सत्पुत्र उसके द्वारा स्वीकृत किया हुआ, पृथिवी में जिसका सामना करनेवाला कोई न था, सब राजों का नष्ट करनेवाला, चारों समुद्रों के जल तक जिसका यश फैला था, अनेक गौ और सुवर्ण का कोटि सहस्र देनेवाला, परम विष्णुभक्त महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त, उसकी पुत्री धारण गोत्रवाली नागकुल की श्रीमहादेवी कुबेरनागा से उत्पन्न दोनों कुलों की भूषण अत्यंत भगवद्भक्ता वाकाटक महाराज श्रीरुद्रसेन की महाराणी युवराज श्रीदिवाकरसेन की माता श्रीप्रभावती गुप्ता।

(५)

कुमारगुप्त द्वितीय का भितरी राज-मुद्रा-लेख

महाराजाधिराज कुमारगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्यां अनन्तदेव्यां उत्पन्नो महाराजाधिराज श्रीपुरगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्रीवत्सदेव्यां उत्पन्नो महाराजाधिराज श्रीनरसिंहगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्रीमतीदेव्यामुत्पन्नो परमभागवतो महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तः।

(हिन्दी-अनुवाद)

महाराजाधिराज कुमारगुप्त के पुत्र पुरगुप्त उनके उत्तराधिकारी थे जो महादेवी अनन्तदेवी के गर्भ से पैदा हुए थे। पुरगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त वत्सदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुए तथा उसके (पुरगुप्त) पश्चात् राजसिंहासनारूढ़ हुए [तत्पादानुध्यातो] उसका पुत्र परम भागवत कुमारगुप्त श्रीमतीदेवी के पेट से पैदा हुआ था।

नोट—मुद्रा के ऊपरी भाग में गरुड़ की मूर्ति है जिससे यह वैष्णव लेख माना जाता है। तत्पादानुध्यातो का अर्थ अमुक व्यक्ति के उत्तराधिकारी मानते हैं, परन्तु इसका प्रयोग सूक्ष्म विचार से नहीं माना जा सकता।

(६)

स्कन्दगुप्त का भितरी स्तम्भ-लेख

सिद्धम् । सर्वराजोच्छेतुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसो धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य कृतान्तपरशोः न्यायागतानेकगोहिरण्यकोटिप्रदस्य चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुः महाराज श्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराज श्रीघटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छिवीदौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्तस्यपुत्रः तत्परिगृहीतो महादेव्यां दत्तदेव्यामुत्पन्नः स्वयमप्रतिरथःपरम भागवतो महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तः तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्याम् ध्रुवदेव्यामुत्पन्नः परम भागवतो महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तः तस्य ।

प्रथितपृथुमतिस्वभावसक्तेः,
पृथुयशसः पृथिवीपतेः पृथुश्रीः ।
पितृपरिगतपादपद्मवर्ती,
प्रथितयशाः पृथिवीपतिः सुतोऽयम् ॥ १ ॥
जगति भुजबलाड्यो (ढ्यो) गुप्तवंशैकवीरः,
प्रथितविपुलधामा नामतः स्कन्दगुप्तः ।
सुचरि चरितानां येन वृत्तेन वृत्तम्
न विहितममलात्मा तामधीदा विनीतः ॥ २ ॥
विनयबल सुनीतैः **विक्रमेण क्रमेण**
प्रतिदिनमभियोगादीप्सितं येन लब्ध्वा ।
स्वभिमतविजिगीषाप्रोद्यतानां परेषाम्
प्रणिहित इव लेभे संविधानोपदेशः ॥ ३ ॥
विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा ।
समुदितबलकोशान् पुष्पमित्रांश्च जित्वा
क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः ॥ ४ ॥
प्रसभमनुपमैः विध्वस्तशास्त्रैः प्रतापै-
विन (...) मु (......) न्तातिशौर्यैर्निरूढम् ।
चरितममलकीर्तेः गीयते यस्य शुभ्रम्
दिशि दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः ॥ ५ ॥
पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीम्
भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः ।
जितमिव परितोषान्मातरं सास्रनेत्राम्
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः ॥ ६ ॥
स्वैर्दण्डै (...) रत्यु...) प्रचलितं वंशम्प्रतिष्ठाप्य यो
बाहुभ्यामवनीं विजित्य हि जितेष्वार्त्तेषु कृत्वा दयाम् ।
नोत्सिक्तो न च विस्मितः प्रतिदिन संवर्द्ध मानद्युतिः
गीतैश्च स्तुतिभिश्च वन्दकजनो यं प्रापयत्यार्यताम् ॥ ७ ॥

हूर्णैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता
भीमावर्त्तकरस्य शत्रुषु शरा (................)।
(............) विरचितप्रख्यापितो (...) ई (...)।
(...) न द्योति (...) नभीषु लक्ष्यत इव श्रोत्रेषु गंगाध्वनिः ॥८॥
स्वपितुः कीर्ति (.........) (...............)
(...................) (................) ॥६॥
कर्तव्या प्रतिमा काचित्प्रतिमां तस्य शार्ङ्गिणः।
सुप्रतीतश्चकारेमाम् यावदाचन्द्रतारकम् ॥१०॥
इह चैनं प्रतिष्ठाप्य सुप्रतिष्ठितशासनः।
ग्राममेनं स विदधे पितुः पुण्याभिवृद्धये ॥११॥
अतो भगवतो मूर्तिरियं यश्चात्र संस्थितः।
उभयं निर्दिदेशासौ पितुः पुण्याय पुण्यधीः ॥१२॥ इति ॥

७

आदित्यसेन का अपसद शिलालेख

आसीद्दन्तिसहस्रगाढकटको विद्याधराध्यासितः।
सद्वंशः स्थिर उन्नतो गिरिरिव **श्रीकृष्णगुप्तो** नृपः ॥
दृप्तारातिमदान्धवारणघटाकुम्भस्थलीः क्षुन्दता।
यस्यासंख्यरिपुप्रतापजयिना दोष्णा मृगेन्द्रायितम् ॥ १ ॥
सकलः कलङ्करहितः क्षततिमिरस्तोयधेः शशाङ्क इव
तस्मादुदपादि सुतो देवः श्री **हर्षगुप्त** इति ॥ २ ॥
यो योग्याकालहेलावनतदृढधनुर्भीमबाणौघपाती।
मूर्तैः स्वस्वामिलक्ष्मीवसतिविमुखितैरी क्षितः सास्रपातम् ॥
घोराणामाहवानां लिखितमिव जयं श्लाघ्यमाविर्दधानो।
वक्षस्युद्दामशस्त्रव्रणकठिनकिणग्रन्थिलेखाच्छलेन ॥ ३ ॥
श्री **जीवितगुप्तो**ऽभूत्क्षितीशचूडामणिः सुतस्य।
यो दृप्तवैरिनारीमुखनलिनवनैकशिशिरकरः ॥ ४ ॥
मुक्तामुक्तपयः प्रवाहशिशिरासूत्तुङ्गतालीवन-
भ्राम्यद्दन्तिकरावलूनकदलीकाण्डासु वेलास्वपि ॥
श्च्योतत्स्फारतुषारनिर्झरपयःशीतेऽपि शैले स्थिता-
न्यस्योच्चैर्द्विपतो मुमोच न महाघोरः प्रतापज्वरः ॥ ५ ॥
यस्यातिमानुषं कर्म दृश्यते विस्मयाज्जनौघेन।
अद्यापि कोशवर्धनतटात्प्लुतं पवनजस्येव ॥ ६ ॥
प्रख्यातशक्तिमाजिषु पुरःसरं **श्रीकुमारगुप्त**मिति।
अजनयदनेकं रा नृपो हर इव शिखिवाहनं तनयम् ॥ ७ ॥

उत्सर्पद्वातहेलाचलितकदलिकावीचिमालावितानः ।
प्रोद्यद्धूलीजलौघभ्रमितगुरुमहामत्तमातङ्गशैलः ॥
भीमः श्रीशानवर्मक्षितिपतिशशिनः सैन्यदुग्धोदसिन्धु-
र्लक्ष्मीसंप्राप्तिहेतुः सपदि विमथितो मन्दरीभूय येन ॥ ८॥
शौर्यसत्यव्रतधरो यः प्रयागगतो घने ।
अम्भसीव करीषाग्नौ मग्नः स पुष्पपूजितः ॥ ९ ॥
श्री दामोदरगुप्तोऽभूत्तनयः तस्य भूपतेः ।
येन दामोदरेणैव दैत्या इव हता द्विषः ॥ १० ॥
यो मौखरेः समितिषूद्धतहूणसैन्य-
वल्गत्घटाविघटयन्नुरुवारणानाम् ॥
सम्मूर्च्छितः सुरवधूर्वरयन्ममेति ।
तत्पाणि पङ्कजसुखस्पर्शाद्विबुद्धः ॥ ११ ॥
गुणवद्द्विजकन्यानां नानालङ्कारयौवनवतीनाम् ।
परिणायितवान्स नृपः शतं निसृष्टाग्रहाराणाम् ॥ १२ ॥
श्री महासेनगुप्तोऽभूत्तस्मा द्वीराग्रणीः सुतः ।
सर्ववीरसमाजेषु लेभे यो धुरि वीरताम् ॥ १३ ॥
श्रीमत्सुस्थितवर्मयुद्धविजयश्लाघापदाङ्कं मुहुः ।
यस्याद्यापि विबुद्धकुन्दकुमुदत्तुग्णाच्छहारतम् ॥
लौहित्यस्य तटेषु शीतलतलेषूत्फुल्लनागद्रुम-
च्छायासुप्तविबुद्धसिद्धमिथुनैः स्फीतं यशो गीयते ॥ १४ ॥
वसुदेवादिव तस्माच्छ्रीसेवनशोभितचरणयुगः
श्रीमाधवगुप्तोऽभून्माधव इव विक्रमैकरसः ॥ १५ ॥
........नुस्मृतो धुरि रणे श्लाघावतामग्रणीः ।
सौजन्यस्य निधानमर्थनिचयत्यागोद्धुराणां वरः ॥
लक्ष्मीसत्यसरस्वतीकुलगृह धर्मस्य सेतुर्दृढः ।
पूज्यो ! नास्ति स भूतले............सद्गुणैः ॥ १६ ॥
चक्रं पाणितलेन सोऽप्युदवहत्तस्यापि शार्ङ्गं धनुः ।
नाशायासुहृदां सुखाय सुहृदां तस्याप्यसिर्नन्दकः ॥
प्राप्ते विद्विषतां वधे प्रतिहत्...तेनाप.........।
.......................न्या प्रणेमुर्जनाः ॥ १७ ॥
आजौ मया विनिहिता बलिनो द्विषन्तः ।
कृत्य न मेऽस्त्यपरमित्यवधार्य वीरः ॥
श्रीहर्षदेवनिजसङ्गमवाञ्छया च ।
..........................॥ १८ ॥
श्रीमान्बभूव दलितारिकरीन्द्रकुम्भ-
मुक्तारजः पटलपांसु मण्डलाग्रः ॥

आदित्यसेन इति तत्तनयः क्षितीशः।
चूडामणिर्द.........................॥ १९ ॥
...............मागत मरिध्वंसोत्थमाप्तं यशः।
श्लाघ्यं सर्वधनुष्मतां पुर इति श्लाघां परां बिभ्रति ॥
आशीर्वादपरम्पराचिरसकृद्.................।
..........................यामास ॥ २० ॥
आजौ स्वेदच्छलेन ध्वजपटशिखया मार्जतो दानपङ्कं।
खड्गं क्षुण्णेन मुक्ता शकल सिकति...... ॥
.... मत्तमातङ्गघातं।
तद्गन्धाकृष्टसर्पद्बहलपरिमलभ्रांतमत्तालिजालम् ॥ २१ ॥
आबद्धभीमविकटभ्रुकुटीकठोर—
सङ्ग्राम..................................
..............................वल्लभभृत्यवर्ग-
गोष्ठीषु पेशलतया परिहासशीलः ॥ २२ ॥
सत्यभर्तृव्रता यस्य मुखोपधानतापसी
परिहास..............................॥ २३ ॥
.............ज्ञः सकलरिपुबलध्वंसहेतुर्गरीया
न्निस्त्रिंशोत्खातघातश्रमजनितजडोऽप्यूर्जितस्वप्रतापः।
युद्धे मत्तेभकुम्भस्थल.....................
......श्वेतातपत्रस्थगितवसुमतीमण्डलो लोकपालः ॥ २४ ॥
आजौ मत्तगजेन्द्रकुम्भदलनस्फीतस्फुरद्दोर्युगो
ध्वस्तानेकरिपुप्रभाव.................यशोमण्डलः।
न्यस्ताशेषनरेन्द्रमौलिचरणस्फारप्रतापानलो
लक्ष्मीवान्समराभिमानविमलप्रख्यातकीर्तिर्नृपः ॥ २५ ॥
येनेयं शरदिन्दुबिम्बधवला प्रख्यातभूमण्डला
लक्ष्मी सङ्गमकांक्षया सुमहती कीर्तिश्चर कोपिता।
याता सागरपारमद्भुततमा सापत्न्यवैरादहो
तैनेदं भवनोत्तमं क्षितिभुजा विष्णोः कृते कारितम् ॥ २६ ॥
तज्जनन्या महादेव्या श्रीमत्या **कारितो मठः**।
धार्मिकेभ्यः स्वयं दत्तः सुरलोकगृहोपमः ॥ २७ ॥
शङ्खेन्दुस्फटिकप्रभाप्रतिसमस्फारस्फुरच्छीकरं
नक्रक्रान्तिचलत्तरङ्गविलसत्पक्षिप्र नृत्यत्तिमि।
राज्ञा खानितमद्भुतं सुपयसा पेपीयमानं जनै
स्तस्यैव प्रियभार्यया नरपतेः **श्रीकोणदेव्या सरः** ॥ २८ ॥
यावच्चन्द्रकला हरस्य शिरसि श्रीः शार्ङ्गिणो वक्षसि
ब्रह्मास्ये च सरस्वती कृत...................।

भोगे भूभुजगाधिपस्य च तद्विग्रावद् घनस्योदरे
तावत्कीर्तिमिहातनोति धवला**मादित्यसेनो** नृपः ॥ २६ ॥
सूक्ष्म शिवेन गौडेन प्रशस्तिर्विकटाक्षरा ।
..............मिता सम्यग् धार्मिकेण सुधीमता ॥ ३० ॥

(८)

द्वितीय जीवितगुप्त का देव-वरनार्क स्तम्भलेख

नमः स्वस्ति शक्तित्रयोपात्त जयशब्देन महानौहास्त्यश्वपत्तिसम्भारदुर्निवाराजय, स्कन्धावारात् गोमतिकोट्टकसमीपवासकं।......**श्रीमाधवगुप्तः** तस्यः पुत्रः तत्पादानुध्यातो परमभट्टारिकायां राज्ञां महादेव्यां श्रीमत्यामुत्पन्नः परम भावगत **श्रीआदित्यसेनदेव** तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो परमभट्टारिकायां राज्ञां महादेव्यां **श्रीकोणदेव्या**मुत्पन्नः परम माहेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर **श्रीदेवगुप्तदेवः** तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो परम भट्टारिकायां राज्ञां महादेव्यां श्रीकमलादेव्यां उत्पन्नः परम माहेश्वर परम भट्टारक महा-राजाधिराज परमेश्वर **श्रीविष्णुगुप्तदेवः** तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो परम भट्टारिकायां राज्ञां महादेव्यां श्री इज्जादेव्यामुत्पन्नः परम...परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री **जीवितगुप्तदेव** कुशलीनगभुरक्तौ वालवी विषयैक श्रीवा ? वो पद्रलिक (ला) न्त शयाति वारुणिका ग्राम गोष्ठ नकुल तलवाटक दूत सीमाकर्मकमद्या... ... ... टक राजपुत्र राजा-मात्य महात्तटिक महादण्डनायक महाप्रतिहार महा सा ... ... प्रभातस... ... ... कुमारामात्य राजस्थानीयोपरिक ... ... धिक चौराधरणिक दाण्डिक दण्डपाशिक... ... ...क... ... ...शणिवलव्यायतकिशोरवाटक ग्राम ... ... मणिकग ... पटिकर्म ... ...रसक ... ...तास्मत्पादप्रसादोपजीविनः च प्रतिवासिनस च ब्राह्मणोत्तर महत्तरक कुत्तीपुर .... विज्ञापित श्रीवरुणवासि भट्टारक प्रतिबद्ध भोजक सूर्य-मित्रेण उपरिलिखित ....ग्रमाधि संयुक्त ... परमेश्वर श्री बालादित्यदेवेन स्वशासनेन भागव श्रीवरुणवासि भट्टारक........... क ... ... व परिवाटक...... भोजक हंसमित्रस्य समापतया यथा कलाध्यासिभिश्च एवं परमेश्वर श्री**सर्ववर्मन** .... भोजकं ऋषिमित्र...यतकं एवं परमेश्वर **श्रीअवन्तिवर्मन** पूर्वदत्तक अवलम्ब्य............ एवं महाराजाधिराज परमेश्व............शासनदानेन भोजक दूर्धमित्रस्यानुमोदित...... तेन.........भुज्यते तदहं किमपि.........एवं.........मतिमान् ....अनुयामो-दितमिति सर्व समज्ञापना......इता.........पभु............वरुणवास्यायतनं तदनुदत्तम् ....त्यक्त.........**सोद्रंग सोपरिकरं सदा सापराधपञ्च**... ......

कुमारगुप्त का करमदण्डा का लेख

कुमारगुप्त का करमदण्डा का लेख

१—नमो महादेवाय महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपादा ।

२—नुध्यातस्य चतुन्धु (जरु) दीध सलिला स्वादित यशस्ते महाराज्ञा ।

३—धिराज श्रीकुमारगुप्तस्य विजयराज्यं संवत्सरे शेतशप्तदेशान्तरे ।

४—कार्तिकमास दशमदिवसे स्यान्दिवसपूर्व्वायां (च्छन्दोग्या चार्य्याश्च) वाजि ।

५—सगोस कुरमव्य भद्दस्य पुत्रो विष्णु पालित भदतस्य पुत्रो महाराज ।

६—धिराजा श्रीचन्द्रगुप्तस्य मन्त्री कुमारामात्यशिशखर स्वाम्यभूतस्य पुत्रः ।

७—पृथिवीषेयो महाराजधिराज श्रीकुमारगुप्तस्य मन्त्री कुमारामात्योन ।

८—न्तरं च महाबलाधिकृतः भगवतो महादेवस्य पृथ्वीश्वर ।

९—इत्येवं समाख्यातस्यास्यैव भगवतो यथा कर्त्तव्य धार्मिक कर्मणा पाद शुश्रूष साम्य भगवच्छै ।

१०—प्लेश्वरस्वामि महादेव आयोध्यक नाना गोत्र चरण तपः ।

११—स्वाध्याय मन्त्रसूत्रभाष्य प्रवचन पारग आरद्धु-द-स-भ्-द् देवद्रोणां ।

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(१०)

गुप्त-वंश-वृक्ष
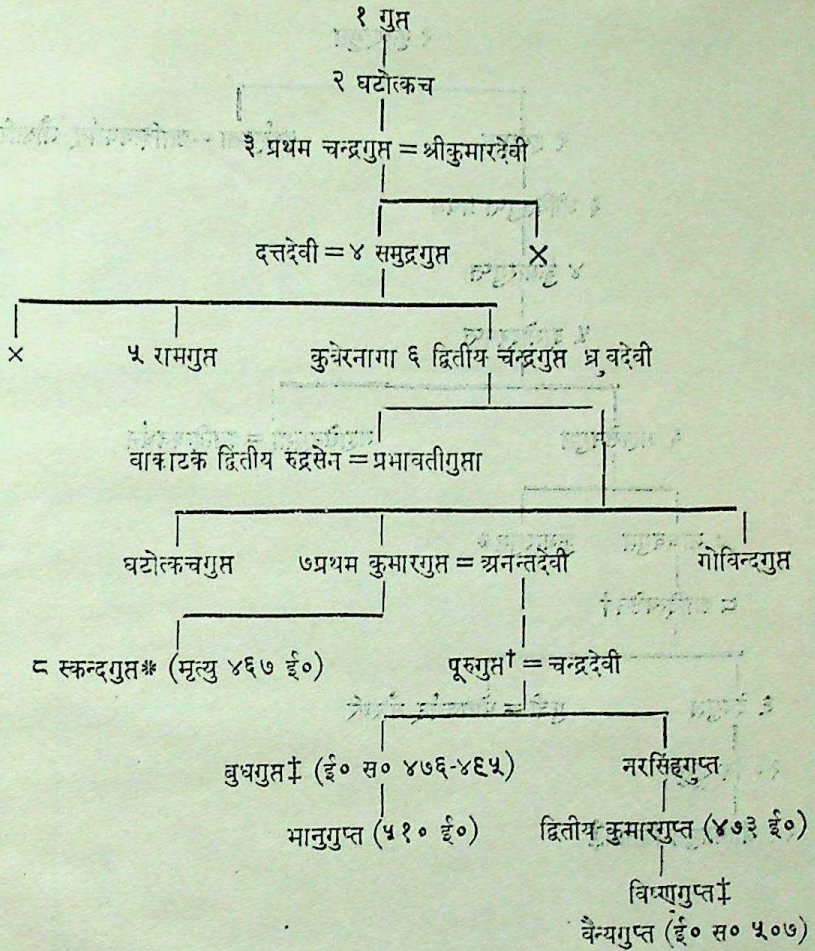
* सिद्धम्। सर्वराजोच्छेत्तुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसो धनदवरुणेंद्रांतकसमस्य कृतांतपरशोः न्यायगतानेकगोहिरण्यकोटिप्रदस्य चिरोत्सन्नश्वमेधाहर्तुः महाराज श्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराज श्रीघटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्तस्य पुत्रः तत्परिगृहीतो महादेव्यां दत्तदेव्यामुत्पन्नः स्वयमप्रतिरथः परमभागवतो महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त स्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातोमहादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नः परमभागवतो महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तः तस्य—सुतोऽयम्—गुप्तवंशैकवीर, प्रथितविपुलधामा नामतः स्कन्दगुप्तः।– फ्लीट – गु० ले० नं १२ तथा १३।

† भितरी की राजमुद्रा।

‡ नालंदा की मुद्रायें।

नोट—इन लेखों में गुप्त-वंश-वृक्ष का पूरा विवरण मिलता है।

नोट—चिह्न (=) से विवाह का संकेत किया गया है।

(११)

मागध-गुप्त-वंश-वृत्त

---

* हर्षचरित उच्छ्वास ४ ।

† मफसद का लेख ।
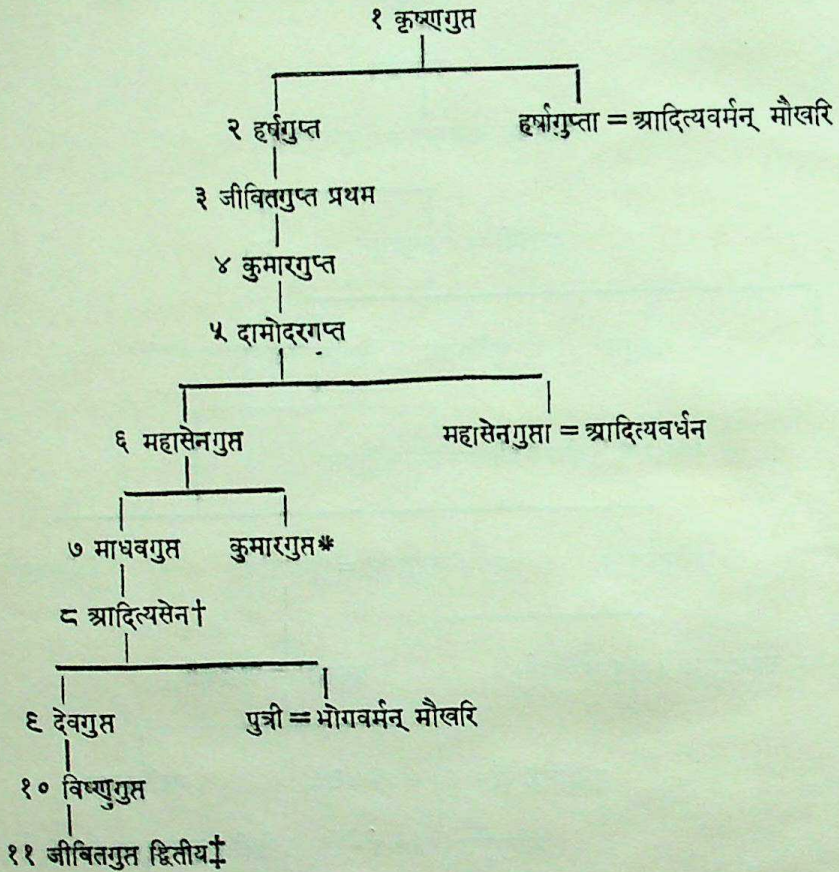
‡ देव-बरनार्क की प्रशस्ति ।

नोट—चिह्न (=) से गुप्तवंश की राजकुमारी का विवाह उन व्यक्तियों से संकेत किया गया है ।

(१२)

उत्तरी भारत के राजाओं की समकालीनता

कामरूप	वर्धन	मागध गुप्त	मौखरि	गौड़
		कृष्णगुप्त	हरिवर्मन्	
		हर्षगुप्त	आदित्यवर्मन्	
		प्रथम जीवितगुप्त	ईश्वरवर्मन्	
		कुमारगुप्त	ईशानवर्मन्	
		दामोदरगुप्त	सर्ववर्मन्	
	आदित्यवर्धन + प्रभाकरवर्धन	महासेनगुप्त		
भास्करवर्मन्	हर्षवर्धन	माधवगुप्त	ग्रहवर्मन्	शशांक

(१३)

गुप्त-युग का तिथि-क्रम

गुप्त-संवत्	ई० सन्	ऐतिहासिक घटना	टिप्पणी
	२७१ के आस पास	महाराज गुप्त का राज्य-काल	
	२९० के निकट	महाराज घटोत्कच का समय	
	३०८ के लगभग	प्रथम चन्द्रगुप्त का लिच्छिवि-कुल में कुमार देवी से विवाह	
गु० स० का प्रथम वर्ष	३२०	प्रथम चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण	
	३२८–२९	समुद्रगुप्त का राज्याभिषेक	
९	३३०–३९ के निकट	आर्यावर्त की विजय-यात्रा	
	३४७–५० के लगभग	दक्षिणापथ की विजय-यात्रा	
	३५० के समीप	अश्वमेध यज्ञ	
	३६० के आसपास	सिंहल के राजा मेघवर्ण के राजदूत का समुद्रगुप्त की राजसभा में उपस्थित होना	
		रामगुप्त का शासन	समुद्र तथा द्वितीय चन्द्र के बीच में रामगुप्त शासन करता था।
	३८० के लगभग	द्वितीय चन्द्रगुप्त का राज्यारम्भ	
	३९५ के समीप	पश्चिम भारत पर विजय	
८२	४०१	उदयगिरि का शिलालेख	
	४०५–४११	गुप्त साम्राज्य में फ़ाहियान की यात्रा	फ़ाहियान बौद्ध यात्री था जो चीन से भारत में भ्रमण करने आया था।
	४०५ के समीप	द्वितीय चन्द्रगुप्त की पश्चिमोत्तर प्रांतों पर विजय	
८८	४०७	गढ़वा का शिलालेख	
९०	४०९	पश्चिम भारत में प्रचलित शैली के चाँदी के सिक्कों का प्रचार	काठियावाड़ तथा मालवा विजय करने पर चाँदी के सिक्कों को गुप्तों ने चलाया।
९३	४१२	साँची का शिलालेख	
९४	४१५ के समीप	प्रथम कुमारगुप्त का राज्यारम्भ	
९६	४१५	बिलसद का लेख	
९८	४१७	गढ़वा का लेख	
११३	४३२	मथुरा का लेख	
११७	४३६	करमदण्ड का लेख	यह लेख शिव-लिङ्ग के अधोभाग में खुदा है।
१७७	४३६	मंदसोर का लेख	मालव संवत् ४९३ सूर्य-मन्दिर का निर्माण

गुप्त संवत्	ई० सन्	ऐतिहासिक घटना	टिप्पणी
१२१, १२४, १२८	४४०, ४४३, ४४७	चाँदी के सिक्कों पर उत्कीर्ण तिथियाँ	
१२६	४४८	चाँदी के सिक्के	
,,	,,	मनकुवार का लेख	बुधमित्र द्वारा बुद्ध-प्रतिमा की स्थापना
,,	,,	दामोदरपुर का ताम्रपत्र	
,,	,,	हूण जाति का आक्सस नदी के तटस्थ प्रान्तों पर अधिकार	
१३०	४४६	चाँदी के सिक्के	
	४५० के आस पास	कुमार के शासन में पुष्यमित्रों से युद्ध	
१३५	४५४, ४५५	चाँदी के सिक्के	
	४५५	स्कन्दगुप्त का हूणों से युद्ध	
,,	,,	स्कन्दगुप्त का शासन आरंभ	'लक्ष्मीः स्वयं वरयांचकार' (जूनागढ़ लेख)
१३७	४५६	जूनागढ़ का लेख गिरनार में सुदर्शन झील के बाँध का जीर्णोद्धार	
१३८	४५७	वहाँ विष्णु-मन्दिर की स्थापना	
१४१	४६०	कहौम का लेख	
१४४, १४५	४६३, ४६४	चाँदी के सिक्के	
१४६	४६५	इन्दौर का शिलालेख [जि० बुलंदशहर]	
१४८	४६७	चाँदी के सिक्के पूरुगुप्त | नरसिंहगुप्त |	स्कन्दगुप्त के शासन की अंतिम तिथि पूरुगुप्त तथा नरसिंहगुप्त का शासन ४६७ तथा ४७३ के बीच रहा।
१५४	४७३	द्वितीय कुमारगुप्त	वर्षशते गुप्तानां स चतुःपंचाशदुत्तरे भूमिं शासति कुमारगुप्ते (सारनाथ)
,,	,,	दशपुर (मालवा) में सूर्य-मंदिर का संस्कार	मालव संवत् ५२६
१५७	४७६	बुधगुप्त का शासन आरम्भ	गुप्तानां समतिक्रांते सप्तपंचाशदुत्तरे शते समानां पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति (सारनाथ) दामोदरपुर ताम्रपत्र
१६५	४८४	एरण का शिलालेख परमदैवत परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री बुधगुप्त का पाण्ड्रवर्धन भुक्ति (उत्तरी बङ्गाल) पर अधिकार	

गुप्त-संवत्	ई० सन्	ऐतिहासिक घटना	टिप्पणी
१७५	४६५	बुधगुप्त के मयूरांकित चाँदी के सिक्के (संवत् समेत) बुधगुप्त के शासन का अंत	'विजितावनिरवनिपतिः श्री बुधगुप्तो दिवं जयति' (एलन-गु० मुद्रा पृ० १५३) ये सिक्के मध्यभारत के शैली के थे जिसको गुप्त-नरेशों ने पीछे प्रचलित किया
१८८	५०७	वैन्यगप्त का शासन गुणैधर लेख की तिथि	
	५००,५०२	हूण तोरमाण का मालवा तथा मध्यभारत पर अधिकार	मयूरांकित गप्त चाँदी के सिक्कों के समान तोरमाण ने भी मुद्रा चलाया था।
१९१	५१०	भानुगुप्त का एरण में युद्ध	
१५६,१६३	४७५,४८२	गुप्तों के अधीनस्थ	
१९१,२०९	५१०,५२८	राजाओं के खोह लेख	
२१४	५३३	दामोदरपुर का पाँचवाँ ताम्र-पत्र	
	५०२,५४२	मिहिरकुल	
	५२८ के समीप	यशोधर्मा ने मिहिरकुल को परास्त किया	
	५३२	यशोधर्मा का मन्दसोर स्तम्भ-लेख	मालव संवत् ५८६

———

(१४)

मागध गुप्त युग का तिथि-क्रम

गुप्त संवत्	ई० सन्	ऐतिहासिक घटना	टिप्पणी
	५३५-५४५	कृष्णगुप्त | हर्षगुप्त | जीवितगुप्त प्रथम	सम्भवतः इन्हीं दस वर्षों के भीतर इन तीनों राजाओं का शासन समाप्त हो गया।
	५४५ के समीप	कुमारगुप्त का शासन आरम्भ	
	५५० के लगभग	मौखरि राजा ईशानवर्मा का कुमारगुप्त के हाथों परास्त होना	५५४ ई० सन् (हरहा लेख) से पूर्व ही यह युद्ध हुआ होगा।
	५६० के आसपास	सर्ववर्मन के द्वारा दामोदरगुप्त का परास्त होना	
	५७० के लगभग	महासेन गुप्त	हर्षवर्धन के पिता प्रभाकरवर्धन के समकालीन
		माधवगुप्त	हर्षवर्धन का मित्र
	६४१ के समीप	हर्ष द्वारा मगध का सिंहासन प्राप्त	
	६७२	आदित्यसेन का शाहपुर का लेख	हर्ष-संवत् ६६
	६७५ के समीप	अपसद का लेख	प्रारम्भ से आदित्यसेन तक का वंश-वृत्त
	६८०	देवगुप्त उत्तरी भारत का शासक	'सकलोत्तरापथनाथ'
	७१५	विष्णु गुप्त का शासन	
	७२४	द्वितीय जीवितगुप्त का अंत	

———